बौद्ध दर्शन

और

वेदान्त

(प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी. फिल्. की उपाधि के लिये स्वीकृत थीसिस का मूललेखककृत हिन्दी रूपान्तर)

लेखक—

डा० चन्द्रधर शर्मा

एम० ए०, डी० फिल्०, एल्एल्० बी०,

साहित्यरत्न, शास्त्री,

अध्यापक, दर्शन विभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

स्टूडेन्ट्स फ्रेन्ड्स

इलाहाबाद : बनारस

विशुद्धबुद्धमुक्तानां समन्तस्फुरितत्विषाम् ।
तेषामत्र कथा येषां "कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव" ॥

मूल्य ३॥)

सन् १९४९

प्रकाशक—
स्टूडेन्ट्स फ्रेन्ड्स
बनारस ।

मुद्रक—
परेशनाथ घोष
सरला प्रेस, बनारस ।

वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे 'थीसिस' का जिस पर मुझे सन् १९४७ में प्रयाग विश्वविद्यालय से डी॰ फिल्॰ की उपाधि दी गई थी, स्वतन्त्र हिन्दी-रूपान्तर है। इस ग्रन्थ में मैंने महायान बौद्ध मत और अद्वैत वेदान्त का ही विवेचन किया है क्योंकि ये दोनों भारतीय दर्शन के चरम उत्कर्ष के प्रतीक हैं और इन दोनों का ही महत्वपूर्ण सन्तुलन संभव है। यह ग्रन्थ मेरे प्रायः समस्त उपलब्ध महायान और अद्वैत के मूल ग्रन्थों के अध्ययन पर निर्भर है और इसमें प्रतिपादित विचारों का उत्तरदायित्व मुझी पर है।

इस ग्रन्थ में बौद्ध और वेदान्त दर्शनों पर मौलिक रीति से विवेचनात्मक, संतुलनात्मक और आलोचनात्मक प्रकाश डाला गया है एवं इन दर्शनों के विषय में प्रचलित अनेक भ्रान्त विचारों का समूल उच्छेद किया गया है। प्रायः माना जाता है कि शून्यवाद 'शून्य' है, विज्ञानवाद वैयक्तिक मनोविज्ञानबाद है, नैरात्म्यवाद 'आत्मा' का निराकरण है,क्षणभंगवाद प्रत्येक वस्तु को क्षणिक बतलाता है आदि आदि। ऐसे विचारों को भ्रान्त सिद्ध करके इनके वास्तविक अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया है।

कुछ विद्वानों ने बौद्ध और वेदान्त दर्शनों की समानतायें और भिन्नतायें बतलाई हैं। इनमें कोई बौद्ध दर्शन का पक्ष लेते हैं और कोई वेदान्त का। दोनों दर्शनों का विरुद्ध समझने को भ्रान्ति अभी तक रूढ है। कुछ इने गिने विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि इन दोनों दर्शनों को विरुद्ध न समझ कर एक ही विचारधारा के पोषक समझना चाहिये। किन्तु यह विचार विचारमात्र ही रहा और इन दर्शनों के मूलग्रन्थों के आधार पर विकसित और सिद्ध न हो सका। इसे इस प्रकार विकसित और सिद्ध करने का प्रयत्न प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ है।

यह सम्यक् सिद्ध किया गया है कि बौद्ध और वेदान्त दर्शनों को **दो विरुद्ध दर्शन** न समझकर **एक ही दर्शन के विकास के विभिन्नरूप**

समझना चाहिये। कुछ महत्वपूर्ण भेद होते हुये भी ये दोनों दर्शन परस्पर-सम्बद्ध सोपानपरम्परा के समान क्रमबद्ध हैं। जो केन्द्रीय विचारधारा इनमें विकसित हुई है उसका उद्गम उपनिषद् में हुआ, भगवान् बुद्ध ने उसकी पुष्टि की, महायान में उसका पर्याप्त विकास हुआ, गौडपादाचार्य ने उसमें नवजीवन संचार किया, शङ्कराचार्य में वह अपनी चरमसीमा पर पहुँची और शङ्करोत्तर अद्वैतियों में जाकर वह समाप्त हुई।

बौद्ध और वेदान्त दर्शनों की इस प्रकार विवेचना, तुलना और आलोचना करनेवाला ग्रन्थ, इस ग्रन्थ के मूलरूप के अतिरिक्त, मेरी दृष्टि में तो सुसम्पन्न आंग्ल भाषा में भी नहीं है, हिन्दी की तो बात ही क्या।

आशा है इस ग्रन्थ से बौद्ध और वेदान्त दर्शनों के अध्ययन पर नवीन प्रकाश पड़ेगा और बौद्ध तथा वेदान्त दर्शन में की जानेवाली गवेषणाओं में सहायता मिलेगी तथा मेरा परिश्रम सफल होगा।

मैं उन सब पौरस्त्य और पाश्चात्य, प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों का उपकृत हूँ जिनकी कृतियों से या जिनसे मुझे उत्साह, शक्ति और सहायता मिली है। अपने गुरु प्रो० श्री रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे और प्रो० श्री अनुकूलचन्द्र मुकर्जी का मैं विशेषतया आभारी हूँ।

इस ग्रन्थ की टिप्पणियों में प्रदत्त संकेत व उद्धरण, ग्रन्थों के उन संस्करणों से हैं जो इस ग्रन्थ के अन्त में दी गई ग्रन्थावली में उल्लिखित हैं।

मुझे यह हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करते हुये हार्दिक प्रसन्नता है और मैं "मेसर्स स्टूडेन्ट्स फ्रेन्ड्स" का आभार मानता हूँ जो इसे छाप रहे हैं।

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी,
विजया दशमी, सं० २००६
१-१०-४९

चन्द्रधर शर्मा

समर्पणम्

पूज्यपितृचरणाः !

भवत्प्रसादोपगतात्मविद्यया
धिया समाधाय मया व्यलेखि यत् ।
तदेव भक्त्याऽद्य समर्प्यते भवत्-
पदाम्बुजन्मस्वधिगन्तुमाशिषः ॥ १ ॥

आनन्दनिस्यन्दमधुप्रदाभ्यां
मनोमिलिन्दाजितसम्मदाभ्याम् ।
भवाम्बुसंस्पर्शविवर्जिताभ्यां
ताभ्यां नमस्तातपदाम्बुजाभ्याम् ॥ २ ॥

ज्ञानाम्बुराशौ कृतसंप्लवाभ्यां
गोविन्दभक्त्येकवशंवदाभ्याम् ।
क्रियाः फलत्यागधियाऽऽचरद्भ्यां
ताभ्यां नमस्तातपदाम्बुजाभ्याम् ॥ ३ ॥

आर्तिं जनानां भवजां स्ववाचां
पीयूषवर्षेण निवारयद्भ्याम् ।
तमो मनोमोहकरं हरद्भ्यां
ताभ्यां नमस्तातपदाम्बुजाभ्याम् ॥ ४ ॥

ययोः प्रसादात् समुपात्तविद्या-
विद्योतितस्वान्ततयाऽनवद्याम् ।
सद्गद्यहृद्यां रचनामकार्षं
ताभ्यां नमस्तातपदाम्बुजाभ्याम् ॥ ५ ॥

श्रीः

प्रस्तावना

जयन्ति पुण्याः श्रुतयो विशुद्धा या मातरो भारतदर्शनानाम् ।
न मौलिकं सौगतदर्शनं च श्रुतिर्हि सैषा जननी जिनानाम् ॥ १ ॥
बुद्धस्य यच्छ्रुत्यविरोधि वाक्यं तद्धीनयानेन कृतं हि हीनम् ।
आर्याश्वघोषेण पुनः श्रुतेस्तद् वैपुल्यसूत्रैश्च कृतं समीपम् ॥ २ ॥
बुद्धानुभावेन यथानुबुद्धं ज्ञानाग्निभस्मीकृतकोटिवादः ।
नागार्जुनः क्षालितहीनपङ्कं सद्धर्मरत्नं विमलीचकार ॥ ३ ॥
स्वभावशून्यान् स हि सर्वधर्मान् प्रपञ्चशून्यञ्च जगाद तत्वम् ।
अबौद्धमातङ्गकरालकालं ननाद वै सौगतसिंहनादम् ॥ ४ ॥
विज्ञानभूमौऽवततार लङ्का-सूत्रे महायानसुखादसङ्गः ।
असङ्गबन्धुर्वसुबन्धुरिन्दुर्विज्ञप्तिमात्रं विमलीचकार ॥ ५ ॥
स्वतन्त्रविज्ञानमतावलम्बि-दिङ्नागतर्कोद्धृतमूलशल्ये ।
कान्तारमार्गेऽपि सुखं प्रयाति कान्तेव कीर्तिः किल धर्मकीर्तेः ॥ ६ ॥
विपक्षनाशी शमरक्षितश्च तच्छिष्यकाष्ठागतपद्मशीलः ।
प्रोज्ज्वालयामासतुरेव साधु विज्ञानवादं क्षणभङ्गदुष्टम् ॥ ७ ॥
आलोड्य वेदाम्बुनिधिं समस्तं विद्वद्भ्य आत्मैक्यसुधामदाद् यः ।
अस्पर्शयोगी स हि गौडपाद-स्ते शून्यविज्ञानमते शशंस ॥ ८ ॥
अद्वैतवेदान्तरसैकतृप्तः स्वनामधन्यः किल शंकरस्तम् ।
स्वतन्त्रविज्ञानमतस्य दोष-मपाचकार क्षणभङ्गवादम् ॥ ९ ॥
शून्यं हि माया यदि चेत् तथा च विज्ञानमात्रं यदि नित्यमेव ।
श्लाघ्याविमौ द्वावपि बौद्धवादौ निदर्शितौ शांकरसम्प्रदाये ॥ १० ॥

अद्वैतवादस्य हि पूर्वभूमिं मन्येऽहमेतं ननु बौद्धवादम् ।
अयुक्त एवास्त्यनयोर्विरोधो यतः श्रुतिः सा जननी द्वयोर्हि ॥ ११ ॥
प्रकाशितौ वैदिकबौद्धवादौ चितेर्गुरूणां कृपया मयात्र ।
क्षम्याश्च मे चन्द्रधरस्य दोषाः सद्दर्शने वै सुधियः प्रमाणम् ॥ १२ ॥
सिद्धान्तयोर्वैदिकसौगतानां समन्वयं नन्वयमातनोतु ।
नूत्नैः प्रयत्नैरिति ग्रन्थरत्ने विक्लेशलेशो मम सन्निवेशः ॥ १३ ॥
विधाय जोषं किल विज्ञमन्यान् सन्न्यायशून्यान् खलवृत्तिधन्यान् ।
सौजन्यसंन्यासविधौ वदान्या-नध्वन्यसामान्यतया युनक्तु ॥ १४ ॥
मम श्रमोऽयं यदि लौकिकार्थे न स्यात् समर्थो नहि कापि हानिः ।
स्वान्तस्य तोषो विदुषामदोषः सन्तोषपोषो मम सोऽर्थकोषः ॥ १५ ॥
संख्यावतां स्वान्तमधिष्ठितो यो भ्रमश्चिरात् सौगतदर्शनेषु ।
तस्यापनोदो यदि चेत् समोदो धन्यं मदन्यं तु जनं न मन्ये ॥ १६ ॥

विषय-सूची

———

प्रथम भाग : भूमिका

प्रथम अध्याय

सच तो यह है कि वह वस्तु जो 'तत्त्व' कही जाती है अर्थात् जो 'सत्य' या 'सत्' है, 'मिथ्या' नहीं, चाहे उसे किसी भी नाम से पुकारा जाय, 'अनिर्वचनीय' है, वाग्गोचर और बुद्धिगम्य नहीं। अतः दर्शन शास्त्र द्वारा उसका न तो प्रतिपादन किया जा सकता है और न निषेध। जो वस्तु स्वतः-सिद्ध है उसके लिये मंडन या खंडन की कोई आवश्यकता नहीं। वह अनुभव की जा सकती है, सोची या कही नहीं जा सकती। अतः स्वानुभूति द्वारा सिद्ध तत्त्व दर्शन शास्त्र द्वारा प्रपंचित नहीं किया जा सकता। दर्शन की मूल भित्ति बुद्धि है और बुद्धि की पहुँच तत्त्व तक नहीं हो सकती। तो फिर दर्शन शास्त्र का क्या महत्त्व? यह प्रश्न वाभाविक है और दर्शनशास्त्र का मूल स्तम्भ है। सदा से दार्शनिक इस प्रश्न पर अपने अपने विचार प्रकट करते आये हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे। हमें भी इस पर विचार करना है।

वेदान्तियों की तरह ग्रीस के प्राचीन दार्शनिक एनेक्जिमेन्डर (Anaximander) कहते हैं कि तत्त्व (Apeiron) अनादि, अनन्त और नित्य है। प्रत्येक वस्तु इसी से उत्पन्न होती है, इसी में स्थिर रहती है और पुनः इसी में लीन हो जाती है। जगत् द्वन्द्वों का समूह है और इन द्वन्द्वों में सदा संघर्ष चला करता है। उनका यह कथन हीगल (Hegel) के कथन का पूर्व रूप है। हिरेक्लाइटस (Heraclitus) के मतानुसार विरोध दर्शन का प्राण है। विरोध का अर्थ है संघर्ष; संघर्ष का अर्थ है परिवर्तन; और परिवर्तन का अर्थ है जीवन। किन्तु पार्मेनाइडीज़ (Parmenides) के मतानुसार परिवर्तन केवल भ्रान्ति है। तत्त्व तो एक, अखण्ड और नित्य सत्ता है। सुक़रात (Socrates) और अफ़लातून (Plato) तत्त्व को सत्यं,

शिवं और सुन्दरं का एक अद्वितीय समन्वय मानते हैं। जगत् एक कन्दरा की तरह है जहाँ बन्द हुये हम लोग बाहर की वस्तुओं की केवल छाया ही देख सकते हैं और उस छाया को ही भ्रम वश असली वस्तु मान लेते हैं। दर्शन शास्त्र, अफ़लातून कहते हैं, हमें इस कन्दरा से मुक्त करके वस्तु-तत्त्व का दर्शन कराने का साधन है।

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कान्ट (Kant) का कथन है कि ज्ञान (Knowledge), इन्द्रियां (Senses) और विचार (thought) से मिल कर उत्पन्न होता है। इन्द्रियां केवल बिखरी हुई अस्त व्यस्त इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्षजन्य वासनायें (Sense-impressions) उत्पन्न करती हैं और विचार-शक्ति (understanding) अपने नैसर्गिक नियमों (A priori rules) द्वारा उनको एकत्रित करके उनका वर्गीकरण करती है और इस प्रकार उन्हें ज्ञान का रूप देती है। सम्पूर्ण अनुभव एवं ज्ञान का आधार स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश चित् स्वरूप है (Transcendental Ego or the synthetic transcendental unity of pure apperception) जो अहं प्रत्यय Empirical Ego) से भिन्न और परे है। कान्ट के मत में ज्ञान के तीन साधन हैं : (१) इन्द्रियाँ, (२) विचार शक्ति और (३) शुद्ध या परा बुद्धि। इन्द्रियाँ (Senses) और विचारशक्ति (understanding) दोनों मिलकर सम्पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान (Empirical Knowledge) उत्पन्न करती हैं। जगत् में इस ज्ञान के विषय (Corresponding objects) उपलब्ध हैं। शुद्ध या परा बुद्धि (Pure or Transcendental Reason) पारमार्थिक ज्ञान को इंगित करती है। जगत् में इसका कोई विषय उपलब्ध नहीं हो सकता क्योंकि इसका विषय (Thing-in-itself or Noumenon) जगत् से परे है। अतः मानवी बुद्धि परमार्थ का उद्भावन नहीं कर सकती क्योंकि वह श्रद्धा और अनुभव का विषय है। इसलिये तर्क और विचार पर स्थित दर्शनशास्त्र, पारमार्थिक दृष्टि से, केवल मिथ्यावभास का द्योतक है।

अन्य प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगेल (Hegel) ने पूर्वोक्त सिद्धान्त का ज़ोरों से विरोध किया। उनके मत में 'अज्ञेय' का प्रतिपादन वदतो-व्याघात है। कोई वस्तु 'अज्ञेय' नहीं कही जा सकती। हाँ, यह हो सकता है कि

कोई वस्तु कुछ लोगों के लिये या कुछ समय के लिये 'अज्ञात' हो। कान्ट का अज्ञेय परमार्थ हीगेल के लिये सबसे अधिक ज्ञात वस्तु है। हीगेल के मतानुसार जिस वस्तु को अज्ञेय कहा जाता है उसके विषय में कम से कम दो बातें तो स्पष्ट रूप से जानी जाती हैं। एक तो **यह जाना जाता है** कि अज्ञेय कहलाने वाली वस्तु **विद्यमान है**; और दूसरे **यह भी जाना जाता है** कि वह वस्तु **अज्ञेय है**; अर्थात् अज्ञेय कहलाने वाली वस्तु भी कम से कम **सत्ता और बोध विशिष्ट** तो है ही। तब फिर ऐसी दशा में वह 'अज्ञेय' कैसे हो सकती है? मानवी बुद्धि अनादरणीय और अप्रामाणिक है—ऐसा कथन भी तो मानवी बुद्धि द्वारा ही सम्भव हो सकता है। तर्क स्वयं अपना गला नहीं घोट सकता। विचार स्वयं को अप्रामाणिक नहीं कह सकता। मानवी बुद्धि स्वयं अपने द्वारा ही अपना खंडन नहीं कर सकती। दर्शनशास्त्र स्वयं को निर्बल और असहाय कह कर अपना आत्मघात नहीं कर सकता। किन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है कि तर्क जो निश्चित रूप से आपेक्षिक है तत्व साक्षात्कार कराने की क्षमता नहीं रखता। इस आपेक्षिक और अन्योन्यानुषक्त तर्क (relational intellect) को, जो स्वभाव से ही विभागात्मक और व्यवच्छेदात्मक है तथा जिसकी प्रवृत्ति पृथक्करण और भेद की ओर होती है, अन्त में निरपेक्ष और अननुषक्त ज्ञान (Pure Reason) की शरण लेनी पड़ती है जो स्वभाव से ही संयोगात्मक और संकलनात्मक है तथा जिसकी प्रवृत्ति एकीकरण और समन्वय की ओर है। हीगेल के मत में यह ज्ञान ही तत्त्व है। उनका प्रसिद्ध कथन है—सत्ता ही बोध है और बोध ही सत्ता है।

हीगेल के अनुसार दर्शनशास्त्र ज्ञान की यात्रा है, बुद्धि का विकास है, विचार धारा की प्रगति है। ज्ञान की प्रगति 'रिक्त या केवल सत्' (Bare affirmation) से प्रारम्भ होकर 'असत्' (negation) में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, सदसत् में व्याप्त रहते हुये भी सदसद्विलक्षण 'विशुद्ध या पूर्ण सत्' (Reaffirmation) की ओर होती है; 'मंडन' (construction) से प्रारंभ होकर 'खंडन' (destruction) में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, मंडन-खंडन में व्याप्त रहते हुये भी उनसे

विलक्षण 'पुनर्मण्डन' (Reconstruction) की ओर होती हैं; 'तर्कशास्त्र के रिक्त सामान्य' (Abstract universal) से प्रारंभ होकर 'विशेष या व्यक्ति' (Particular) में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, सामान्य विशेष में व्याप्त रहते हुये भी उनसे विलक्षण 'विशुद्ध या पूर्ण व्यक्तित्व' (Individual) की ओर होती है; 'अपरोक्ष इन्द्रियानुभूति' (Immediacy) से प्रारंभ होकर तर्क और बुद्धि के विस्तृत वाग्जाल (mediacy) में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, अपरोक्ष इन्द्रियानुभूति और परोक्ष तर्कजाल में व्याप्त रहते हुये भी उनसे विलक्षण 'विशुद्ध और आत्मानन्दयुक्त स्वानुभूति' (Self-mediation) की ओर होती है; 'शुष्क अद्वैत या अभेद' (unity) से प्रारम्भ होकर 'द्वैत या भेद' (Diversity) में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, द्वैताद्वैत या भेदाभेद में व्याप्त रहते हुये भी उनसे विलक्षण द्वैतान्तर्यामी अद्वैत (unity-in-diversity) की ओर होती है। स्पष्ट है कि ज्ञान की प्रगति पक्ष (thesis) से प्रारंभ होकर विपक्ष (Anti-thesis) में होती हुई और उसे भी अपने साथ लेती हुई, पक्ष और विपक्ष दोनों में ओत प्रोत रहते हुये भी दोनों से विलक्षण एक अद्वितीय समन्वय (Synthesis) की ओर होती है। अतः हीगेल के मत में विपक्ष या विरोध या व्यवच्छेद या भेद कोई अवाञ्छनीय या भयानक वस्तु नहीं है, अपितु यह तो विश्व का प्राण है। किन्तु विचार का यह बलवान् आग्रह है और मानवी बुद्धि का अनुरोध है कि विरोध का निराकरण अवश्य होना चाहिये और इसीलिये समन्वय की आवश्यकता होती है। समन्वय पक्ष और विपक्ष दोनों के पारस्परिक विरोध को शान्त कर देता है और दोनों में ओत-प्रोत रहते हुये भी दोनों से परे रहता है। समन्वय विरोध को समूल नष्ट नहीं करता, उसे केवल बाधित कर देता है; उसे मिटाता नहीं, ठीक करता है। उदाहरणार्थ, एक अंडे से बच्चा उत्पन्न होता है और एक शिशु बालक होकर युवक बनता है। अंडा पक्ष है; अंडे के भीतरी भाग का धीरे धीरे लोप होना विपक्ष है; और अंडे में से बच्चा निकलना समन्वय है। शैशव पक्ष है; बाल्यावस्था विपक्ष है; युवावस्था समन्वय है। अब क्या यह कथन सत्य होगा कि बच्चे ने अंडे के भीतरी भाग का नाश कर दिया या युवावस्था

ने बाल्यावस्था का नाश कर दिया ? क्या बच्चे में अंडे का भीतरी भाग और युवक में बालक प्रकट रूप से विद्यमान नहीं है ? और क्या अंडे के भीतरी भाग में बच्चा और बालक में युवक गुप्त रूप से या बीजरूप से विद्यमान नहीं है ? अतः ज्ञान की यात्रा में कोई वस्तु पीछे नहीं छूटती। विचार की प्रगति में न पक्ष नष्ट होता है न विपक्ष। समन्वय में दोनों विद्यमान हैं और फिर भी समन्वय केवल दोनों का जोड़ नहीं है किन्तु दोनों से विलक्षण है।

ज्ञान की यात्रा काफ़ी लम्बी है। पक्ष से प्रारंभ होकर विपक्ष में गई और उसे भी साथ लेती हुई समन्वय पर पहुँची। किन्तु यहाँ पर यात्रा समाप्त नहीं हो जाती। अब यह समन्वय स्वयं पक्ष बन जाता है और इसके पक्ष बनते ही स्वाभाविक रीति से इसका विपक्ष खड़ा हो जाता है और विपक्ष के खड़े होते ही इनके समन्वय की आवश्यकता हो जाती है। किन्तु यह नया समन्वय भी स्वयं एक पक्ष बन जाता है और इस प्रकार यह यात्रा चलती ही रहती है जब तक कि हम उस अन्तिम समन्वय तक नहीं पहुँच जाते जो फिर स्वयं पक्ष नहीं बन सकता। सर्व प्रथम पक्ष है 'केवल सत्ता' (Pure Being)। सत्ता एक ऐसी व्यापक वस्तु है कि वह प्रत्येक वस्तु पर लागू है। केवल 'अस्ति' या 'है' कहने से किसी वस्तु का बोध नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी वस्तु 'हो' सकती है। अतः 'अस्ति' कहना उतना ही अर्थ रखता है जितना कि 'नास्ति' या 'नहीं है' कहना। दोनों का समन्वय है 'भवति' या 'हो रहा है'। यह समन्वय फिर पक्ष बन जाता है और फिर यह यात्रा चालू रहती है जब तक कि हम अन्तिम समन्वय पर नहीं पहुँच जाते। यह अन्तिम समन्वय है अत्यन्त विशुद्ध स्वप्रकाश ज्ञान। इसका पक्ष है जीव और विपक्ष है जगत्। जीव अहं युक्त बुद्धि है और जगत् बुद्धि का केवल बाह्य रूप है। बुद्धि इतनी निर्बल नहीं है कि वह केवल जीव रूप में ही सन्तुष्ट बनी रहे। वह अवश्य बाह्य रूप लेती है। पहले वह महाभूतों का रूप लेती है, फिर वनस्पति का, फिर पशुपक्षियों का, फिर मनुष्यों का; फिर वह कला, धर्म और दर्शन का रूप लेती है; पहले वह परिवार का रूप लेती है फिर समाज का और फिर राष्ट्र का। तत्पश्चात् ज्ञान वैयक्तिक या आन्तरिक

और प्राकृतिक या बाह्य बुद्धि के संघर्ष और विरोध के समन्वय की ओर अग्रसर होता है और यह समन्वय है 'स्वप्रकाश ज्ञान'। यह समन्वय व्यक्ति और राष्ट्र को, बुद्धि और प्रकृति को, विषयी और विषय को, व्यष्टि और समष्टि को, एक और नाना को, सत् और असत् को, अद्वैत और द्वैत को, अभेद और भेद को एक सूत्र में बाँधता हुआ उन सबसे परे निकल जाता है। यही अनन्त और अभेद आत्मानन्द है; यही स्वयंप्रकाश द्वैतान्तर्यामी अद्वैत है; यही जगत् का अन्तर्यामी ईश्वर है; और यही सब तत्त्वों का परमतत्त्व है।

प्रसिद्ध अँगरेज़ दार्शनिक ब्रेडले (Bradley) के मत में दर्शन आभास और छाया को, प्रतिबिम्ब और माया को समझ कर इनके पीछे छिपे हुये और इनके आधारभूत तत्व का अनुसन्धान है। दर्शन मिथ्या को छोड़कर सत्य की खोज करता है, द्वैत में सूत्रात्मक अद्वैत का पता लगाता है, नाना में एक और असत् में सत् ढूँढ़ता है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ लक्षणहीन और मिथ्या है क्योंकि वह सत्, असत् और सदसत् से विलक्षण है। मानवी बुद्धि सापेक्ष और अन्योन्याश्रित पदार्थों का ही विवेचन कर सकती है। उसके लिये यह स्वाभाविक और आवश्यक है कि वह अबला की भाँति सदा द्वैत और भेद का आलिंगन किये रहे। जो वस्तु मानवी बुद्धि द्वारा ग्राह्य हो जाय उसे आप निश्चित रूप से कृत्रिम, स्वभावशून्य, लक्षणहीन और मिथ्या समझ लीजिये क्योंकि बुद्धि कभी अपने आपको ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान या ग्राहक, ग्राह्य और ग्राह की त्रिपुटी से मुक्त नहीं कर सकती और जो वस्तु इस त्रिपुटी के सर्वव्यापक जाल में फँस गई वह निश्चित रूप से मिथ्या है, सत्य नहीं। तत्त्व या सत्य पदार्थ अविसंवादी, पूर्ण, अद्वय और व्यापक होता है और ये लक्षण केवल स्वानुभति में ही प्राप्त हैं, अतः केवल स्वानुभूति ही तत्त्व है। शेष सब कुछ इस तत्त्व का आभास मात्र है। किन्तु ब्रेडले के मत में इस तत्त्व के भीतर सब आभास घुल मिल जाने पर भी अपने अपने व्यक्तित्व को बनाये रखते हैं--वे केवल साक्षात्कार योग्य, पूर्ण और व्यापक बन जाते हैं। मानवी बुद्धि इस तत्त्व के वृत्त का स्पर्श मात्र कर सकती है, इसके अन्दर घुस नहीं सकती; बुद्धि तत्व के स्थूल अंगों को बताकर उसकी ओर इशारा कर सकती है, किन्तु इस तत्व-व्यूह के भीतर प्रवेश करना

उसकी शक्ति के बाहर है; बुद्धि तत्व के केवल 'वह' और 'वहां' को बता सकती है, 'क्यों' और 'कैसे' को बताना उसके सामर्थ्य की बात नहीं। अतः बुद्धि को जो तत्त्व का एक अंग मात्र है, तत्त्व बनने के लिये आत्मधात करके स्वानुभूति की शरण लेनी पड़ती है। किन्तु जहाँ तक व्यावहारिक जगत् का प्रश्न है, बुद्धि का साम्राज्य चक्रवर्ती है और उसकी शक्ति एवं प्रभुता अखण्ड है।

यह स्वीकार करने में ब्रेडले हीगल के अनुयायी हैं कि तत्त्व अविसंवादी पूर्ण और अद्वय है एवं जगत् के सम्पूर्ण प्रातिभासिक पदार्थों में व्याप्त है तथा सम्पूर्ण प्रातिभासिक पदार्थ तत्त्व में घुल मिलकर एक हो जाने पर भी किसी न किसी प्रकार अपने अपने व्यक्तित्व को बनाये रखते हैं। किन्तु वे हीगल के इस कथन का कि बोध ही सत्ता है और सत्ता ही बोध है, आग्रह-पूर्वक खण्डन करते हैं। उनके मत में बोध केवल आपेक्षिक और मिथ्या पदार्थों को ही ग्रहण कर सकता है और इसलिये उसे तत्त्व साक्षात्कार करने के लिये आत्मघात करना ही पड़ेगा और स्वानुभूति में प्रवेश करना ही होगा। ब्रेडले को बुद्धि के प्रति एक प्रकार की स्वाभाविक अश्रद्धा सी है। वे इस बात को भूल गये हैं कि बोध केवल सापेक्ष बुद्धि ही नहीं है अपितु स्वप्रकाश ज्ञान भी है; उन्हें यह ध्यान नहीं रहा कि बोध केवल व्यवच्छेदात्मक और खण्डनात्मक बुद्धि तक ही सीमित नहीं रहता किन्तु समन्वयात्मक और व्यापक ज्ञान का रूप भी लेता है। यह कथन कि हीगल 'बोध' शब्द से केवल सापेक्ष बुद्धि का अर्थ ही लेते हैं बिलकुल मिथ्या है और हीगल के दर्शन का अज्ञान और अपरिचय प्रकट करता है। यदि ब्रेडले को हीगल के 'बोध' का पूर्ण बोध हो जाता तो वे हीगल के इस महान् और अटल सिद्धान्त को खंडित करने का वृथा प्रयास कदापि नहीं करते। ब्रेडले की यही भूल उनके द्वारा किये गये 'आत्मा' के खंडन में भी स्पष्ट झलकती है। वे आत्मा की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनके विचार में आत्मा भी प्रतिभास मात्र है। वे बोध को तत्त्व नहीं मानते और उसे स्वानुभूति से भिन्न समझते हैं इसलिये वे 'आत्मा' को केवल खंडनात्मक बुद्धि ही समझते हैं। उनके द्वारा विवेचित आत्मा असली आत्मा नहीं है अपितु

आत्मा का कलेवर मात्र है। वे केवल खंडन करने की दृष्टि से ही आत्मा को सापेक्ष बुद्धि मानकर एक कल्पित आत्मा खड़ा कर देते हैं, जिस प्रकार कुछ लोग दशहरे के दिनों में बहुधा मिट्टी का या कागज़ का रावण खड़ा कर देते हैं—केवल उसे बाद में ढहा देने के लिये। यदि ब्रेडले की 'स्वानुभूति' आत्म-स्वरूप स्वप्रकाश ज्ञान नहीं है तो वह कुछ नहीं है। यदि ब्रेडले यह मान लेते तो उन्हें कल्पित आत्मा के खण्डन करने के वृथा प्रयास की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। सम्पूर्ण प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिकों में केवल ब्रेडले ही एक ऐसे महान् दार्शनिक हैं जो एक ओर तो परमार्थ को अनन्त और पूर्ण आध्यात्मिक स्वानुभूति मानते हैं और दूसरी ओर आत्मा की पारमार्थिक सत्ता का खण्डन करते हैं।

फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक बर्गसाँ (Bergson) के मत में तत्त्व एक आदि मौलिक प्राण शक्ति (Elan V tal) है जो सदा प्रगतिशील है। जब हम यह कहते हैं कि विश्व क्षण क्षण परिवर्तनशील है तो वास्तव में हमारा यह कथन वाणी का आडम्बर मात्र है क्योंकि कोई 'वस्तु' ऐसी नहीं है जो परिवर्तित होती हो, केवल अनन्त परिवर्तन ही विद्यमान है। अनुभूति द्वारा ही हम प्राणशक्ति की इस अजस्र धारा का अनुभव कर सकते हैं। बुद्धि इसे नहीं समझ सकती। बुद्धि का कार्य तो केवल इस प्राणशक्ति की निरन्तर गतिशील धारा को काट काट कर हमें झूठे क्षणों के टुकड़ों से बहलाना है। जगत् और बुद्धि दोनों अन्योन्यापेक्ष हैं। जगत् तत्त्व की उलटी धारा है; जीवन प्राणशक्ति की सुलटी धारा है। प्राणशक्ति ही तत्त्व है। यह निरन्तर धारा प्रवाह स्वरूप है। इस धारा के जो छींटे पीछे उलट कर गिरते हैं और आगे बहनेवाली धारा का साथ छोड़कर एक जगह रुक जाते हैं वे छींटे ही जड़ जगत् हैं।

किन्तु बर्गसाँ इस बात को भूल जाते हैं कि किसी अचल तत्व की सत्ता को स्वीकार किये बिना गति का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। और फिर बर्गसाँ की 'अनुभूति' जो प्राणशक्ति की धारा का साक्षात्कार करती है, यदि स्वप्रकाश ज्ञान नहीं है तो निश्चित ही एक प्रकार की पाशविक सहज अन्तश्चेतना (instinct) है जो मानवी बुद्धि से कहीं नीचे दर्जे की है।

बर्गसाँ स्वयं इसे आत्मज्ञानयुक्त अन्तश्चेतना (Self-Conscious instinct) कहते हैं और उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि वे इस प्रवृत्ति को सविकल्प बुद्धि से ऊपर बताना चाहते हैं। अतः स्पष्ट है कि या तो यह प्रवृत्ति पाशविक अन्तश्चेतना है जो सविकल्प बुद्धि से नीची है और कदापि आत्मज्ञानयुक्त नहीं हो सकती और या फिर यह सविकल्प बुद्धि से ऊपर निर्विकल्प स्वप्रकाश आत्मज्ञान ही है जिसे अन्तश्चेतना के नाम से पुकारना भूल है। बर्गसाँ भी ब्रेडले की भाँति यह भूल जाते हैं कि बोध केवल सविकल्प और सापेक्ष बुद्धि ही नहीं हैं अपितु निर्विकल्प और निरपेक्ष स्वप्रकाश शुद्ध ज्ञान भी है।

भारतीय दर्शन में भी—जिसके पूर्ण विकास के प्रतीक महायान बौद्धमत और अद्वैत वेदान्त हैं—खण्डनात्मक और मण्डनात्मक दोनों प्रवृत्तियाँ पूर्ण-रूप से पायी जाती हैं। महान् बौद्ध दार्शनिक आचार्य नागार्जुन, चन्द्रकीर्ति, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील, तथा महान् अद्वैताचार्य गौडपाद, शंकर, मंडन, विमुक्तात्मा, श्रीहर्ष और चित्सुख आदि तत्ववेत्ताओं के भीषण खण्डन प्रहारों के आगे जगत् की सम्पूर्ण वस्तुयें, बुद्धिग्राह्य सम्पूर्ण पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव, परिवर्तन, अहंकार, जगत्, जीव, ईश्वर, धर्म और दर्शन तक—अपनी धज्जियाँ उड़ाते हुये टुकड़े टुकड़े होकर ताश के पत्तों से बने हुये घर की भांति या बालुका पर बने हुये प्रासाद की भाँति, ढह जाते हैं। किन्तु साथ ही साथ यह समझना कि इन व्यावहारिक पदार्थों का एक दम लोप ही हो जाता है भारी भूल है और इन महान् आचार्यों की विद्वत्ता का भीषण उपहास हैं। इनके दर्शन की मण्डनात्मक प्रवृत्ति निःसन्देह यह स्पष्ट करती है कि बुद्धिग्राह्य सम्पूर्ण पदार्थ, पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या होते हुये भी, व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हैं। यहां तक कि प्रातिभासिक वस्तुयें भी अपने समय तक और अपनी दृष्टि से सत्य हैं। उदाहरणार्थ, स्वप्न में दिखाई देने वाले सब पदार्थ, जब तक स्वप्न बना रहता है, तब तक सत्य हैं, स्वप्न में पिया हुआ पानी अवश्य ही स्वप्न की प्यास बुझाता है। स्वप्न-दृष्ट पदार्थ, केवल स्वप्न भंग होने के बाद आने वाली जाग्रदवस्था की दृष्टि से ही मिथ्या कहे जा सकते हैं। ठीक इसी प्रकार

व्यावहारिक पदार्थ, केवल पारमार्थिक दृष्टि से ही मिथ्या कहे जा सकते हैं। परमार्थ का सर्वोत्तम लक्षण "नेति नेति" ही है; किन्तु इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि स्वयं परमार्थ भी अभावात्मक है। "नेति नेति" की ध्वनि यही सिद्ध करती है कि मानवी बुद्धि, विशुद्ध ज्ञान नहीं, और मानवी वाणी परमार्थ तक नहीं पहुँच सकती। परमार्थ के विषय में बुद्धि अधिक से अधिक इतना ही कह सकती है कि वह बुद्धि से परे है और अनिर्वचनीय है। किन्तु "नेति नेति" और "अनिर्वचनीयता" स्वयं परमार्थ को अभावात्मक नहीं बना सकतीं क्योंकि स्वानुभूति द्वारा उसका साक्षात्कार होता है। परमार्थका सर्वोत्तम भावात्मक वर्णन यही है कि वह स्वानुभूति या स्वप्रकाश विशुद्ध ज्ञान स्वरूप हैं। बौद्ध इसे तथता, तथागत, तथागतगर्भ, धर्मधातु बुद्धकाय, प्रपञ्चशून्य, अद्वय, चतुष्कोटि विनिर्मुक्त, तत्व, परमार्थ और परमार्थ-सत् आदि कहते हैं, और वेदान्ती इसे अद्वैत, निष्प्रपञ्च. अनिर्वचनीय, आत्मा, ब्रह्म, तत्त्व, परमार्थ और विज्ञानधातु आदि कहते हैं।

पाश्चात्य और भारतीय दर्शन के इस थोड़े से वर्णन के बाद अब हम दर्शन के विषय में कुछ अपने विचार प्रकट करते हैं। कुछ लोग दर्शन कोथ केवल खण्डनात्मक ही मानते हैं। उनके विचार में दर्शन या तो वृथा वाग्जाल, बौद्धिक व्यायाम, दिमाग़ी कलाबाज़ी, बाल की खाल निकालना, थोड़े समय के लिये लोगों को चकाचौंध में डालने वाली दिमाग़ी आतिशबाज़ी, जल्प, कुतर्क, वितण्डा, तुच्छ शास्त्रार्थ एवं बौद्धिकी नटविद्या है; या अधिक से अधिक वह सुतर्कमात्र कहलाये जाने का पात्र है जो अवश्यमेव सोपाधि, सापेक्ष, सविकल्प और खण्डनात्मक है, जो प्रत्येक वस्तु को विषय मान कर ही पकड़ सकता है, जो अपने आप को ग्राहक, ग्राह्य और ग्राह की त्रिपुटी से मुक्त नहीं करसकता, और इसी कारण जिसे तत्त्व बनने के लिये सिवाय आत्मघात के और कोई उपाय नहीं दिखता। हमारे मत में पहला विचार निरी मूर्खता है और दूसरा विचार आंशिक सत्य है। विरोध, संघर्ष, विकल्प, खण्डन की प्रवृत्ति स्वाभाविक रीति से सामञ्जस्य, समन्वय और मण्डन की ओर अग्रसर होती है। यदि खण्डन है तो मण्डन भी अवश्य है; यदि विकल्प है तो निर्विकल्प भी अवश्य है; भाव के विना अभाव नहीं टिक सकता।

दर्शन की समन्वयात्मक प्रवृत्ति हमारे सामने एक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित करती है। यह प्रश्न है बुद्धिवाद (Rationalism) और रहस्यवाद (Mysticism) का संघर्ष जो दर्शनशात्र में चिरकाल से चला आ रहा है। इस प्रश्न के तीन विकल्प हैं:—(१) या तो कान्ट की तरह यह मानिये कि तत्त्व अज्ञेय है; (२) या हीगल की तरह यह मानिये कि बोध ही सत्ता है और सत्ता ही बोध है; और (३) या ब्रेडले की तरह कान्ट और हीगल के बीच में लटक कर यह मानिये कि यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से दर्शन का साम्राज्य अखण्ड है तथापि पारमार्थिक दृष्टि से उसे तत्व बनने के लिये आत्मघात करना ही पड़ता है। इनमें तीसरा विकल्प सबसे निर्बल है और एक दम त्याज्य है। प्रथम विकल्प भी मान्य नहीं है। हम हीगल से सहमत हैं और यह मानते हैं कि ज्ञान स्वयं अपना गला नहीं घोट सकता; उसे आत्मघात कराना स्वयं अपना आत्मघात करना है। ज्ञान का खण्डन भी स्वयं ज्ञान द्वारा ही संभव है। सम्पूर्ण विरोध, संघर्ष, भेद, खण्डन, विकल्प आदि ज्ञान की सीमा को नहीं लाँघ सकते। अतः जो यह कहते हैं कि "तत्व अज्ञेय है", या तो स्वयं अपने कथन का अर्थ नहीं समझते, या फिर अपने कथन में स्पष्ट विद्यमान विरोध को नहीं देख पाते क्योंकि कम से कम उनको तत्त्व के विषय में इतना **ज्ञान** तो है ही कि तत्व **है** और वह **अज्ञेय है**। सत्ता और बोध रूप से **ज्ञात** तत्व **अज्ञेय** कैसे? हाँ, सविकल्प बुद्धि को तो हम भी तत्व नहीं मानते। और हम ही क्या संसारभर का कोई भी महान् दार्शनिक इसे तत्व नहीं मानता। मतभेद का विषय तो केवल यह है कि क्या सविकल्प बुद्धि का पारमार्थिक दृष्टि से समूल नाश होता है या केवल बाध? और हम प्लेटो, हीगल, बौद्ध और वेदान्ताचार्यों के महान् सिद्धान्तों द्वारा पुष्ट आग्रह के साथ कहते हैं कि सविकल्प बुद्धि का आगे जाकर केवल बाध होता है, नाश नहीं। हम बुद्धि को आत्मघात नहीं करने देते अपितु उसे निर्विकल्प ज्ञान में परिणत करते हैं। हम आचार्य भर्तृप्रपंच के भेदाभेदवाद से, जैनियों के स्याद्वाद से, रामानुज के विशिष्टाद्वैत से, निम्बार्क के द्वैताद्वैत से, वल्लभ के शुद्धाद्वैत से, हीगल और ब्रेडले के द्वैतान्तर्यामी अद्वैत से भी आंशिक रूप में सहमत नहीं हैं क्योंकि हम अद्वैत में, पारमार्थिक दृष्टि से, किसी भी प्रकार के द्वैत के लेश-

मात्र की भी सत्ता स्वीकार नहीं कर सकते। जिसकी सत्ता प्रातिभासिक या अधिक से अधिक व्यावहारिक है उसकी सत्ता परमार्थ में किस मुँहसे स्वीकार की जाती है? जीवत्व या व्यक्तित्व तो अविद्या के कारण है और इसी लिये मिथ्या है। अतः परमार्थ में जीवत्व या व्यक्तित्व की सत्ता मानना, विद्या में अविद्या की स्थिति मानना, ज्ञान में अज्ञान की झलक देखना, मुक्ति का अर्थ जीव का ईश्वर के आगे सदैव कमर बाँध कर खड़ा रहना या लाड़ प्यार से सदा ईश्वर की गोद में बैठे रहना या दिव्य विग्रह प्राप्त करके स्वर्ग में सदा भगवान् को झूला झुलाना या स्वयं बिलकुल श्रीमन्नारायण जैसा विग्रह प्राप्त करके परम धाम में दिव्यासन पर उनके साथ बैठे रहना (मानों स्वर्ग क्या हुआ एक से अभिनेताओं की अच्छी खासी नाट्यशाला हुई) आदि कल्पनायें हमारे मत में तो युक्तियुक्त नहीं हो सकतीं। परमार्थ में कोई व्यक्तित्व स्थित नहीं रह सकता। किन्तु साथ ही साथ हमारा परमार्थ न तो सिंह की कन्दरा है जहाँ जाने के पदचिन्ह तो दिखाई देते हैं किन्तु आने के नहीं, और न वह ऐसी अमावास्या की रात्रि है जिसमें सब गायें काली दिखाई देती हैं। ये भेदवादियों के निरर्थक आक्षेप हैं। यदि नदी समुद्र में मिल जाती है तो क्या वह नष्ट हो जाती है? वह तो स्वयं समुद्र बन जाती है; नाम और रूप को छोड़ कर विशुद्ध तत्त्व बन जाती है। इसी प्रकार बुद्धि भी अपनी आपेक्षिक और सविकल्प सीमा को लाँघ कर, अपने त्रिपुटी के कलेवर को त्याग कर, अपनी नामरूपात्मक उपाधि को छोड़ कर, स्वप्रकाश विशुद्ध ज्ञान स्वरूप हो जाती है जो वह वास्तव में सदैव है और केवल अविद्या से जीवात्मक सापेक्ष रूप में भासित होती है।

अब प्रश्न यह है कि यह स्वानुभूति, जिसकी प्रशंसा पौरस्त्य और पाश्चात्य, प्राचीन और अर्वाचीन योगी मुक्तकण्ठ से करते आये हैं, और करते रहेंगे, क्या वस्तु है? क्या यह ज्ञान से भिन्न तत्त्व है? यदि है, तो क्या यह ज्ञान से ऊँची वस्तु है या नीची? शायद कोई यह कहे कि चूँकि अनुभूति—जैसा कि इस नाम से ही स्पष्ट है—केवल अनुभव और साक्षात्कार की वस्तु है, इसलिये इसके विषय में किसी प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया

जा सकता। हम कहते हैं यह बात बिलकुल ठीक है और इसके मानने वालों को एक दम मौन रहना चाहिये। किन्तु दार्शनिक होने के नाते कम से कम व्यावहारिक दृष्टिकोण से तो अनुभूति का भी प्रतिपादन करना ही पड़ेगा। इस बात को तो सभी मानते हैं कि मानवी बुद्धि सविकल्प है और अनुभूति निर्विकल्प। अतः बुद्धि और अनुभूति भिन्न हैं। किन्तु अनुभूति का निर्विकल्प होना इस बात को सिद्ध नहीं कर सकता कि अनुभूति बुद्धि से ऊंची है क्योंकि अन्तश्चेतना या वेदना भी, जो पशुओं में भी पायी जाती है और जो बुद्धि से कहीं नीची है, निर्विकल्प होती है। ज्ञान बुद्धि का अत्यन्त विशुद्ध और परिष्कृत रूप है। ऐसी दशा में यदि अनुभूति को ज्ञान से बिलकुल भिन्न वस्तु मान कर केवल निर्विकल्प होने के कारण उसे बुद्धि या ज्ञान से ऊँची वस्तु मानी जाय तो यह भूल होगी क्योंकि अनुभूति को ज्यों ही आप ज्ञान से भिन्न मानेंगे वह अपने आप अर्थापत्ति द्वारा, निर्विकल्प चेतना की कक्षा में चली जायगी जो ज्ञान से तो क्या बुद्धि से भी नीची है। सविकल्प बुद्धि अपनी निर्बलता को जान कर स्वयं ही निर्विकल्प ज्ञान की ओर इशारा करती है। निर्विकल्प चेतना, एक पशु की मूक वेदना, बुद्धि के पैरों पर गिर कर यह मौन प्रार्थना करती है कि बुद्धि उसकी असहाय निर्विकल्पकता को दूर करके उसे आत्मसात् कर ले। चेतना की निर्विकल्पकता अपनी दीनता छोड़ कर बुद्धि की सविकल्पकता को अपनाना चाहती है और बुद्धि की सविकल्पकता अपनी दीनता समझ कर ज्ञान की निर्विकल्पकता को अङ्गीकार करना चाहती है। एक निर्विकल्पकता बुद्धि से नीची है, दूसरी ऊँची। अतः निर्विकल्प अनुभूति को बुद्धि से ऊँची बतलाने के लिये ज्ञान की कोटि में मानना पड़ेगा, चेतना की में नहीं। बुद्धि के मर्त्यलोक से हमें ज्ञान के स्वर्ग में जाना है, चेतना के नरक में नहीं। मानवी बुद्धि से हमें दैवी ज्ञान शक्ति की ओर उठना है पाशविक वेदना की ओर नहीं गिरना और निर्विकल्प अनुभुति को निर्विकल्प ज्ञान मानते ही बुद्धिवादियों तथा रहस्यवादियों में चिरकाल से चला आ रहा संघर्ष बिलकुल समाप्त हो जाता है। बुद्धिवादियों का निर्विकल्प ज्ञान ही रहस्यवादियों की निर्विकल्प अनुभति है। एक सच्चा बुद्धिवादी

ही वास्तविक योगी है और एक सच्चा योगी ही वास्तविक बुद्धिवादी है। ज्ञान बुद्धि का समूल नाश नहीं है अपितु बाध मात्र है। ज्ञान बनने के लिये बुद्धि अपनी हत्या नहीं करती अपितु अपने आप को पूर्ण बनाती है। बुद्धि के ऊपर से अविद्या का पर्दा हटते ही वह स्वप्रकाश विशुद्ध ज्ञान (जो वास्तव में वह सर्वदा ही है) के रूप में चमकती है और विकल्प को छोड़ कर केवल अनुभूति या साक्षात्कार के योग्य बन जाती है।

कुछ लोगों को हमारा सविकल्प बुद्धि और निर्विकल्प ज्ञान का विभाग, नीची और ऊँची विचार धारा का विभाग, शायद व्यर्थ लगे। उन लोगों के प्रति हमारा उत्तर यह है :—हम इस बात को सहर्ष स्वीकार करते हैं कि यह विभाग बुद्धि-निर्मित होने के कारण, केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। यह एक कामचलाऊ चीज़ है, अटल सत्य नहीं। वास्तव में यह विभाग व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टिकोण का विभाग है, छाया और तत्व का विभाग है, मिथ्या और सत्य का विभाग है, जगत् और ब्रह्म का विभाग है। याज्ञवल्क्य मुनि की "नेति नेति", स्पेन्सर और कान्ट का "अज्ञेय" (unknowable) लॉक का "पता नहीं क्या" (Je ne sais quoi) आँगस्टाइन और रेमॉन्ड का "अज्ञात तत्व" (Ignorabimus), ब्रेडले का "हम नहीं जानते किस प्रकार" (We do not know how), बौद्धों का "निरभिलाप्य" और "अवाच्य", वेदान्तियों का "अनिर्वचनीय" - ये सब सापेक्ष और सविकल्प बुद्धि की असहाय पुकारें हैं, निरपेक्ष और निर्विकल्प ज्ञान की नहीं। अतः सविकल्प बुद्धि और निर्विकल्प ज्ञान का विभाग, पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या होते हुये भी, व्यावहारिक दृष्टि से पूर्ण सत्य और नितान्त आवश्यक है। इस दृष्टि से इसकी सत्यता को अस्वीकार करना या तो विरोध को अंगीकार है या दर्शन से मुँह मोड़ना है।

दर्शन की दो प्रवृत्तियाँ हैं – खण्डनात्मक और समन्वयात्मक। खण्डनात्मक प्रवृत्ति सापेक्ष, सविकल्प और ग्राहयुक्त है; इसे हम बुद्धि, मति, युक्ति, तर्क आदि के नाम से पुकार सकते हैं। इसका कार्य यह बताना है कि जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ सत्, असत् और सदसत से विलक्षण होने के कारण मिथ्या

हैं। समन्वयात्मक प्रवृत्ति निरपेक्ष, निर्विकल्प और प्रपंचशून्य है; इसे हम विशुद्ध ज्ञान, प्रज्ञा, विज्ञान, चित्, सम्वित्, या स्वानुभूति कह सकते हैं। यह अनुभव और साक्षात्कार का विषय है, प्रपंच का नहीं। जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ वास्तव में मिथ्या होते हुये भी व्यवहार के लिये सत्य हैं। केवल विशुद्ध ज्ञान हो जाने पर ही उनका बाध हो सकता है, पहले नहीं; और फिर भी केवल बाध ही होता है, समूल नाश नहीं। परमार्थ या तत्व जो विशुद्ध ज्ञान स्वरूप है स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश है। किन्तु यह केवल अनुभूति द्वारा ही साक्षात् किया जा सकता है, वाणी या बुद्धि द्वारा कहा या सोचा नहीं जा सकता। दर्शन शास्त्र भी बुद्धि-निर्मित होने के कारण तत्व का प्रतिपादन नहीं कर सकता। फिर भी हम व्यवहार के द्वारा ही परमार्थ को समझ कर उसे अनुभव करने के प्रयत्न में लग सकते हैं। व्यवहार में बुद्धि की शक्ति कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। ज्ञान भी बुद्धि का अत्यन्त विशुद्ध रूप ही है। यही दर्शन का महत्व है। वास्तव में तो मौन ही उच्चतम दर्शन है। यह मौन न तो गूंगे का मौन है और न मूर्ख का; यह तो विद्वानों के विद्वान् का मौन है। यह वह मौन है जो सिर पर चढ़ कर बोलता है। यह वह मौन है जिसके आगे सारे विश्व की वाणी फीकी पड़ जाती है। जब बौद्ध भिक्षु विमलकीर्ति से पूछा गया कि तत्व की क्या परिभाषा है तो वे चुप रहे। इस पर अन्य भिक्षुओं ने कहा—"धन्य हो। वास्तव में तत्व की परिभाषा मौन है क्योंकि वाणी और बुद्धि वहाँ तक नहीं पहुँच पाती।" (१) वाष्कलि मुनि ने वेदान्ती आचार्य बाध्व से आत्मा की परिभाषा पूछी। वे चुप रहे। बार बार पूछे जाने पर उन्होंने कहा—"मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मौन द्वारा दे रहा हूँ, किन्तु तुम समझते ही नहीं; यह आत्मा शान्त है।" (२) शंकराचार्य के विषय में प्रसिद्ध कथन है कि वे अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन वटवृक्ष के नीचे आसन लगाकर मौन द्वारा करते थे और उनके शिष्यों के सब सन्देह दूर

(१) सुजुकी : आउट लाइन्स ऑव महायान बुद्धिज़म, पृष्ठ १०५-७
(२) ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि, उपशान्तोऽयमात्मेति।

—शांकर भाष्य, ३-२-१७

हो जाते थे। (१) उपनिषद् "नेति नेति" कह कर चुप हो जाते हैं। तत्व तक वाणी और बुद्धि नहीं पहुँच सकती। (२) यह मौन श्मशान का मौन नहीं है। यह वह मौन है जो जगत् के प्रति हमारे दृष्टिकोण में नया जीवन और नया अर्थ उत्पन्न करता है। अद्वैत में मोह और शोक कहाँ? (३) इस मौन को समझ लेने पर ही जीवन की सार्थकता है और इसी से सच्चा लोक संग्रह हो सकता है। प्लेटो का कन्दरा-मुक्त प्राणी वापस कन्दरा में दूसरों को मुक्त करने जाता हैं। इस मौन को समझने पर ही गीता का कर्मयोग समझा जा सकता है। इस श्रेणी पर पहुँचने पर ही भगवान् बुद्ध की भाँति यह कहा जा सकता है कि संसार के सब पाप मुझ पर आ जायें ताकि अन्य प्राणी इनके दुःखों के सेवन से बच सकें (४), इस श्रेणी पर पहुँचने पर ही बोधि सत्व की भाँति अपने निर्वाण को त्याग कर लोक-कल्याण किया जा सकता है, (५) इस श्रेणी पर ही भगवान् शिव और महात्मा सुक़रात की भाँति सहर्ष विष का प्याला पिया जा सकता है और महात्मा ईसा मसीह की भाँति सूली पर चढ़ा जा सकता है।

दर्शन के इस उत्कृष्ट और पूर्ण अर्थ को दृष्टि में रखते हुये अब हम महायान बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदान्त दर्शन का विशद विवेचन करेंगे।



---

(१) चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्नसंशयाः॥

(२) यत्र वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

(३) तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः?

(४) कलि कलुष कृतानि यानि लोके मयि तानि पतन्तु विमुच्यतां हि लोकः।

(५) मुच्य मानेषु सत्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

द्वितीय भाग : महायान बौद्ध दर्शन

द्वितीय अध्याय

शून्यवाद

आज से प्रायः ढ़ाई सहस्र वर्ष पूर्व भारत में उस विश्व विख्यात ज्योतिः-पुञ्ज ज्ञान-सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ था जो ज्ञान, करुणा, प्रेम और त्याग का मूर्तिमान् स्वरूप था ; जिसका हृदय संसार के दुःख और दयनीय दशा को देख कर द्रवीभूत हो गया था ; जिसने यह जाना कि विश्व के क्षणिक और दिखावटी सुख का ऊपरी स्तर एक भयंकर चिर-स्थायी सी वेदना पर टिका हुआ है ; जिसने यह अनुभव किया कि जगत् की कृत्रिम स्मितिरेखा के नीचे आधि, व्याधि, जरा और मरण की भीषण व्यथा का उपहास निहित है ; जिसने, निरंतर सत्य के शव पर मिथ्या का नर्तन देखते हुये भी टस से मस न होने वाले अज्ञानी जगत् के आंध्य से क्षुब्ध होकर, इस दुःख निरोध के मार्ग को खोज निकालने की दृढ़ प्रतिज्ञा की ; जिसने उन्तीस वर्ष की भरी युवावस्था में, शाक्य साम्राज्य की समृद्धि और वैभव को ठुकरा दिया, जिसने अपनी अनुपम सुन्दरी, सुशीला और गुणवती गृहिणी के अनवद्य प्रेम की भी उपेक्षा कर दी, और जिसे दम्पति-स्नेह-ग्रन्थि-भूत नवजात शिशु भी अभिनिष्क्रमण से न रोक सका ; जिसने जग के तीन व्यापक और दृढ़तम कनक, कामिनी और कीर्ति रूप बन्धनों की शृंखलाओं को तोड़ फेंका ; छ वर्षों के कठिन तप के पश्चात् मार विजय करने वाले जिस दुर्बल और कृशकाय व्यक्ति ने एक दिन गया के समीप बोधिवृक्ष के नीचे लेटे लेटे अज्ञान के घने अंधकार को दूर करने वाले ज्ञानसूर्य का साक्षात्कार किया ; जिसने फिर अपने साक्षात्कृत सत्य को—प्रतीत्यसमुत्पाद, चार आर्य सत्य और आर्य अष्टांगिक मार्ग को—बिना किसी जाति-पाँति, रूप रंग, स्त्री पुरुष, राजा रंक, ऊँच नीच, छोटे बड़े, धर्मी विधर्मी आदि के भेद भाव के सब

लोगों को सरल सुबोध भाषा में समझाया; और जिसे आज भी संसार श्रद्धा, आदर और गौरव के साथ भगवान् बुद्ध के नाम से स्मरण करता है। बौद्ध धर्म सम्पूर्ण भारत में फैला और अपनी जन्मभूमि की सीमा को लाँघ कर लंका, बर्मा, स्याम, मलाया, जावा, सुमात्रा, नेपाल, तिब्बत, मंगोलिया, कोरिया, चीन और जापान तक गया। भारत में लगभग डेढ़ सहस्र वर्षों तक व्याप्त रह कर और अनेक महान् दार्शनिक, तत्त्ववेत्ता, विचारक और सन्त पुरुषों को जन्म देकर अन्त में कालचक्र से अपनी जन्मभूमि से लुप्त हुआ। आधुनिक समय में अब फिर उसका पुनर्जन्म भारत में हो रहा है। यद्यपि अब राजकुमार सिद्धार्थ नहीं रहे, तथापि भगवान् बुद्ध आज भी विद्यमान हैं; यद्यपि अब बौद्ध धर्म भारत में व्यापक नहीं रहा, तथापि उसके मूल सिद्धान्त आज भी हिन्दू धर्म में विद्यमान हैं।

बुद्ध स्वयं ज्ञानी थे और उन्होंने ज्ञान का साग्रह प्रतिपादन किया। संसार का अर्थ भवचक्र या आवागमन है। यह क्षणिक और दुःखमय है। अविद्या संसार की जननी है और सब दुःखों का मूल कारण है। निर्वाण या मुक्ति का अर्थ इस भवचक्र से, इस आवागमन के चक्र से, इस प्रतीत्यसमुत्पाद के चक्र से मुक्त होना है। यह मुक्ति तभी हो सकती है जब संसार के मूल कारण अविद्या का नाश हो; और अविद्या का नाश केवल विद्या या ज्ञान द्वारा ही संभव है। अतः ज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ एवं पवित्र वस्तु है। 'बुद्ध' इस शब्द का अर्थ ही 'ज्ञानवान्' है। भगवान् बुद्ध की प्रसिद्ध उक्ति है: हे भिक्षुगण! जिस प्रकार लोग सोने को अग्नि में तपा कर, कसौटी में कस कर और अच्छी तरह ठोक पीटकर पूर्ण परीक्षा करने के बाद उसे खरा मानते हैं उसी प्रकार आप लोग मेरे वचनों को ज्ञानाग्नि में तपाकर, बुद्धिरूपी कसौटी में कसकर तथा उनकी हर प्रकार पूर्ण परीक्षा करके ही उन्हें ग्रहण करना, केवल मेरे प्रति आदर और श्रद्धा के कारण ही उन्हें सत्य मत मानना (१)।

(१) तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥

भगवान् बुद्ध के अनुसार ज्ञान की तीन श्रेणियाँ हैं। प्रथम और सबसे नीची श्रेणी पर ज्ञान का नाम 'दिट्ठी' अर्थात् 'दृष्टि' कहा जाता है। यह साधारण काम चलाऊ व्यवहार ज्ञान है। जब यह ज्ञान साधारण श्रेणी से ऊँचा उठता है और द्वितीय श्रेणी पर पहुँचता है तो इसे 'तक्क' (तर्क) 'वितक्क' (वितर्क) या 'विचार' कहते हैं। यह ज्ञान वैज्ञानिक और दार्शनिक है। तृतीय श्रेणी में जाकर ज्ञान सर्वोच्च तथा पूर्ण विकसित हो जाता है। यह अत्यन्त विशुद्ध स्वप्रकाश पूर्ण ज्ञान 'प्रज्ञा' या 'बोधि' कहलाता है। यही सत्य है और यही परम तत्त्व है। यही तर्क की सविकल्प और सापेक्ष सीमा को लाँघ कर चमकनेवाला निर्विकल्प और निरपेक्ष ज्ञान है। बुद्ध इसे गम्भीर, दुर्दर्श, दुरनुबोध, शान्त, तर्कातीत और स्वतःसिद्ध कहते हैं। (१) यह ज्ञान ग्रन्थ-गम्य या पुस्तक-प्राप्य नहीं है। यह वाग्जाल में बद्ध नहीं किया जा सकता। यहाँ संशय और मोह को स्थान नहीं। यह केवल अनुभव और साक्षात्कार का विषय है। तथागत सब प्राणियों के दिव्य नेत्र स्वरूप हैं। ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित मार्ग संशय, अज्ञान और मोह का मार्ग है; तथागत की दिव्य दृष्टि द्वारा साक्षात्कृत मार्ग ही सत्य का मार्ग है। (२) सुख-दुःख, पाप-पुण्य, सत्यासत्य आदि द्वन्द्व धर्म बुद्धिकृत होने के कारण मिथ्या हैं। साधारण प्राणी इस सत्य को न जानने के कारण भवचक्र में पड़े रहते हैं। अज्ञान में लिप्त रहते हुये भी वे ज्ञान की खोज नहीं करते। अन्धकार से घिरे रहते हुए भी वे दीपक नहीं ढूँढ़ते। (३) जब ज्ञानसूर्य उदित होता है तब अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। ज्ञान के समक्ष तर्क के सब संशय और विकल्प शान्त हो जाते हैं; उनका अन्तश्चेतना द्वारा समूल नाश नहीं होता, ज्ञान द्वारा केवल बाध होता है। ज्ञान सब विकल्पों और संशयों को समझा कर शान्त करता है। यहाँ न 'यह' है, न 'वह', न 'यह—वह'। (४) यहाँ न

(१) विनयपिटक, महावग्ग, ५

(२) सुत्तनिपातो, चूलवग्गो, वंगीससुत्त, ५

(३) धम्मपद, १४६

(४) वहीं, ३८५

गति है, न आगति, न स्थिति, न च्युति, न उत्पत्ति। (१) बुद्ध तत्त्व को उत्पाद-स्थिति-भंग-वर्ज्य कहते हैं। उनके मत में तत्त्व, वास्तविक दृष्टि से अनिर्वचनीय होते हुये भी, व्यावहारिक दृष्टि से जन्म, स्थिति एवं मृत्यु से रहित, अमृत, नित्य, अजात, अकृत और प्रपञ्चरहित है तथा जन्म, स्थिति और मृत्यु रूप, क्षणिक, जात, कृत एवं प्रपञ्च-स्वरूप जगत् का आधार है। अतः यह कथन कि बुद्धप्रतिपादित तत्त्व क्षणिक और परिवर्तन शील है, भारी भूल है (२)।

प्रश्न चार प्रकार के हो सकते हैं:—(३)

(१) वे जिनका उत्तर विधि या निषेध द्वारा निश्चय पूर्वक प्रत्यक्ष रूप से दिया जा सके। जैसे, क्या मनुष्य मरणशील है?—हाँ। इन्हें एकांश-व्याकरणीय कहते हैं।

(२) वे जिनका उत्तर समयपुरःसर और सोपाधिक रूप से दिया जा सके। जैसे, क्या मनुष्य ज्ञानी हैं?—कुछ हैं, कुछ नहीं। इन्हें विभज्य-व्याकरणीय कहते हैं।

(३) वे जिनके उत्तर के लिए प्रतिप्रश्न की आवश्यकता होती है। जैसे, क्या मनुष्य लंबा है?—किसकी अपेक्षा? इन्हें प्रतिपृच्छा व्याकरणीय कहते हैं।

(४) वे जिनका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। इन्हें स्थापनीय कहते हैं।

स्थापनीय प्रश्नों में वे प्रसिद्ध चौदह प्रश्न हैं जिनका उत्तर भगवान् बुद्ध ने मौन द्वारा दिया क्योंकि मानवी सविकल्प बुद्धि द्वारा उनका कोई निश्च-

---

(१) तदाहं भिक्षवे नेव आगतिं वदामि न गतिं न ठितिं न चुतिं न उप्पत्तिम्। —उदान, ७१ सुत्त

(२) यस्मा च खो भिक्षवे अत्थि अजातं अमतं अकतं असंखतं तस्मा जातस्स मतस्स कतस्स संखतस्स निस्सरणं पञ्जाय। —उदान, ७३ सुत्त

(३) अभिधर्मकोश, १९; लंकावतारसूत्र २,१७३

यात्मक एवं सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। वे प्रसिद्ध चौदह प्रश्न निम्नांकित हैं (१) :—

(१—४) : क्या जगत् नित्य है ? अथवा नहीं ? अथवा दोनों ? अथवा दोनों से भिन्न ?

(५—८) : क्या जगत् अन्तवान् है ? अथवा नहीं ? अथवा दोनों ? अथवा दोनों से भिन्न ?

(९—१२) : क्या तथागत देहत्याग के पश्चात् भी विद्यमान रहते हैं ? अथवा नहीं ? अथवा दोनों ? अथवा दोनों नहीं ?

(१३—१४) : क्या जीव और शरीर एक हैं ? अथवा भिन्न ?

भगवान् बुद्ध के इन प्रश्नों के उत्तर में मौन रहने को उनकी उत्तर देने की अयोग्यता अथवा निरुक्तिविरह नहीं समझना चाहिये और न उनका यह मौन, जैसा हीनयानी बौद्धोंका असत्य विचार है, जीव, जगत् और निर्वाण के अभाव का सूचक है। उनका मौन केवल यही सूचित करता है कि ये प्रश्न स्थापनीय हैं, व्याकरणीय नहीं। सविकल्प और सापेक्ष बुद्धि इनका उत्तर नहीं दे सकती। इनके पक्ष और विपक्ष दोनों सत्य और मिथ्या दोनों सिद्ध किये जा सकते हैं। बुद्धि इनके उत्तर में केवल विरोध को जन्म देती है और साथ ही साथ यह भी संकेत करती है कि केवल निर्विकल्प शुद्ध ज्ञान ही इनका उत्तर मौन या साक्षात्कार द्वारा दे सकेगा। पारमार्थिक दृष्टि से ये सब सत्, असत् और सदसद्भिन्न होने के कारण मिथ्या हैं किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हैं। ये प्रश्न पारमार्थिक दृष्टि से व्यर्थ हैं और व्यवहार में इनका कोई उपयोग नहीं। ये प्रश्न दुःखनिरोध के हेतु नहीं हैं और न ये आध्यात्मिकता में सहायक हैं। अतः विद्वान् को इनकी व्यावहारिक साधारण सत्ता स्वीकार करके सत्त्वशुद्धि, आध्यात्मिक उन्नति एवं दुःखनिरोध के मार्ग में अग्रसर होना चाहिये। (२) बुद्धवचन है कि—हे भिक्षुओं।

---

(१) देखिये दीघनिकाय, १, ६, ७ और ९

(२) वहीं, ६

जिन पदार्थों को विद्वान् 'सत्' बतलाते हैं उन्हें मैं भी 'सत्' मानता हूँ, और जिन पदार्थों को विद्वान् 'असत्' बतलाते हैं उन्हें मैं भी 'असत्' मानता हूँ। (१) हे भिक्षुओं! धर्म को जाननेवाला व्यक्ति कभी संसार का विरोध नहीं करता। (२)

भगवान् बुद्ध के ऐसे अनेक पवित्र उपदेश हीनयानियों ने अन्यथा समझे और उनका असत्य प्रतिपादन किया। हीनयान का सबसे अधिक विख्यात और महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय 'सर्वास्तिवाद' है जो "वैभाषिक" और "सौत्रान्तिक" आदि मतों में विभक्त है। यह सम्प्रदाय जगत् को केवल क्षण क्षण परिणामी वासनाओं का संघात और जीव को केवल प्रतिक्षणपरिणामी विचारधारा का संतान मानता है। निर्वाण का अर्थ सर्वथा विनाश मानता है। अभावमय तथा अपनी ही मुक्ति की कामना करनेवाले स्वार्थी 'अर्हत्' को सिद्ध समझता है। एक ओर तो हमें जीव और जगत् आदि सब वस्तुओं के अस्तित्व का लोभ दिखाता है और दूसरी ओर हमें केवल सन्तान और संघात के क्षणिक टुकड़ों से बहलाना चाहता है। एक ओर तो बुद्ध के मौन को जगत्, जीव और ईश्वर की सत्ता का निराकरण मानना, और दूसरी ओर बुद्ध शरीर के अंगप्रत्यंग को आराध्य मानकर उनके नख, केश, दन्त, भस्म एवं अस्थिखंडों पर भव्य मन्दिर बनाकर स्वयं बुद्ध की प्रतिमा को ईश्वर के आसन पर बिठा कर उसकी पूजा करना, क्या इस हीनयान सम्प्रदाय की जड़ों को नहीं हिला देता?

हीनयान के इन दोषों और विरोधों ने कुछ विद्वान् बौद्धों को इन विषयों पर गंभीर विचार करने को बाध्य किया। वे सोचने लगे कि वास्तव में क्या ये दोष और विरोध बुद्धवचनों में हैं या हीनयानियों द्वारा अन्यथा प्रतिपादित सिद्धान्तों में? वे विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हीनयानियों द्वारा अनुचित रीति से अन्यथा प्रतिपादित सिद्धान्तों में ही ये दोष और विरोध आते हैं,

(१) संयुत्तनिकाय, ३,१३८,

(२) वहीं

बुद्धसम्मत सिद्धान्तों में नहीं। बुद्ध भगवान् ने पात्र की योग्यता के अनुसार उसे उपदेश दिया। बुद्धवचनों में यदि कहीं विरोध की झलक दिखाई दे तो उसे वास्तविक विरोध नहीं समझना चाहिये। दयालु भगवान् बुद्धि ने अपने उपाय-कौशल्य द्वारा भिन्न भिन्न रुचि और भिन्न भिन्न बुद्धि वाले शिष्यों को भिन्न भिन्न उपदेश दिया। हीनयानानुयायी श्रावकों और प्रत्येकबुद्धों को सत्त्वशुद्धि के लिये कर्म और उपासना का उपदेश दिया और केवल महायानानुयायी बोधिसत्वों को उन्होंने ज्ञान का असली उपदेश दिया। यह बात ध्यान में रखने की है कि इन बौद्धों ने अपने आपको महायानी कहा और दूसरे बौद्धों को हीनयानी शब्द से सम्बोधित किया।

महायान को सम्प्रदाय एवं सुसम्बद्ध मत का रूप देने वाले प्रथम आचार्य अश्वघोष हैं। यह खेद की बात है कि उनकी महान् कृति 'महायानश्रद्धोत्पाद शास्त्र' अब मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ का आचार्य परमार्थ ने चीनी भाषा में अनुवाद किया था जो उपलब्ध है। इस चीनी अनुवाद के टी-सुज़ुकी ने और टी-रिचार्ड ने आंग्लभाषा में अनुवाद किये हैं। हमारा आचार्य अश्वघोष के दर्शन का अध्ययन अधिकतर इन्ही दो अनुवादों पर निर्भर है। आधुनिक विद्वान् ताकाकुसु और विन्टरनित्ज़ के मत से आचार्य अश्वघोष इस शास्त्र के लेखक नहीं हैं। किन्तु हम इन विद्वानों के मत से सहमत नहीं हैं। प्रोफ़ेसर सुज़ुकी ने परम्परागत चीनी सम्प्रदाय की पुष्टि करते हुये जो प्रमाण आचार्य अश्वघोष को इस शास्त्र के लेखक सिद्ध करने के लिये दिये हैं उन्हें हम मान्य समझते हैं। इस शास्त्र के अतिरिक्त आचार्य अश्वघोष ने 'सौन्दरनन्द' और 'बुद्धचरित' नामक संस्कृत के महाकाव्य भी लिखे हैं जो सौभाग्य से उपलब्ध हैं। उनकी एक और कृति 'शारिपुत्रप्रकरण' के कतिपय तालपत्र लिखित अंश तुर्फ़ान नामक स्थान में प्राप्त हुये हैं।

आचार्य अश्वघोष महाराज कनिष्क (ईसवीय प्रथम शताब्दी) के समकालीन थे। कुछ विद्वान् अश्वघोष को हीनयान सम्प्रदाय के आचार्य मानते हैं। उनके मत में सौन्दरनन्द और बुद्धचरित में हीनयान का प्रति-

पादन है। किन्तु ये विद्वान् इस बात को भूल जाते हैं कि अश्वघोष महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र के भी लेखक हैं। यह सत्य है कि सौन्दरनन्द और बुद्धचरित में हीनयान के कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, किन्तु साथही हमें इन ग्रन्थों में महायान की झलक भी स्पष्ट दिखाई देती है। अश्वघोष बुद्ध को महायान के अनुसार, "स्वयंभू, जगत्पति, महायानसमाश्रित, सर्वधर्माधिप तथा सर्वलोकाधिप प्रभु" मानते हैं। (१) बुद्धचरित में ही उनका स्पष्ट कथन है कि—इस उत्कृष्ट महायानधर्म का सब लोगों के कल्याण के लिये सब बुद्धों ने प्रचार किया है। (२) अतः यह सिद्ध होता है कि अश्वघोष प्रारंभ में हीनयानी थे और हीनयान से असन्तुष्ट होकर वे महायान की ओर झुके। उनके समय में महायान के कुछ मूल सूत्र-ग्रन्थ जिन्हें वैपुल्यसूत्र कहते हैं विद्यमान थे। इनसे प्रभावित होकर अश्वघोष ने महायान स्वीकार किया और इन सूत्र-ग्रन्थों में प्रतिपादित महायान को सुसम्बद्ध मत का रूप देने के लिये महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र लिखा। यह शास्त्र सौन्दरनन्द और बुद्धचरित के बाद की कृति है। इसी शास्त्र के कारण हम अश्वघोष को महायान को सुसम्बद्ध मत का रूप देने वाले प्रथम आचार्य मानते हैं। स्वयं अश्वघोष ही अपने शास्त्र के प्रारंभ में कहते हैं कि—बुद्धनिर्वाण के पश्चात् भगवान् बुद्ध के उपाय कौशल्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के वास्तविक अर्थ को समझने वाले व्यक्ति बहुत कम थे। अधिकांश लोगों ने बुद्धोपदेश को अन्यथा समझा। अतएव प्रस्तुत शास्त्र का उद्देश्य पृथग्जनों एवं हीनयानी श्रावकों तथा प्रत्येकबुद्धों के विपरीत मतों को दूर करके तथागत द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों के वास्तविक अर्थ को खोलना है। (३)

---

(१) बुद्धचरित : १६, ६४—७५

(२) इदं मार्षा महायानं सम्बुद्धधर्मसाधनम्।
सर्वसत्त्वहिताधानं सर्वबुद्धैः प्रचारितम् ॥—बुद्धचरित १६, ८५

(३) सुज़ुकीः महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र, पृष्ठ ४७, रिचार्डः पृष्ठ १ का आंग्लभाषानुवाद

आचार्य अश्वघोष के अनुसार आदि तत्त्व 'तथता' है। यह निर्विकार और सदा एक सा रहता है। सत्ता की दृष्टि से इस तथता को 'भूत तथता' कहते हैं; बोध की दृष्टि से 'बोधि', 'प्रज्ञा' या 'आलयविज्ञान'; व्यापकता की दृष्टि से 'धर्मकाय' या 'धर्मधातु' तथा आनन्द की दृष्टि से 'तथागतगर्भ'। व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर यह संसार या जन्ममृत्युचक्र है; पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर यही निर्वाण और अनन्त आनन्द है। यह वास्तव में अनिर्वचनीय है क्योंकि वाणी और बुद्धि की पहुँच के बाहर है। यह न सत् है, न असत्, न सदसत्, न सदसद्भिन्न; यह न एक है, न अनेक, न एकानेक, न एकानेक भिन्न; यह न शून्य हैं, न अशून्य, न शून्याशून्य, न शून्याशून्यभिन्न। तत्त्व अनिर्वचनीय होते हुए भी स्वयं अभावात्मक या असद्रूप नहीं है क्योंकि अनुभवविषय है। विश्व अनिर्वचनीय होने से मिथ्या है, किन्तु असद्रूप नहीं क्योंकि व्यवहार में सत्य है। विश्व का पारमार्थिक मिथ्यात्व ही इसके व्यावहारिक सत्यत्व को सिद्ध करता है। जगत् की प्रत्येक वस्तु सापेक्ष और सविकल्प है। कारण से कार्य होता है; "इसके होने पर, यह होता है" (अस्मिन् सति, इदं भवति)। इस परस्परसंभवन और अन्योन्यापेक्षा को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। यह अविद्या पर निर्भर है। अविद्या और उसके कार्य सब मिथ्या हैं। अतः जगत् मिथ्या है। केवल इसका आधारभूत तत्त्व ही सत्य है।

तत्त्व बुद्धिग्राह्य नहीं। जब कोई पुरुष बुद्धि की सीमा को लाँघ कर आगे बढ़ता है तो वह बुद्ध-ज्ञान की ओर अग्रसर होता है (१) किन्तु साथ ही साथ ज्ञान बुद्धि का विनाश नहीं है। बुद्धि की सहायता से ही हम ज्ञान की ओर बढ़ सकते हैं। यदि हम बुद्धि का गला घोट दें तो ज्ञान का द्वार हमारे लिये सदा बन्द रहेगा। (२) स्वयं ज्ञान ही अविद्या के कारण बुद्धि रूप से भासित

(१) सुज़ुकी : पृष्ठ ११२ ; रिचार्ड : पृष्ठ ७
(२) रिचार्ड : पृष्ठ १०

होता है। स्वयं तत्त्व ही अविद्या के कारण संसार रूप से भासित होता है। अश्वघोष कहते हैं कि जिस प्रकार समुद्र का शान्त जल, वायु की उपाधि के कारण, अनेक तरंगों के रूप में प्रतीत होता है, उसी प्रकार विशुद्ध ज्ञानरूप तत्त्व, अविद्या के कारण, अनेक परिमित बुद्धि वाले व्यवच्छिन्न जीवों के रूप में भासित होता है।(१) जिस प्रकार मृत्तिका, उपाधि भेद से, नाना प्रकार के घट कलशादि रूपों में भासित होती है, उसी प्रकार विशद्ध ज्ञानरूप तत्त्व, उपाधि भेद से, अनेक जीवों के रूप में भासित होता है। (२) मूल तत्त्व 'भूततथता' वास्तव में निर्विकल्प, निर्विकार और निरुपाधि है। अविद्यामिश्रित होते ही यह 'भूततथता', सविकल्प, सविकार और 'सोपाधितथता' के रूप में प्रतिभासित होती है। विषयी जीव और विषय जगत् के रूप में भासित यह सम्पूर्ण संसार इसी 'सोपाधितथता' की लीला है। (३) जब ज्ञान प्राप्त होता है तब यह अनुभव हो जाता है कि बुद्धि युक्त विषयी जीव और विषय जगत् वास्तव में निरुपाधि भूततथता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। यही बुद्ध-ज्ञान है। यही परमानन्द है। यही अमृत रूप तत्त्व है। इसका साक्षात्कार ही जीवन का परमार्थ है। यही परम धर्म है। इस तत्त्व को अश्वघोष "शान्त, शिव, नैष्ठिक और अच्युत पद" कहते हैं। (४) बुद्धरूपी ज्ञान-सूर्य जगत् के मोहान्धकार को नष्ट करने के लिये उदित होते हैं। (५) जीवन्मुक्त बोधिसत्त्व शान्त और शिव धर्म का साक्षात्कार करके नैष्ठिक और अच्युत पद प्राप्त कर लेता है; उसके लिये कोई कर्तव्य कार्य शेष नहीं रहता;

---

(१) रिचार्ड: पृष्ठ ८

(२) वहीं; पृ० ११

(३) वहीं: पृ० ११-१२

(४) क्षेमं पदं नैष्ठिकमच्युतं तत्। शान्तं शिवं साक्षिकुरुष्व धर्मम्।

—सौन्दरनन्द १६, २६-२७

(५) जगत्ययं मोहतमो निहन्तुं ज्वलिष्यति ज्ञानमयो हि सूर्यः। बुद्धचरित १, ७४

तथापि वह दयालु अपनी मुक्ति की कामना न करता हुआ लोकसंग्रह के लिये, दुःखी और अज्ञानी प्राणियों की मुक्ति के लिये, सतत प्रयत्नशील रहता है। (१)

महायान सम्प्रदाय के किसी भी मत का कोई भी मुख्य सिद्धान्त ऐसा नहीं है जो बीज रूप से आचार्य अश्वघोष के दर्शन में न मिल सके। संसार व्यवहारतया सत्य होते हुये भी परमार्थतया मिथ्या है क्योंकि बुद्धि द्वारा न यह 'सत्' सिद्ध किया जा सकता हैं, न 'असत्', न 'उभय' न 'नोभय'; तथा तत्त्व भी, बुद्धि द्वारा पूर्णतया प्रतिपादित न होने के कारण, बुद्धि की 'शून्य', 'अशून्य', 'शून्याशून्य' और 'शून्याशून्यभिन्न' रूपी चार कोटियों द्वारा ग्राह्य न होने के कारण 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' और 'अनिर्वचनीय' है तथा केवल स्वानुभूति का विषय है—यह सिद्धान्त शून्यवाद या माध्यमिक सम्प्रदाय द्वारा विकसित किया गया; और तत्त्व विशुद्धविज्ञान स्वरूप है—यह सिद्धान्त विज्ञानवाद या योगाचार सम्प्रदाय द्वारा विकसित किया गया।

स्पष्ट है कि आचार्य अश्वघोष पर उपनिषद् की और वेदान्त सम्प्रदाय की कितनी गहरी छाप है : समुद्र और तरंगों का, मृत्तिका और घटादिकों का दृष्टान्त, नाम रूप मय जगत् की पारमार्थिक सत्ता का खण्डन तथा उसकी व्यावहारिक सत्ता का प्रतिपादन, तत्त्व को विशुद्ध ज्ञान स्वरूप और अनिर्वचनीय मानना, बुद्धि को – सापेक्ष और सविकल्प बुद्धि को अविद्या के कारण भासित होने वाला विशुद्ध ज्ञान मानना, जगत् को 'सोपाधितथता' अर्थात् ईश्वर या सगुण ब्रह्म की 'लीला' मानना, एवं विषयी जीव तथा विषय जगत् को वास्तविक दृष्टि से 'निरुपाधितथता' अर्थात् निर्गुण ब्रह्म मानना आदि सिद्धान्त उपनिषत् सिद्धान्त तो हैं ही।

इस पृष्ठभूमि के पश्चात् अब हम शुन्यवाद का विवेचन करते हैं। शून्य-वाद बौद्ध दर्शन का एक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है। नागा-

---

(१) अवाप्तकार्योंऽसि परां गतिं गतो न तेऽस्ति किंचित् करणीयमण्वपि।
अतःपरं सौम्य चरानुकम्पया विमोक्षयन् कृच्छ्रगतान् परानपि॥
—सौन्दरनन्द १८, ५४.

र्जुनाचार्य इस सम्प्रदाय के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते क्योंकि इसका उल्लेख और प्रतिपादन नागार्जुन के पूर्वकालिक महायान सूत्रों में—जिनमें कुछ सूत्र आचार्य अश्वघोष के भी पूर्वकालिक हैं—और आचार्य अश्वघोष के दर्शन में मिलता है। यद्यपि आचार्य नागार्जुन शून्यवाद के मूलप्रवर्तक नहीं हैं तथापि वे इस वाद को सम्प्रदाय का रूप देने वाले प्रथम आचार्य हैं। शून्यवाद के असम्बद्ध और अस्त व्यस्त विचारों को सर्व प्रथम दार्शनिक रूप में पूर्ण विकसित करने एवं उनको सुसम्बद्ध और सुसंगृहीत करने के पश्चात् कुछ अपने मौलिक विचारों से उन्हें पुष्ट करके शून्यवाद को प्रतिष्ठित दार्शनिक सम्प्रदाय का रूप देने का सम्पूर्ण श्रेय आचार्य नागार्जुन को ही है।

शून्यवादी स्वयं को माध्यमिक कहते हैं। माध्यमिक शब्द का अर्थ मध्यम मार्ग का अनुयायी है। यह मध्यम मार्ग, अरस्तू के 'स्वर्णिम मध्यम' (Golden Mean), हीगल के 'सम्पक्ष' (Synthesis), तथा वेदान्त के 'समन्वय' की भाँति, सत् और असत्, शून्य और अशून्य, भाव और अभाव, पुण्य और पाप आदि समस्त द्वन्द्वों में अर्थात् पक्ष और विपक्ष दोनों में सूत्र रूप से, अन्तर्यामी रूप से, व्याप्त रह कर उनको जीवन और ज्योति देता हुआ, उनका आधार और अधिष्ठान बनता हुआ भी, उनसे विलक्षण और परे है। यही तथागताभिसम्बुद्ध मध्यमा प्रतिपद् है जिसके पूर्ण विकास का श्रेय माध्यमिक दर्शन को है। यह ध्यान देने की बात है कि मध्यम मार्ग पक्ष और विपक्ष रूपी दो अन्तों के बीच में सविकल्प बुद्धि-ग्राह्य मार्ग नहीं है। इसे 'मध्यम मार्ग' कहना वाणी का आडम्बर मात्र है। यह तो बुद्धगम्य एवं अनुभूतिविषय, छुरे की प्रखर धारा पर चलने के समान कठिन, उपनिषद्-दर्शित "दुर्गम पथ" हैं। इस मार्ग को बुद्धि की कोटि या ग्राह समझना भयंकर भूल है। समाधिराजसूत्र में कहा गया है कि—पण्डित पक्ष और विपक्ष रूपी दोनों अन्तों को पार करके मध्य-स्थान में चिपक कर नहीं ठहर जाता, वह उसे भी पार कर जाता है। (१)

---

(१) तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा मध्येपि स्थानं न करोति पण्डितः।

—पृष्ठ ३०

महान् आश्चर्य की बात है कि कई प्राचीन और अर्वाचीन विद्वान् इस विशुद्ध मध्यम मार्ग के अनुयायी माध्यमिक पर 'असत्' रूपी 'शून्य' का प्रतिपादन करने वाले 'नास्तिक' होने का मिथ्या लाञ्छन लगाते हैं!

अभाग्यवश 'शून्य' शब्द का प्रचलित साधारण अर्थ शून्यवाद को अन्यथा समझने में बहुत सहायक हुआ है। शून्यवादी 'शून्य' शब्द का नितान्त भिन्न अर्थ लेते हैं। इन दोनों अर्थों में रात दिन का अन्तर है। 'शून्य' शब्द का साधारण प्रचलित अर्थ लेकर अनेक विद्वान्, पौरस्त्य और पाश्चात्य, प्राचीन और अर्वाचीन, शून्यवाद को सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्धअसन्नास्तित्व सिद्ध करने के मिथ्या और व्यर्थ प्रयास में कटिबद्ध हुये हैं। माध्यमिक दर्शन में 'शून्य' शब्द का अर्थ, हम प्रबल आग्रह के साथ कहते हैं, 'अनिर्वचनीय' है। 'शून्य' एक दुधारी तलवार है। इसके दो रूप हैं, दो दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टि से 'शून्य' का अर्थ है 'स्वभावशून्य', और दूसरी दृष्टि से इसका अर्थ है 'प्रपञ्चशून्य'। यह 'सत्य' भी है और 'मिथ्या' भी; यह 'तत्त्व' भी है और 'माया' भी; यह 'निर्वाण' भी है और 'संसार' भी; यह 'परमार्थ' भी है और 'व्यवहार' भी। तत्त्व अनिर्वचनीय है क्योंकि वाणी और बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकतीं; संसार भी अनिर्वचनीय है क्योंकि वह न सत् है, न असत्, न सदसत्, न सदसद्भिन्न। संसार 'अनिर्वचनीय' होने के कारण 'मिथ्या' है; किन्तु तत्त्व 'अनिर्वचनीय' होने के कारण 'सत्य' है क्योंकि वह स्वानुभूति अर्थात् विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है। तत्त्व ही अविद्या के कारण संसार प्रतीत होता है, और संसार ही विद्या से तत्त्व जान लिया जाता है। निर्वाण और संसार में कोई अन्तर नहीं, केवल दृष्टिकोण का भेद है। संसार "स्वभावशून्य" है और तत्त्व "प्रपञ्चशून्य"। संसार सोपाधि, सापेक्ष एवं सविकल्प है। जो उपाधि, अपेक्षा और विकल्प पर स्थित है उसकी कभी स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती। क्या माँगी हुई वस्तु अपनी हो सकती है? क्या उधार लिया हुआ धन अपना धन हो सकता है? क्या व्यावहारिक सत्ता वास्तविक सत्ता हो सकती है? 'सत्ता', 'स्वभाव', 'आत्मा', ये शब्द त्रिकालाबाध अस्तित्व के

सूचक हैं जो सर्वदा निर्विकार और एक सा रहता है। संसार की प्रत्येक वस्तु सापेक्ष होने से प्रतीत्यसमुत्पन्न है और प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से मिथ्या है। और जो मिथ्या है वह वास्तव में स्वभावशून्य, सत्तारहित और अनात्म है। किन्तु 'स्वभावशून्य' 'स्वभाव' की ओर संकेत करता है। यह 'स्वभाव' सदा सत्य निर्विकार तत्त्व है। यह शान्त, शिव, गंभीर और पूर्ण है। यहाँ सम्पूर्ण विकार, विकल्प, उपाधि, अपेक्षा, प्रपञ्च शान्त हो जाते हैं। यह स्वानुभूति या विशुद्धज्ञान स्वरूप अद्वय तत्त्व "प्रपञ्च शून्य" है। अतः स्पष्ट है कि 'शून्य' शब्द का अर्थ 'असत्' या केवल 'अभाव' कदापि नहीं है। शून्य का अर्थ है अनिर्वचनीय। संसार और निर्वाण दोनों अनिर्वचनीय हैं। किन्तु प्रथम अनिर्वचनीय होने से मिथ्या है और द्वितीय सत्य। अतः संसार के लिये प्रयुक्त शून्य शब्द का अर्थ है प्रतीत्यसमुत्पन्न या स्वभावशून्य, और निर्वाण के लिये प्रयुक्त शून्य शब्द का अर्थ है अद्वय तत्त्व या प्रपञ्चशून्य।

सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र की उक्ति है—जो पुरुष यह नहीं जानते कि जगत् का अर्थ अन्योन्यापेक्षा या परस्परसंभवन है, जो प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ नहीं समझते, वे मूर्ख, जात्यन्धों की भाँति, इस दुःखमय आवागमन के चक्र में घूमा करते हैं। जो यह जानते हैं कि सम्पूर्ण जगत्पदार्थ व्यावहारिक और इसलिये स्वभाव-शून्य हैं, वे बुद्ध-ज्ञान या बोधि की ओर अग्रसर होते हैं। जो सम्पूर्ण धर्मों को अर्थात् विषयी जीव और विषय जगत् के सम्पूर्ण बुद्धिग्राह्य पदार्थों को (यह ध्यान में रखने की बात है कि बौद्ध दर्शन में 'धर्म' शब्द अधिकतर अपने प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त न होकर 'जीवजगन्मय सम्पूर्ण बुद्धिग्राह्य पदार्थ' के अर्थ में प्रयुक्त होता है) माया और स्वप्न के समान मिथ्या, कदली-स्कन्ध के समान निःसार, प्रतिध्वनि के समान अलीक मानते हैं, जो वास्तव में सब पदार्थों को बन्धमोक्षहीन मानते हैं, जो यह जानते हैं कि पारमार्थिक दृष्टि से संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं तथा इस दृष्टि से सब सम हैं, सब निश्चित रूप में सर्वदा सम हैं, केवल

'समत्व' का ही सार्वभौम साम्राज्य है, वे भगवान् बुद्ध द्वारा सम्बुद्ध शिव और अमृत रूप निर्वाण का साक्षात्कार करते हैं। (१)

अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र में बारम्बार विशेष आग्रह के साथ यह प्रतिपादन किया गया है कि प्रत्येक बुद्धिगम्य पदार्थ तत्त्वचिन्ताके सम्मुख नहीं टिक सकता, विचार के तीव्र आघातों को नहीं सह सकता, खण्डन के तीव्र प्रहारों के आगे अपने अस्तित्व को स्थिर नहीं रख सकता। किसी भी बुद्धिगम्य वस्तु को तत्व मानते हो उसकी नैसर्गिक आपेक्षिक स्थिति स्वयं ही अन्तर्निहित विरोध को जन्म देगी और यह विरोध उस वस्तु के सत्य कहलाने के दावे का गला घोट देगा। 'सत्य' रूपी सिंह-चर्म पहनने वाला वह पदार्थ वास्तव में 'मिथ्या' रूपी गर्दभ निकलेगा। किसी भी वस्तु का बुद्धिगम्य होना ही उसके पारमार्थिक मिथ्यात्व का द्योतक है। अतः बुद्धिगम्य सब पदार्थ वास्तविक सत्ताशून्य अर्थात् स्वभावशून्य हैं। उनकी सत्ता आपेक्षिकी है। स्कन्ध, पुद्गल, बोधिसत्त्व, महायान, प्रज्ञापारमिता, यहाँ तक कि स्वयं बुद्ध और निर्वाण भी—जहाँ तक वे बुद्धिग्राह्य हैं—अन्त में मिथ्या और स्वभावशून्य सिद्ध होते हैं। यदि निर्वाण से भी विशिष्ट कोई अन्य पदार्थ बुद्धि द्वारा सोचा जा सके तो वह भी मिथ्या ही होगा। (२) बुद्धि द्वारा विवेचित सब पदार्थ स्वप्नवत्, प्रतिध्वनिवत्, प्रतिबिम्बवत्, मायावत् स्वभावशून्य हैं। (३)

---

(१) सर्वधर्माः समाः सर्वे समाः समसमाः सदा।
एवं ज्ञात्वा विजानाति निर्वाणममृतं शिवम्॥

—सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, पृ० १४३

(२) यदि निर्वाणादप्यन्यः कश्चिद् धर्मो विशिष्टतरः स्यात् तमप्यहं मायोपमं स्वप्नोपममिति वदेयम्।

——अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, पृ० ४०.

(३) वही, पृ० ३९, १९६, २९८, २०५, २७९, ४८३,४८४ आदि।

इसी प्रकार **शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र** भी सब धर्मों को, सब बुद्धिगम्य पदार्थों को, स्वभावशून्य कहता है। सब धर्म मायोपम हैं, स्वप्नोपम हैं, प्रतिश्रुत्कोपम हैं, प्रतिभासोपम हैं। न उत्पत्ति है, न निरोध है; न हानि है, न वृद्धि है; न संसार है, न निर्वाण है; न भाव है, न अभाव है; न शून्य है, न अशून्य है। (१) सब धर्म नामरूपमय हैं। नामरूपमय होने से मायामय हैं क्योंकि नामरूप ही माया है और माया ही नामरूप है। (२) माया न सत् है, न असत्, न सदसत्। माया का लक्षण विचारासहत्व है। इसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, इसका कोई अपना स्थान नहीं। (३) सब धर्मों की सत्ता व्यावहारिक है। अतः सब धर्म प्रज्ञप्तिधर्म हैं। इनकी न उत्पत्ति है, न निरोध। ये केवल व्यावहारिक संकेत हैं। (४)

लंकावतार, (५) **ललितविस्तर**, (६) **समाधिराज**, (७) एवं **सुवर्णप्रभास** सूत्र (८) भी एक स्वर से सब बुद्धिग्राह्य धर्मों को स्वप्न, मरीचिका, माया, शशशृङ्ग, वन्ध्यापुत्र, गन्धर्वनगर, द्विचन्द्रदर्शन, प्रतिबिम्ब, प्रतिध्वनि, तैमिरिकदृष्टि, अलातचक्र, इन्द्रजाल आदि के समान असत्य बतलाते हैं।

---

(१) शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, पृ० ११९. १२०, १८५, २६२,

(२) नामरूपमेव माया मायैव नामरूपम्।—वही, पृ० ८९८

(३) मायायाः पदं न विद्यते।—वही, पृ० १२०६

(४) वही, पृ० ३२५। (५) पृ० २२, ५१, ६२, ८४, ८४ ९०-९५, १०५ आदि

(६) पृ० १७६-१७७, १८१। (७) पृ० २७, २६

(८) पृ० ३१, ३२, ४४

(९) चातुष्कोटिकं च महामते लोकव्यवहारः। लंकावतार पृष्ठ १८८

लंकावतार सूत्र कहता है कि बुद्धि केवल विकल्प, विकार, अपेक्षा, भेद, व्यवच्छेद, द्वैत को ग्रहण कर सकती है, तत्त्व या सत्य को कदापि नहीं। सम्पूर्ण लोकव्यवहार बुद्धि की चार कोटियों में समाता है। (१) ये चार कोटियाँ हैं—(१) सत् या 'अस्ति', (२) असत् या 'नास्ति', (३) सदसत् या 'अस्ति च नास्ति च' और (४) सदसद्भिन्न या 'न चास्ति न च नास्ति'। इन चार कोटियों के जाल में फँसे रहने वाले साधारण व्यक्ति तत्त्व-साक्षात्कार के लिये शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते। ज्ञान के दो रूप हैं : सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प सापेक्ष ज्ञान को तर्क कहते हैं, और निर्विकल्प निरपेक्ष ज्ञान को प्रज्ञा। तर्क का नाम ही बुद्धि, मति या युक्ति है। यह स्वयं विषयी बनकर प्रत्येक वस्तु को विषय के रूप में ग्रहण करता है। अतः यह स्वयं को अन्योन्यापेक्षा के जाल से नहीं छुड़ा सकता। निर्विकल्प निरपेक्ष, निराभास, निर्गुण और निर्विशेष तत्त्व कभी विषयरूप से नहीं ग्रहण किया जा सकता। अतः वह तर्क का विषय नहीं। उसका साक्षात्कार तो केवल विशुद्ध ज्ञान या प्रज्ञा ही कर सकती है।(२) तार्किक तत्त्व को नहीं जान सकते। वे कुत्तों की तरह आपस में लड़ना जानते हैं। तर्कदोष और तर्कविभ्रम के कारण वे तत्त्व को नहीं देख सकते।(३) जिस प्रकार हाथी गहरे कीचड़ में फँस जाते हैं, उसी प्रकार मूर्खलोग वाग्जाल और तर्काडम्बर में, व्यञ्जन में, पद में, पदसमूह में, और विशेषतः नामरूप के चक्र में, वाणी और बुद्धि के भयंकर पंक में फँसे रहते

---

(१) चातुष्कोटिकं च महामते लोकव्यवहारः।

—लंकावतार, पृ० १८८

(२) चित्तं विषयसम्बन्धं ज्ञानं तर्के प्रवर्तते। निराभासेऽविशेषे च प्रज्ञा वै संप्रवर्तते।—वहीं, पृ० १३०।

(३) श्वभूताः कुतार्किकाः।...तत्त्वं न पश्यन्ति तार्किकास्तर्कविभ्रमात्।—वहीं पृ० १६७ और २७४

हैं। (१) कारण और कार्य, नित्य और अनित्य, एक और अनेक, वाच्य और अवाच्य, आत्मा और अनात्मा, रूप और अरूप, बन्ध और मोक्ष आदि सम्पूर्ण मत-मतान्तर स्थूल या लोकायत दर्शन हैं, सूक्ष्म या तात्त्विक दर्शन नहीं। तात्त्विक दर्शन में हमें बुद्धि की कोटियों से परे जाना पड़ता है। (२)

आचार्य **नागार्जुन** के तीव्र खण्डनप्रहारों के आगे सारे बुद्धिग्राह्य पदार्थ अपनी धज्जियाँ उड़ाते हुये खण्ड खण्ड होकर ढ़ह जाते हैं। उनकी नितान्त सूक्ष्म तर्कपद्धति के आगे जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ तथा बुद्धि की समस्त धारणायें स्वभावशून्य और मिथ्या प्रतीत होती हैं। गति, कारण, कार्य, विषयी, विषय, दिक्, काल, पदार्थ, स्कन्ध, धातु, दुःख, स्वभाव, कर्म, बन्ध, मोक्ष, आर्य-सत्यचतुष्टय, सद्धर्म और स्वयं बुद्ध तक मिथ्या बौद्धिक धारणायें मात्र सिद्ध होते हैं। किन्तु व्यवहार में सब सत्य हैं।

आचार्य नागार्जुन अपने महान् ग्रन्थ 'माध्यमिक कारिका' के मंगलाचरण में ही अपने प्रसिद्ध 'अष्ट निषेध' प्रस्तुत कर देते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से (१) न निरोध है, (२) न उत्पत्ति ; (३) न अनित्य है, (४) न नित्य ; (५) न एक है, (६) न नाना है, (७) न आना है (८) न जाना। जो लौकिक दृष्टि से 'प्रतीत्य समुत्पादचक्र' दुःखमय भवचक्र है, वही वास्तविक दृष्टि से परम मंगलमय एवं परमानन्दस्वरूप 'तत्त्व' है जहाँ समस्त प्रपंच शान्त हो जाते हैं। (३)

---

(१) व्यञ्जने पदकाये च नाम्नि चापि विशेषतः। बाला मज्जन्ति दुर्मेधा महापंके यथा गजाः।—वहीं, पृष्ठ ११३

(२) वहीं पृ० १७६-७

(३) अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्।
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥
—माध्यमिककारिका, पृ० ११

आचार्य नागार्जुन अजातिवाद की गम्भीर शंखध्वनि से अपना ग्रन्थ प्रारम्भ करते हैं। प्रथम कारिका में ही वे अपना सिद्धान्त स्पष्ट कर देते हैं—कोई भी पदार्थ कभी, कहीं और कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता; कोई पदार्थ न अपने आप (स्वतः) उत्पन्न हो सकता है, न दूसरे के कारण (परतः), न अपने और दूसरे दोनों के कारण (द्वाभ्यां), और न बिना कारण (अहेतुतः)। (१) कोई भाव स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि यदि कार्य अपने कारण में पहले ही स्थित है (सत्कार्यवाद) तो वह कार्य पहले ही एक 'उत्पन्न' और 'विद्यमान' पदार्थ है जिसकी पुनरुत्पत्ति मानना व्यर्थ है; और यदि कार्य अपने कारण में पहले ही स्थित नहीं है (असत्कार्यवाद) तो वह कार्य कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि वह वन्ध्यापुत्र तथा शश-शृङ्ग के समान् असत् है। अतः सिद्ध है कि कोई भाव स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकता। और जब कोई भाव अपने आप ही उत्पन्न नहीं हो सकता तो दूसरे के कारण कैसे उत्पन्न हो सकता है? तथा यह कथन कि कोई भाव स्वतः और परतः दोनों के कारण उत्पन्न होता है युक्तिविरुद्ध है क्योंकि प्रकाश और अन्धकार की भाँति, स्वतः और परतः दोनों एक साथ एक स्थान में कभी नहीं रह सकते। एवं किसी भाव को अहेतुक उत्पत्ति निश्चय ही असम्भव है। अतः जाति असम्भव है।

फिर नागार्जुन हीनयानियों के प्रत्यय-चतुष्टय की समीक्षा प्रारंभ करते हैं। हीनयानी चार प्रत्यय मानते हैं—(१) 'हेतु' या उत्पत्ति कारण, (२) 'आलम्बन' या विषय, (३) 'समनन्तर' या उत्पत्ति के पूर्व का क्षण, एवं (४) 'अधिपति' या निर्णायक नियम। नागार्जुन इनका खण्डन करते हैं। कारण की सिद्धि के लिये यह आवश्यक है कि उसका कोई सत्त्व हो। और जब यह कहा जा चुका है कि न तो सत् और न असत् ही उत्पन्न हो सकते हैं तो फिर कारण का सत्त्व कैसे हो सकता है? तथा सत्त्वहीन कारण असम्भव

---

(१) न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥—वहीं, १।१

है। अतः हेतु असिद्ध है। आलम्बन भी असिद्ध है क्योंकि विषय के लिये आवश्यक है कि पूर्व में विषयी विद्यमान हो और जब विषयी विषय से पूर्व विद्यमान है तो फिर पश्चात् वह कैसे विषय का आश्रय ले सकता है? समनन्तर भी असिद्ध है क्योंकि जब किसी भी भाव की कभी और कहीं उत्पत्ति ही नहीं हो सकती तो उत्पत्ति पूर्व-क्षण कैसे सिद्ध हो सकता है? हीनयानी यह मानते हैं कि प्रथम कारण-क्षण द्वितीय कार्य-क्षण को जन्म देकर स्वयं नष्ट हो जाता है। प्रथम तो जब उत्पाद ही सिद्ध नहीं है तो विनाश कैसे सिद्ध हो सकता है? और यदि मान भी लिया जाय कि विनाश हो सकता है, तो यह समझ में नहीं आता कि स्वयं विनष्ट कारण-क्षण कार्यक्षण को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है। यदि बीज ही नष्ट हो जाय तो वृक्ष कैसे उत्पन्न होगा? 'अस्मिन् सति इदं भवति'—कारण के होने पर कार्य होता है—यह अधिपति प्रत्यय या निर्णायक नियम है, ऐसा हीनयानियों का मत है। किन्तु जब समस्त जगत्पदार्थ आपेक्षिक और मिथ्या हैं, तथा मिथ्या होने से इसका न उत्पाद हो सकता है न निरोध तो यह निर्णायक नियम स्वयं ही व्यर्थ हो जाता है। अतः अधिपति भी असिद्ध है। अतः सिद्ध हुआ कि इन चारों प्रत्ययों द्वारा—न वियुक्त रीति से, न संयुक्त रीति से—कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। और यदि इन प्रत्ययों द्वारा ही कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, तो फिर किसके द्वारा उत्पन्न हो सकता है? यदि कार्य को कारण में विद्यमान माना जाय अर्थात् यदि सत्कार्य-वाद स्वीकार किया जाय, तो दुग्ध को ही दधि और तन्तुओं को ही पट मानना पड़ेगा। यदि कार्य को कारण में विद्यमान न माना जाय अर्थात् यदि असत्कार्यवाद का आश्रय लिया जाय, तो जल से दधि और तृणों से पट की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। सत्कार्यवादानुसार कार्य पहले ही 'सत्' होने से 'उत्पन्न' है और उसकी पुनरुत्पत्ति वृथा है; असत्कार्यवादानुसार कार्य 'असत्' होने से शशशृंग और वध्यापुत्र की भाँति होने के कारण कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः न उत्पत्ति है, न विनाश, न उत्पाद है, न निरोध। कार्य और कारण दोनों आपेक्षिक हैं; आपेक्षिक होने से स्वतःसिद्ध नहीं, स्वतःसिद्ध न

होने से इनकी अपनी कोई सत्ता, अपना कोई स्वभाव, नहीं ; अपना स्वभाव न होने से ये निःस्वभाव या स्वभावशून्य हैं ; स्वभावशून्य होने से ये मिथ्या हैं, सत्य नहीं । (१)

इसी प्रकार 'गति' भी मिथ्या है । 'गत' मार्ग पर गमन नहीं हो सकता क्योंकि वह पहले ही 'गत' हो चुका है ; 'अगत' मार्ग पर भी गमन नहीं हो सकता क्योंकि वह तो 'अगत' है; 'गतागत' मार्ग की कल्पना स्पष्ट ही असंगत है ; तथा ऐसा मार्ग जो न गत है न अगत है, निश्चय ही असंभव है। अतः गति असिद्ध है । गन्ता में गति नहीं हो सकती ; अगन्ता में गति होने ही क्यों लगी; और गन्ता तथा अगन्ता दोनों से भिन्न किसी तृतीय पदार्थ में गति की कल्पना ही नहीं की जा सकती । अतः गति, गन्ता और गम्य स्थल तीनों, आपेक्षिक होने के कारण असत्य हैं । (२) इसी प्रकार द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि भी असत्य हैं । (३) पञ्चस्कन्ध भी असत्य हैं । 'रूप' की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि यदि 'रूप' है, तो प्रथम ही **'उत्पन्न'** पदार्थ होने के नाते उसकी पश्चात् उत्पत्ति असंगत है, और यदि 'रूप' **नहीं है**, तो **'असत्'** होने के कारण वह कभी उत्पन्न नहीं हो सकता, तथा **'अनुत्पन्न रूप'** की कल्पना निर्मूल है । अतः 'रूप' असत्य है । इसी प्रकार वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्ध भी असत्य हैं । (४)

बिना गुण के द्रव्य का ज्ञान नहीं हो सकता और बिना द्रव्य के गुण की सत्ता नहीं हो सकती । किन्तु गुण न तो द्रव्य में रह सकते हैं, न उसके बाहर । तब वे कहाँ रह सकते हैं ? बिना आधार के गुण त्रिशंकु की तरह आकाश में तो लटकेंगे नहीं । अतः सिद्ध है कि द्रव्य और गुण अन्योन्यापेक्षिक हैं और इसीलिये असत्य हैं । फिर उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, न एक साथ और न अलग अलग, किसी द्रव्य का स्पर्श कर सकते हैं । हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि उत्पत्ति असम्भव है । और जब उत्पत्ति ही असिद्ध है,

---

(१) माध्यमिक कारिका : १। ७–१४ (२) वहीं : २। १–२५
(३) वहीं : ३ (४) वहीं : ४

तब स्थिति और विनाश कैसे सिद्ध होगें ? ये तोनों आपेक्षिक होने से, माया, स्वप्न तथा गन्धर्वनगर की भाँति, असत्य हैं। (१)

पुद्गल या जीवात्मा भी असत्य है। यह न तो पञ्चस्कन्धरूप है और न उनसे भिन्न। यदि पुद्गल पञ्चस्कन्धरूप है तो उन स्कन्धों की भाँति यह भी जन्ममृत्युशील होगा; और यदि यह उनसे भिन्न है तो इसका ज्ञान ही असम्भव होगा। अतः न तो वे लोग जो पुद्गल को पञ्चस्कन्धरूप मानते है और न वे जो इसे स्कन्ध-भिन्न बतलाते हैं, भगवान् बुद्ध के उपदेश को समझते हैं। (२) जब अहंकार और ममकार क्षीण हो जाते हैं, जब विषयी और विषय के बन्धन टूट जाते हैं, तब उपादान का निरोध हो जाता है और भवचक्र समाप्त हो जाता है। (३)

भगवान् बुद्ध का शासन है कि संसार पूर्वापरकोटिशून्य है, इसका न आदि है न अन्त। और यह न्याय का अटल सिद्धान्त है कि यदि कोई वस्तु न आदि में हो न अन्त में, तो वह मध्य में भी कदापि नहीं हो सकती। जब संसार का उत्पाद एवं विनाश नहीं है तब इसकी स्थिति कैसे स्वीकार की जाय ? (४)

परिवर्तन भी असंभव है। यदि कोई पदार्थ नित्य या स्वभावयुक्त नहीं है तो परिवर्तन या अन्यथाभाव किस वस्तु का होगा ? और यदि कोई पदार्थ नित्य या स्वभावयुक्त है तो उसका परिवर्तन या अन्यथाभाव कैसे होगा ?

यदि परमार्थ नहीं है तो व्यवहार में कौन प्रतीत होगा ? और यदि वह

(१) वहीं, ७

(२) वहीं, १०। १६

(३) ममेत्यहमिति क्षीणे वहिर्धाध्यात्ममेव च। निरुध्यत उपादानं तत्-क्षयाज्जन्मनः क्षयः ॥ १८।४

(४) संसारोऽनवराग्रो हि नास्यादिर्नापि पश्चिमम्। नैवाग्रं नावरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत् ? ॥—वहीं, ११। १-२

वास्तव में परमार्थ है तो व्यवहार कैसे बन जायगा ? यदि तत्त्व नहीं है तो संसार कैसे होगा ? और यदि तत्त्व है तो वह संसार कैसे बनेगा ? (१)

विषयी, विषय और उनका सम्बन्ध ; कर्म और फल ; दिक् और काल–भूत, भविष्य एवं वर्तमान–सब असत्य हैं। क्लेश, कर्म, देह, कर्ता, भोक्ता, फल आदि सब गन्धर्वनगर, मृगतृष्णा और स्वप्न के समान असत्य हैं। (२)

स्वयं सम्यक्सम्बुद्ध तथागत भी शून्यस्वरूप हैं। वे न तो पञ्चस्कन्ध-स्वरूप हैं न पञ्चस्कन्धभिन्न। हम नहीं कह सकते कि इस संसार में या निर्वाण के बाद तथागत हैं या नहीं या उभय या अनुभय क्योंकि तथागत बुद्धिगम्य नहीं। (३) आर्यसत्यचतुष्टय भी असत्य है। न दुःख है, न समुदय, न दुःखनिरोध, न दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्। त्रिरत्न भी असत्य हैं। न संघ है, न धर्म, न बुद्धि। (४) निर्वाण भी असत्य है। बन्ध और मोक्ष, संसार और निर्वाण, दोनों आपेक्षिक हैं और इसलिये मिथ्या हैं। स्कन्धरूप और स्कन्धभिन्न दोनों पदार्थों के बन्ध और मोक्ष दोनों असंभव हैं। जो इस प्रकार सोचता है कि 'मैं पञ्चस्कन्धों को पार करके निर्वाण प्राप्त करूँगा' वह स्वयं अभी तक स्कन्धों के प्रबल जाल में फँसा हुआ है। (५) जब संसार ही नहीं है तो निर्वाण कहाँ से होगा ? जब संसारनाश और निर्वाणप्राप्ति दोनों असंभव हैं तो संसार और निर्वाण की कल्पना भी व्यर्थ है। (६)

---

(१) कस्य स्यादन्यथाभावः स्वभावश्चेन्न विद्यते ? कस्य स्यादन्यथा-भावः स्वभावो यदि विद्यते ?—वहीं, १३।४

(२) क्लेशाः कर्माणि देहाश्च कर्तारश्च फलानि च। गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्नसन्निभाः ।। वहीं, १७।३३

(३) वहीं, २२ (४) वहीं, २४

(५) निर्वास्याम्यनुपादानो निर्वाणं मे भविष्यति।
इति येषां ग्रहस्तेषामुपादानमहाग्रहः ।।—वहीं, १६।६

(६) न निर्वाणसमारोपो न संसारापकर्षणम्।
यत्र कस्तत्र संसारो निर्वाणं किं विकल्प्यते ।।—वहीं, १६।१०

निर्वाण भावरूप नहीं है। यदि निर्वाण को भावरूप माना जाय तो अन्य भावों के समान उसे भी जन्ममरणशील मानना पड़ेगा। तब उसका कोई कारण मानना पड़ेगा। कारण मानते ही, निर्वाण कार्य और संस्कृत धर्म बन जायगा। फिर अन्य संस्कृत धर्मों के समान निर्वाण भी पञ्चस्कन्धों पर आश्रित हो जायगा। पुनः, निर्वाण अभावात्मक भी नहीं है। यदि उसे अभावात्मक माना जाय तो उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि अभाव बिना भाव के सिद्ध नहीं हो सकता। और निर्वाण को भाव और अभाव दोनों मानना एक विरुद्ध एवं असंगत कल्पना है। भाव एवं अभाव, प्रकाश और अन्धकार की भाँति, परस्परविरुद्ध हैं और एक साथ एक स्थान में कभी नहीं रह सकते। और यदि निर्वाण को न भावरूप माना जाय न अभावरूप, तो फिर उसका किसी प्रकार ज्ञान ही नहीं हो सकता। अतः निर्वाण न भाव है, न अभाव, न उभय, न अनुभय। सत्, असत्, सदसत् और सदसद्भिन्न इन चारों कोटियों में न आने के कारण निर्वाण अनिर्वचनीय हुआ और अनिर्वचनीय होने से मिथ्या या स्वभावशून्य हुआ, सत्य नहीं। (१)

बुद्धि स्थापनीय एवं अव्याकृत प्रश्नों का कोई सन्तोष-जनक उत्तर नहीं दे सकती। इसीलिये तथागत ने ऐसे प्रश्नों का उत्तर मौन द्वारा दिया। जगत् न सान्त है, न अनन्त, न उभय, न अनुभय। जगत् न शाश्वत है, न अशाश्वत, न उभय, न अनुभय। निर्वाण न सत् है, न असत्, न उभय, न अनुभय। जड़ और चेतन, संसार और निर्वाण, बन्ध और मोक्ष, विषयी और विषय, अस्मत् और युष्मत्, देही और देह, पुद्गल और शरीर, न एक हैं, न भिन्न। ये सब प्रश्न स्थापनीय हैं। (२)

इस प्रकार आचार्य नागार्जुन अपने सूक्ष्म, प्रबल और अकाट्य तर्क से

---

(१) वहीं, २५।४-१६

(२) वहीं, २५।२१-२३

यह सिद्ध कर देते हैं कि सम्पूर्ण बुद्धिगम्य पदार्थ अनिर्वचनीय होने से स्वभावशून्य हैं और स्वभावशून्य होने से मिथ्या हैं, सत्य नहीं।

आचार्य आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव भी इसी प्रकार समस्त जगत्प्रपंच को, सम्पूर्ण बुद्धिग्राह्य पदार्थों को, स्वभावशून्य और असत्य सिद्ध करते हैं। उनके दिये हुये प्रमाण और तर्क आचार्य नागार्जुन की युक्तियों से बहुत मिलते हैं और उन्हीं की शैली का अनुसरण करते हैं, अतः उनको यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं।

यह शून्यवाद या माध्यमिक सम्प्रदाय की खण्डनात्मक प्रवृत्ति है। किन्तु शून्यवाद-दर्शन यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता। यदि होता तो शून्यवाद पर किये गये आक्षेप अधिकांश रूप में सत्य होते। वास्तव में शून्यवादी कोई विवेकहीन नास्तिक नहीं है जो प्रत्येक वस्तु को असत् कहता हो या जिसने प्रत्येक वस्तु का खण्डन करना ही अपना दार्शनिक पेशा बना रक्खा हो या जिसे स्वयं को शून्य सिद्ध करने में आनन्द आता हो। उसका कार्य समस्त बुद्धिगम्य पदार्थजात को, पारमार्थिक दृष्टि से, स्वभावशून्य या मिथ्या बतलाने का है। जगत् की व्यावहारिक सत्ता को वह मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है। यह सत्य है कि बहुधा शून्यवादी जगत् को माया, स्वप्न, मरीचिका, इन्द्रजाल, खपुष्प, प्रतिध्वनि, प्रतिभास, बन्ध्यापुत्र, शशशृङ्ग, गन्धर्वनगर आदि के समान बतलाता है और इन उपमाओं से यह भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है कि जगत् सर्वथा असत् है। किन्तु यह शून्यवादी का अभिप्राय नहीं है। उपमायें आखिर उपमायें ही हैं। मुख को चन्द्र की उपमा देने से वह चन्द्र नहीं बन जाता, केवल चन्द्र के समान सुन्दर सिद्ध होता है। इसी प्रकार जगत् को माया, स्वप्न, मरीचिका आदि कहने से उसका मिथ्यात्व सिद्ध होता है, असत्त्व नहीं। फिर हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि शून्यवाद लगभग दो सहस्र वर्ष (या उससे भी प्राचीन) पूर्व का सम्प्रदाय है, बीसवीं शताब्दी का नहीं। और फिर अद्वैत वेदान्त में भी, स्वयं आचार्य शंकर की कृतियों में भी, जिन्हें स्यात् ही कोई महासाहसिक असत्वादी कहे, इस प्रकार की उपमायें उपलब्ध हैं जिन्हें हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे।

शून्यवादी का इस प्रकार की उपमायें देना केवल यही सिद्ध करता है कि जगत् के मिथ्यात्व—असत्त्व नहीं—पर वह विशेष आग्रह, प्रभाव, बल और महत्त्व देना चाहता है। वह स्वयं बारम्बार जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करता है। वह स्वयं कहता है कि उसे नास्तिक कहना उसके दर्शन का भयंकर अपमान करना है; उसके दर्शन के अज्ञान और अन्यथाग्रहण का सूचक है। उसे असत्त्वादी कहना उस पर मिथ्या लाञ्छन लगाना है। वह स्वीकार करता है कि बिना सत् के असत् और बिना भाव के अभाव असंभव है। वह बुद्धि की चारों कोटियों को पार करना चाहता है। वह प्रपंच से ऊपर उठना चाहता है। वह मानता है कि तत्त्व ही जगद्रूप से भासित होता है। और वह साथ ही साथ व्यवहार में बुद्धि के साम्राज्य को सार्वभौम मानता है।

सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र में उल्लेख है कि जब तक हम बुद्धि की कोटियों में फँसे हुये हैं तब तक हम जन्मान्ध पुरुषों की भाँति पूर्ण अन्धकार में हैं; जब हम यह जान जाते हैं कि बुद्धि सविकल्प और सापेक्ष है और इसलिये तत्त्व दर्शन कराने की शक्ति से रहित है तथा सत्य के साक्षात्कार के लिये बुद्धि को अपनी सापेक्ष धारणाओं से ऊपर उठकर निरपेक्ष और निर्विकल्प ज्ञान में परिणत होता है, तब हमारे नेत्र खुल जाते हैं और उनमें दर्शन-शक्ति आ जाती है किन्तु फिर भी हमारी दृष्टि धुँधली और निर्बल ही रहती है; जब हम विशुद्ध प्रज्ञा का साक्षात्कार करते हैं तभी हमें बुद्ध-ज्ञान प्राप्त होता है और प्रत्येक पदार्थ को करतलामलकवत् स्पष्ट देखने वाली दिव्य-दृष्टि मिलती है। (१) यही हमें सम्यक्सम्बुद्ध बनाने वाली उत्तम अग्र बोधि है। यही गम्भीर, दुर्दृश्य, दुरनुबोध, तर्कातीत, तथागतविज्ञेय सद्धर्म है। (२)

---

(१) सद्धर्मपुण्डरीक, पृष्ठ १३४

(२) वहीं, पृ० २६, ३९, ११६,

पारमिता का अर्थ है पूर्णत्व। षट्पारमिताओं में, दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा में उत्तरोत्तर पारमिता श्रेष्ठ है। विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान अर्थात् निरपेक्ष, निर्विकार, निष्प्रपञ्च, एवं सम्बोधिनिष्ठ बोधिचित्त का ज्ञान ही प्रज्ञापारमिता है। **अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता सूत्र** में इस ज्ञान को आकाशवत् निर्लेप, निष्प्रपंच, निरक्षर, गम्भीर, सर्ववाग्विषयातीत, वितर्कशून्य, अनभिलाप्य, अचिन्त्य, अक्षत, एवं सम्यक्सम्बोधि कहा गया है। (१) प्रज्ञापारमिता सम्पूर्ण बुद्धों की वत्सला माता मानी गयी है। यह मूर्खों के लिये भयंकर और विद्वानों के लिये सौम्य है। चन्द्र और चन्द्रिका की भाँति बुद्ध और प्रज्ञा एक हैं। प्रज्ञापारमिता सर्वतथागतजननी, धर्ममुद्रा, धर्मोल्का, धर्मभेरी एवं सर्वसुखहेतु है। (२) यहाँ आकर समस्त विग्रह, विवाद, विरोध शान्त हो जाते हैं; जगत् के सब प्रपंच, बुद्धि की सारी कोटियाँ, सविकल्प तर्क की सम्पूर्ण धारणायें, मति के समस्त ऊहापोह, विचार की सारी कल्पनायें शान्त भाव से विलीन हो जाती हैं; सब संशय और सन्देह निवृत्त हो जाते हैं; सारी शंकाओं का समाधान हो जाता है। यह ज्ञान सूक्ष्मात् सूक्ष्मतर और गम्भीरात् गम्भीरतर है। बुद्धि की कोटियाँ अपेक्षा और विकल्प से घिरी हैं; बुद्धि की धारणायें निमित्त, संग, विकार या नामरूप के प्रपंच-जाल से मुक्त नहीं हो सकतीं। अतः बुद्धि का कार्य संवृति या व्यवहार तक ही सीमित है। केवल निर्विकल्प ज्ञान ही परमार्थ या सार तत्त्व है। किन्तु बुद्धि ही इस अद्वय ज्ञान की ओर संकेत करती है। हम व्यवहार से ही परमार्थ में जा सकते हैं। बुद्धि की सहायता से ही ज्ञान को प्राप्ति हो सकती है। पारमार्थिक दृष्टि से पूर्णतया अद्वैत है। भेद मिथ्या है। अद्वय और अद्वैधीकार का डंका बज रहा है। जो संसार है वही निर्वाण है। जो तथागत की तथता है वही सब धर्मों की तथता है। तथता-विनिर्मुक्त कोई धर्म नहीं है। सब धर्म असक्त,

---

(१) अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, पृ० १, ३, १७६, २००, ३४३, ३४८, ४७६।

(२) वहीं, पृ० ५२६

संगासंगविगत, और आवागमन-रहित है क्योंकि सब ब्रह्मभूत है। (१) व्यवहार दशा में बुद्ध, बोधिसत्त्व, धर्म, संघ, निर्वाण, आर्यसत्य तथा समस्त धर्म, सब संस्कृत पदार्थ, सब बुद्धिगम्य वस्तुयें, जगत्, जीव, कारण, कार्य, दिक्, काल, द्रव्य, स्कन्ध आदि सत्य हैं। संसार की सहायता से ही हम निर्वाण की ओर जाते हैं। यदि हम संवृति को, व्यवहार दशा को, अत्यन्त असत् कहकर ठुकरा दें तो हम कदापि तत्त्वसाक्षात्कार नहीं कर सकते। पंक का सहारा लेकर ही हम पंक के बाहर निकल सकते हैं। सीढ़ी के द्वारा ही हम ऊपर चढ़ सकते हैं। यदि समुद्र-यात्रा में यान में छिद्र होकर जल भीतर भर आये और यान डूबने लगे, तो वे लोग जो किसी काष्ठ, फलक या अन्य तैरते हुये पदार्थ को दृढ़ता से पकड़ लेंगे, तट पर आ पहुँचेंगे किन्तु वे लोग जो उसका आलम्बन न लेगें समुद्र में ही डूब मरेंगे। इसी प्रकार जो लोग इस भवसागर में सद्धर्म, सत्य, श्रद्धा, षट्पारमिता का आलम्बन लेंगे वे पार हो जायेंगे और जो लोग न लेंगे वे इसी में डूब मरेंगे। कच्चे घड़े में हम पानी भरकर नहीं ला सकते। यदि लायें तो घड़ा मिट्टी का लोंदा बन जायगा और पानी भी गन्दा हो जायगा। परिपक्व घट ही स्वच्छ जल धारण कर सकता है। इसी प्रकार पूर्णपरिपक्व बुद्धि ही विशुद्धज्ञान धारण करने की क्षमता रखती है। यदि हम बुद्धि को सविकल्प कहकर सर्वथा त्याज्य मान लें तो हमें विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करने की स्वप्न में भी आशा नहीं करनी चाहिये। (२)

लंकावतारसूत्र भी परमार्थ को ज्ञानगोचर, प्रज्ञागोचर, तथागतप्रत्यात्म-गतिगम्य, करतलामलकवत् तथागतप्रत्यक्षगोचर मानता है, वाग्विकल्प-बुद्धिगोचर नहीं। तथागत सर्वप्रपंचातीत हैं; तत्त्व सर्वप्रपंचोपशम है। यद्यपि बुद्धि ही तत्त्व की ओर संकेत करती है तथापि हमें बुद्धि को ही तत्त्व न समझ लेना चाहिये। बालक को चन्द्रदर्शन कराने के लिये उँगली से चन्द्र की ओर

---

(१) वहीं, पृ० ५२, १६२, ३०७, ४५३, ४७६, ४७७

(२) द्रष्टव्य : वहीं, पृ० २८६–२८८

संकेत किया जाता है, किन्तु उँगली को ही चन्द्र समझ लेना भूल है। इसी प्रकार व्यवहार द्वारा ही परमार्थ का उपदेश दिया जा सकता है, किन्तु व्यवहार को ही परमार्थ न समझ लेना चाहिये। (१) बुद्ध का वास्तविक उपदेश मौन है। जिस रात्रि को तथागत सम्यक्सम्बुद्ध बने उस रात्रि से लेकर उस रात्रि तक जब उन्होंने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया, तथागत ने एक अक्षर भी उपदेश में नहीं कहा। बुद्धोपदेश अवचन है, वागतीत है। जो अक्षरपतित धर्मका उपदेश देते हैं वे मिथ्या प्रलाप करते हैं क्योंकि सद्धर्म निरक्षर है। (२) किन्तु उपदेश की सांवृतिक सत्यता मुक्तकण्ठ से स्वीकृत है। यद्यपि वास्तविक दृष्टि से बुद्धि केवल विकल्प को जन्म दे सकती है क्योंकि जो जो पदार्थ बुद्धिग्राह्य हैं वे सत्, असत्, सदसत् और सदसद्भिन्न—इन चारों कोटियों में न आ सकने के कारण अनिर्वचनीय अथवा अनभिलाप्य हैं और अनभिलाप्य होने के कारण निःस्वभाव या स्वभावशून्य हैं और स्वभावशून्य होने के कारण असत्य हैं, तथापि निःस्वभाव का अर्थ अत्यन्त असत् कभी नहीं है। (३) व्यवहार दशा में शून्यता का अर्थ असत् समझने की अपेक्षा सुमेरु पर्वत के बराबर अहंकार की कल्पना करना श्रेष्ठ है क्योंकि शून्यता को 'असत्' मानकर उसके 'असत्त्व' के अस्तित्व' का प्रतिपादन करने वाला नास्तिक 'वैनाशिक' है और उसका भी विनाश ध्रुव है। (४) यह

---

(१) द्रष्टव्य : लंकावतार, पृ० २१,६६,२२२, २२३–४

(२) यां च रात्रिं तथागतोऽभिसम्बुद्धो यां च रात्रिं परिनिर्वास्यति अत्रान्तरे एकमप्यक्षरं तथागतेन नोदाहृतम्...अवचनं बुद्धवचनम्।...योऽक्षरपतितं धर्मं देशयति स प्रलपति निरक्षरत्वाद् धर्मस्य।—लंकावतार, पृ० १४२–३

(३) बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
तस्मादनभिलाप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः॥—वहीं, पृ० ११६

(४) वरं खलु सुमेरुमात्रा पुद्गलदृष्टिर्न त्वेव नास्त्यस्तित्वाभिमानिकस्य शून्यतादृष्टिः।...स हि...वैनाशिको भवति।—वहीं, पृ० १४६

शून्यता का सर्वजघन्य अर्थ है। वास्तव में शून्यता तो परमार्थ या आर्य ज्ञान है और इसीलिये वह 'परमार्थार्यज्ञानमहाशून्यता' कही जाती है। शून्यता चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व है जो विशुद्ध प्रज्ञा द्वारा साक्षात् किया जाता है। (१)

वह मार्ग जिसके द्वारा सविकल्प बुद्धि निर्विकल्प ज्ञान में परिणत की जा सकती है **ध्यानचतुष्टय, समाधित्रय** एवं **भूमिदशक** में वर्णित है। **प्रथम ध्यान** में सापेक्ष और सविकल्प बुद्धि की स्थिति रहती है, इसलिये यह ध्यान 'सवितर्क, सविचार' ध्यान कहलाता है। **द्वितीय ध्यान** में बुद्धि अपने सहज विकल्प और तर्क को छोड़ने लग जाती है तथा उसके रिक्त स्थान को प्रीति और सुख से पूरित करती है। इस ध्यान में समाधिज प्रीति, सुख एवं आत्मसम्प्रसाद की उपलब्धि होती है। **तृतीय ध्यान** में बुद्धि के सम्पूर्ण विकल्प और तर्क शान्त हो जाते हैं तथा प्रीति और सुख का स्थान एक अलौकिक आनन्द लेने लग जाता है। यह ध्यान अविचार, अवितर्क, निष्प्रीतिक, सुख विहार' कहलाता है। **चतुर्थ ध्यान** में अर्थात् तुर्यावस्था में सविकल्प बुद्धि पूर्णतया निर्विकल्प ज्ञान में परिणत हो जाती है। यहाँ सब वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, दुःख आदि शान्त हो जाते हैं और केवल दिव्य अनिर्वचनीय आत्मानन्द या स्वानुभूति या विशुद्ध ज्ञान ही अवशेष रहता है। यह 'ब्राह्मविहार' कहलाता है। (२)

प्रथम समाधि का नाम 'शून्यता समाधि' है। इस समाधि में हम यह जान लेते हैं कि सब 'शून्य' है, संसार 'स्वभावशून्य' है और तत्त्व 'प्रपंचशून्य'। **द्वितीय समाधि** में, जिसकी संज्ञा 'आनिमित्त समाधि' है, हम इस जगत्कार्य के मूल कारण को, इस प्रपंच के निमित्त को, संसार-रूप में भास होने वाले तत्त्व को ही एकमात्र सत्य समझते हैं। **तृतीय समाधि** में, जिसे 'अप्र-

---

(१) वहीं, पृ० ७४

(२) शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृ० १४४३ ; ललितविस्तर, पृ० १२९, ३४३

णिहित समाधि' कहते हैं, हम प्रपंच के मिथ्या आवरण को हटा कर सत्य तत्त्व का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं। (१)

प्रथम भूमि में जिसे 'प्रमुदिता' कहते हैं, बोधिसत्त्व बुद्धि की निर्बलता और सहायता को भली-भाँति समझकर शुद्ध ज्ञान की खोज में सानन्द अग्रसर होता है। **द्वितीय भूमि** 'विमला' में वह तीन कुशलमूलों को (बोधिचित्तोत्पाद, आशयविशुद्धि, और अहंकारममकारपरित्याग) संचित करके, आर्य अष्टांगिक मार्ग में (सम्यक्-दृष्टि, संकल्प, वाक्, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति और समाधि) सम्यक् प्रतिष्ठित हो जाता है। **तृतीय भूमि** 'प्रभाकरी' में वह विषयी और विषय के द्वैतको, ग्राह्य और ग्राह की त्रिपुटी को, बुद्धि की चारों कोटियों को, मति के तर्क, वितर्क, विकल्प, अपेक्षा आदि को मिथ्या जान लेता है। **चतुर्थ भूमि** 'अर्चिष्मती' में बुद्धि के सब संशय और सन्देह शान्त हो जाते हैं। **पञ्चम भूमि** 'सुदुर्जया' में सांवृतिक और पारमार्थिक सत्यों का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। **षष्ठ भूमि** 'अभिमुखी' में अहंकार ममकार का सर्वथा परित्याग होकर प्रतीत्यसमुत्पाद का पूर्ण अर्थ ज्ञात हो जाता है। **सप्तम भूमि** 'दूरंगमा' में शून्यता के पक्षद्वय—'स्वभावशून्यता' तथा 'प्रपंचशून्यता'—पूर्णतया ज्ञात हो जाते हैं। **अष्टम भूमि** 'अचला' में संसार और निर्वाण का पूर्ण अद्वैत स्पष्ट हो जाता है। **नवम भूमि** 'साधुमती' में तत्त्व का प्रकाश चारों ओर दिखाई देने लगता है। तथा अन्तिम **दशम भूमि** 'धर्ममेघा' में बोधिसत्त्व स्वयं तत्त्वरूप हो जाता है, बुद्धि विशुद्ध ज्ञान बन जाती है। यही बोधिसत्त्व का 'स्वराज्याभिषेक' है। (२) इस निर्वाण प्राप्ति के बाद भी बोधिसत्त्व, 'सम्यक्-सम्बुद्ध' बनकर भी, मुक्ति को ठुकरा देता है और दुःखतप्त प्राणियों के उद्धारार्थ सतत प्रयत्नशील रहता है। वह दुःख-तप्त प्राणियों को 'महायान' में

---

(१) शतसाहस्रिका, पृ० १४३६-४०

(२) दशभूमिकसूत्र, पृ० २५-८६

बैठाकर भवसागर के पार अभय, अशोक, शिव, निरुपद्रव, विशुद्ध, आनन्दरूप 'धर्मधातु' के तट पर पहुँचा देता है। (१) वह जगद्दुःख-सन्तप्त प्राणियों को ज्ञानवर्षा से शीतल और सुखी करता है। (२) वह धर्मभेरी और धर्मशंख की मधुर ध्वनि से मोहनिद्रामग्न प्राणियों को जगाता है; धमोल्का द्वारा जगत् के अन्धकारपूर्ण मार्ग में भटकने वाले प्राणियों को प्रकाश दिखलाता है; चिरकाल से भवदुःखसन्तप्त प्राणियों को सद्धर्मवृष्टि से शीतल एवं तुष्ट करता है। (३) यह है शून्यवाद का आदर्श। यह है महायान सम्प्रदाय का महत्त्व। समाधिराजसूत्र कहता है कि बहुत से लोग 'शून्यता' 'शून्यता' चिल्लाते हैं किन्तु उसका अर्थ नहीं समझते। 'शून्यता' के सत्यार्थ को समझे बिना ही वे हम पर मिथ्या लांछन लगाते हैं और हमारे शत्रुओं से प्रेरित होकर हमारे विरुद्ध विष वमन करते हैं। किन्तु हम उनसे झगड़ा नहीं करते। अद्वय शून्यवाद में विरोध को स्थान कहाँ? जब वे हम पर परुषाक्षेप करके विग्रह करने के लिए उतारू होते हैं, तो हम बजाय लड़ने के, हाथ जोड़कर, उनका सत्कार करके, उनको विदा करते हैं। यदि कोई शून्यता के अर्थ को न समझे या अन्यथा समझे तो यह उसीका दोष है, न कि शून्यता का या शून्यवादी का, जिस प्रकार कि यदि कोई रोगी उसके रोग

---

(१) संसारसागरात् पारमुत्तार्य अनुत्तरे क्षेमेऽभयेऽशोके निरुपद्रवे शिवे विरजसे अमृते धर्मधातौ प्रतिष्ठापयिष्यति।—ललितविस्तर, पृ० २१६

समुदानयित्व प्रवरां शिवधर्मनावं ते तारयन्ति जनतां भवसागरौघात्।
—राष्ट्रपालपरिपृच्छा, पृ० १४

(२) बोध्यंगधारसुखशीतलवृष्टिजालैः
शीतीकरोमि च जगच्चिरकालतप्तम्।—वहीं, पृ० ४५

(३) वयं हतामो वर धर्मभेरीं आपूरितामो वरधर्मशंखम्।
प्रज्वालितामो वरधर्म उल्कां सुवर्षयामो वरधर्मवर्षम्॥
सुवर्णप्रभास, पृ० ३३

की रामबाण औषधि को सेवन ही न करे या विष समझ कर फेंक दे तो यह उस रोगी का ही दोष है, न कि औषधि का या वैद्य का। (१)

स्वयं आचार्य नागार्जुन 'तत्त्व' की सत्ता स्वीकार कर उसका लक्षण स्पष्ट करते हैं। जो विशुद्ध ज्ञान द्वारा अपरोक्षानुभूति से साक्षात् किया जा सके, जहाँ सापेक्ष बुद्धि की समस्त कोटियाँ और धारणायें सन्तुष्ट होकर शान्त हो जायें, जो सम्पूर्ण प्रपंच से शून्य हो, जहाँ मानवी बुद्धि के सारे विकल्प, तर्क, वितर्क, विचार, सन्देह आदि विलीन हो जायें, जो अद्वय रूप विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हो, वही 'तत्त्व' है। २) बौद्धदर्शन में दो दृष्टिकोणों से सत्य का निरूपण किया जाता है, एक तो संवृतिसत्य और दूसरा परमार्थ सत्य। जो इस विभाग को नहीं जानते वे भगवान् बुद्ध के गम्भीर दर्शन का तात्पर्य कदापि नहीं समझ सकते। (३) संवृति एक प्रकार का आवरण है

---

(१) बहू जना भाषति स्कन्धशून्यतां न च प्रजानन्ति यथा निरात्मकाः।
ते अप्रजानन्त परे हि चोदिताः क्रोधाभिभूताः परुषं वदन्ति॥
स्वभावशून्याः खलु सर्वधर्माः वस्तुं विभावेन्ति जिनान पुत्राः।
न विज्ञ बालेहि करोन्ति विग्रहं सत्कृत्य बालान् परिवर्जयन्ति॥
गृहीत्व भैषज्य पृथू वराणां न सेवते आतरु येन मुच्यते।
न वैद्यदोषो न च भैषजानां तस्यैव दोषो भवि आतुरस्य॥
समाधिराज, पृ० ३१

(२) अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपंचैरप्रपंचितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्॥
—माध्यमिक कारिका, १८।९

(३) द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥
येऽनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्ययोर्द्वयोः।
ते तत्त्वं न विजानन्ति गंभीरं बुद्धशासने॥
—वहीं, २४।८-९

जो वास्तविक सत्य को छिपाये रहता है। यह व्यवहार मात्र है। यह केवल संकेत है। यह प्रज्ञप्तिधर्म है। अन्ततो गत्वा यह सत्य नहीं सिद्ध होता। किन्तु इसका असत्यत्व केवल पारमार्थिक दृष्टि से ही अनुभव किया जा सकता है। व्यावहारिक दशा में इसकी सत्ता कभी अस्वीकृत नहीं की जा सकती। यद्यपि यह सत्यविभाग बुद्धिकृत होने से व्यवहार मात्र है, तथापि व्यवहार-दशा में यह सर्वथा मान्य है।

अब आचार्य नागार्जुन शून्यता के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं। शून्यता के भी दो दृष्टिकोण हैं। व्यवहार दशा में इसका अर्थ स्वभावशून्यता या निःस्वभावता है। इसका अर्थ प्रतीत्यसमुत्पाद या अन्योन्यापेक्षा है। इसी का नाम मध्यमा प्रतिपत् या मध्यम मार्ग है। (१) प्रत्येक बुद्धिगम्य पदार्थ आपेक्षिक है। भगवान् बुद्ध की 'बोधि' यही प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त है। यह निरन्तर गतिशील प्रतीत्यसमुत्पाद या भवचक्र द्वादशाङ्ग है जिसका पूर्व अंग सदा अपर अंग को जन्म देता रहता है। इसके द्वादशांग ये हैं :—(१) अविद्या, (२) संस्कार, (३) विज्ञान, (४) नाम-रूप, (५) षडायतन, (६) स्पर्श, (७) वेदना, (८) तृष्णा, (९) उपादान, (१०) भव, (११) जाति और (१२) जरा-मरण। इस भवचक्र का आदि कारण अविद्या है। अतः इसका नाश विद्या या शुद्ध ज्ञान से ही हो सकता है। तत्त्व ज्ञान ही विशुद्ध ज्ञान है। अतः पारमार्थिक दृष्टिकोण से शून्यता का अर्थ है प्रपंचशून्यता या तत्त्वज्ञान जहाँ बुद्धि के समस्त विकल्प और जगत् के सम्पूर्ण प्रपंच शान्त हो जाते हैं। यही निर्वाण है क्योंकि निर्वाण या मोक्ष कर्मक्लेशक्षय से होता है और कर्मक्लेश अविद्या के कारण हैं, अविद्या जगत्प्रपंचरूप है तथा शून्यता में प्रपंच को कोई स्थान नहीं। अतः शून्यता का द्वितीय अर्थ है प्रपचशून्य तत्त्व का

---

(१) यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा।
—वहीं, २४।१८

ज्ञान।(१) वास्तव में तत्त्व चतुष्कोटिविनिर्मुक्त होने से न शून्य है, न अशून्य, न उभय, न अनुभय; केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही उसे 'प्रपंचशून्य' कहा जाता है। इसी प्रकार जगत् भी वास्तव में चतुष्कोटिविनिर्मुक्त होने से न शून्य है, न अशून्य, न उभय, न अनुभय; केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही उसे 'स्वभावशून्य' कहा जाता है।(२) संसार और तत्त्व दोनों शून्य हैं क्योंकि दोनों अनिर्वचनीय हैं। किन्तु एक स्वभावशून्य है और दूसरा प्रपंचशून्य; एक मिथ्या है और दूसरा सत्य। 'केवल तत्त्व ही सत्य है' यह सिद्धान्त बुद्धि द्वारा ही सिद्ध नहीं है (वरना यह भी अन्य बुद्धिगम्य पदार्थों के समान् मिथ्या होता), किन्तु विशुद्ध ज्ञान या स्वानुभूति द्वारा प्रत्यक्ष है। तत्त्व 'स्वभाव' है और जगत् 'प्रपंच'। दोनों अन्योन्यशून्य हैं। किन्तु यह सब व्यवहार दशा में ही है। परमार्थ में अद्वैत है, खण्डन-मण्डन नहीं। व्यवहार में, तत्त्व और जगत्, स्वभाव और प्रपंच, सत्य और मिथ्या, प्रकाश और अन्धकार की भाँति, दिन और रात की भाँति, भिन्न हैं। किन्तु परमार्थ में, केवल अद्वैत है, केवल तत्त्व है; संसार की सत्ता त्रिकाल में न थी, न है और न होगी। शून्यता या तत्त्व केवल साक्षात्कार का विषय है, बुद्धि-प्रतिपादन का नहीं क्योंकि बुद्धि की कोई कोटि इसे ग्रहण नहीं कर सकती। भगवान् बुद्ध ने शून्यता का उपदेश हमें बुद्धि की समस्त कोटियों, धारणाओं या दृष्टियों से ऊपर उठने के लिये दिया है, न कि उन्हीं में फँसे रहने के लिए। अतः उन लोगों को, जो 'शून्यता' का अर्थ 'असत्'-रूपी कोटि लेते हैं या उसे भाव मानकर उसके 'अस्तित्व' का प्रतिपादन करते हैं, भगवान्

---

(१) कर्मक्लेशक्षयान्मोक्षः कर्मक्लेशा विकल्पतः।
ते प्रपंचात्, प्रपंचस्तु शून्यतायां निरुध्यते ॥—वहीं, १८।५

(२) शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति नो भवेत्।
उभयं नोभयं चेति, प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥—वहीं, २२।११

बुद्ध ने असाध्य कहा है। (१) रत्नकूटसूत्र में कहा गया है : जो लोग शून्यता में भावाभिनिवेश करते हैं या उसे अभावात्मक मानते हैं, उन्हें हे काश्यप ! मैं नष्ट प्रणष्ट कहता हूँ। शून्यता सब दृष्टियों का निःसरण है। जो पुरुष शून्यता को भी बुद्धि-कोटि के रूप में ग्रहण करना चाहता है वह असाध्य है। जिस प्रकार कोई कोष्ठबद्धता का रोगी यदि कोई अत्युग्र रेचक औषध सेवन करे और वह औषध उदर-गत दोष को बाहर निकाल फेंके किन्तु स्वयं बाहर न निकले और कोष्ठ में ही रह जाय तो उस रोगी की दशा, बजाय सुधरने के, असाध्य हो जायगी, उसी प्रकार यदि शून्यता-औषध भवरोगी के दृष्टिदोष या बुद्धि-मल को बाहर फेंक कर भी स्वयं दृष्टिदोष के रूप में रोगी के दर्शन-कोष्ठ में रह जाय तो वह रोगी असाध्य है। (२) शून्यता को बुद्धि की किसी भी कोटि के रूप में ग्रहण करना, आचार्य नागार्जुन कहते हैं, उतना ही भयंकर और विनाशकारी है जितना किसी विषैले जीवित कृष्ण सर्प को असावधानी से पकड़ लेना या अर्द्ध पठित होना या मिथ्या ज्ञानी बनना या तन्त्रसाधना में भ्रष्ट हो जाना। नीम हकीम ख़तरे जान। शून्यता कोई "ख़ाला का घर", हँसी-खेल या मज़ाक नहीं है ; यह काले का खिलाना है, यह दुधारी तलवार है, "निशित और दुरत्यय क्षुर-धारा" है। इसका अन्यथा-ग्रहण विनाश है और इसका सत्-सेवन अमृतरूप निर्वाण है। (३)

आचार्य नागार्जुन का कथन है कि लोग शून्यता के सही अर्थ को न जान कर शून्यवादी पर नास्तिक होने का लाञ्छन लगाते हैं। वे शून्य का अर्थ

---

(१) शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे ॥—वहीं, १३।८

(२) माध्यमिकवृत्ति, पृ० २४८

(३) विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम् ।
सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता ॥
—माध्यमिक कारिका, २४-११

'असत्' या 'अभाव' समझते हैं। अतः उनका विचार है कि शून्यवादी समस्त संसार को, आर्यसत्यचतुष्टय को, बन्ध को, मोक्ष को, संघ को, धर्म को, बुद्ध को सर्वथा असत् मानता है और सम्पूर्ण लोक-व्यवहार का विनाश करता है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। इन लोगों को शून्यता शब्द का ठीक अर्थ भी ज्ञात नहीं, उसके महत्त्व की तो बात ही क्या! ये लोग शून्यता पर जो आक्षेप करते हैं वे सब व्यर्थ हैं क्योंकि हमारे शून्य में दोष का कोई प्रसंग ही नहीं आ सकता। (१) यदि संसार अशून्य है तो वह 'सत्' है और यदि वह 'सत्' है तो उसकी त्रिकालाबाध स्वतन्त्र सत्ता होनी चाहिये, उसका 'स्वभाव' होना चाहिये। तब वह प्रतीत्यसमुत्पन्न या सापेक्ष नहीं होना चाहिये। और तब उत्पाद, स्थिति, भंग, बन्ध, मोक्ष, आर्यसत्य, संघ, धर्म तथा बुद्ध की कोई आवश्यकता नहीं। संसार का 'सत्' होना इन सबको 'असत्' सिद्ध कर देता है। अतः जो लोग संसार को अशून्य मानते हैं वे संवृति या व्यवहार और परमार्थ के विभाग को नष्ट कर देते हैं और फल-स्वरूप व्यवहार को भी खो बैठते हैं। संसार को स्वभावशून्य और प्रतीत्य-समुत्पन्न या सापेक्ष न मानना सम्पूर्ण लोकव्यवहार को नष्ट कर देना है। (२) यदि शून्य का अर्थ 'असत्' लिया जाय और संसार को शून्य कहा जाय, तो उत्पाद, स्थिति इत्यादि असंभव सिद्ध होंगे। जो 'असत्' है वह बन्ध्यापुत्र और शशशृंग के समान है। उसकी कोई उत्पत्ति नहीं हो सकती। उसकी कोई व्यवहार दशा भी नहीं हो सकती। यदि शून्य का अर्थ

---

(१) अत्र ब्रूमः शून्यतायां न त्वं वेत्सि प्रयोजनम्।
शून्यतां शून्यतार्थं च तत एवं विहन्यसे॥
शून्यतायामधिलयं यं पुनः कुरुते भवान्।
दोषप्रसंगो नास्माकं स शून्ये नोपपद्यते॥—वहीं, २४।७, १३

(२) सर्वसंव्यवहारांश्च लौकिकान् प्रतिबाधसे।
यत्प्रतीत्यसमुत्पादशून्यतां प्रतिबाधसे॥—वहीं, २४।३६

प्रतीत्यसमुत्पाद है तो भी वास्तविक दृष्टि से न उत्पत्ति है, न स्थिति, न विनाश; क्योंकि जो आपेक्षिक और प्रतीत्यसमुत्पन्न है वह परमार्थतः उत्पन्न नहीं कहा जा सकता। (१) अतः संसार को अशून्य या 'सत्' मानना अथवा शून्य या 'असत्' मानना अत्यन्त भयंकर है क्योंकि यह संवृति और परमार्थ के विभाग को नष्ट करके संसार की व्यवहार-दशा को भी सिद्ध नहीं होने देता। हम शून्यवादी संसार को शून्य मानते हैं। किन्तु हम शून्य का अर्थ असत् नहीं मानते। हम शून्य का अर्थ सदसद्विलक्षण, स्वभावशून्य, आपेक्षिक या प्रतीत्यसमुत्पन्न मनाते हैं। परमार्थतः संसार स्वभावशून्य होने के कारण उत्पाद-स्थिति-भंग-वर्ज्य है। किन्तु साथ ही साथ व्यवहार-दशा में यह सत्य है और इस दशा में उत्पाद, स्थिति आदि सब सत्य हैं। हम शून्य का अर्थ केवल स्वभावशून्य नहीं समझते, ऐसा समझना शून्य के एक पक्ष को ही देखना है। प्रतीत्यसमुत्पाद या अपेक्षा को स्वभावसिद्ध नहीं कह सकते क्योंकि यह स्वयं आपेक्षिक है। यह परमार्थ या तत्त्व की अपेक्षा रखती है, जिसके बिना यह व्यर्थ हो जाती हैं। अतः शून्य को केवल स्वभावशून्य समझना भी भारी भूल है। शून्य का अर्थ प्रपंचशून्य तत्त्व या परमार्थ भी है। परमार्थतः यह प्रतीत्यसमुत्पाद ही शिव और अमृत निर्वाण है। बुद्धि अपनी अपेक्षा और तर्क को छोड़ते ही ज्ञान-स्वरूप हो जाती है। संसार, प्रतीति और उपादान को छोड़ते ही, अद्वय परमार्थ हो जाता है जहाँ सब प्रपंच शान्त हो जाते हैं। अतः केवल शून्यवादी ही संसार को व्यवहार दशा में सत्य मान सकते हैं। केवल शून्यवादी ही आर्यसत्य, उत्पत्ति, स्थिति, नाश, संघ, धर्म, बुद्ध आदि के अर्थ और महत्त्व को समझ सकते हैं। जो प्रतीत्यसमुत्पाद के व्यावहारिक और पारमार्थिक

---

(१) प्रतीत्य यत्समुत्पन्नं नोत्पन्नं परमार्थतः।

यद्यशून्यमिदं सर्वं, उदयो नास्ति न व्ययः।

यदि शून्यमिदं सर्वं, उदयो नास्ति न व्ययः॥ —वहीं, २४

दोनों पक्षों को जानते हैं वही दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग को समझ सकते हैं। (१)

अपनी 'विग्रहव्यावर्त्तनी' नामक कृति में आचार्य नागार्जुन पूर्वपक्ष में शून्यता पर किये गये आक्षेप प्रस्तुत कर उत्तर पक्ष में उन सब का खण्डन करते हैं। निम्नांकित आक्षेप शून्यता पर लगाये जाते हैं :—

(१) जगत् के सम्पूर्ण धर्मों को असत् कहनेवाली शून्यता स्वयं असत्य है:

(क) क्योंकि शून्यता की सिद्धि में दिये गये प्रमाण स्वयं असत् हैं;

(ख) और यदि वे असत् नहीं हैं तो वे शून्यवादी की प्रतिज्ञा को ही समूल नष्ट कर देते हैं क्योंकि शून्यवादी कम से कम अपने प्रमाणों को तो असत् नहीं मानता ;

(ग) शून्यवाद की पुष्टि के लिये कोई प्रमाण नहीं है।

आचार्य नागार्जुन का उत्तर है :—

(१) जगत् के सम्पूर्ण धर्मों को मिथ्या कहनेवाली शून्यता सत्य है :

(क) क्योंकि वाणी और बुद्धि का मिथ्यात्व शून्यता को मिथ्या नहीं कर सकता। शून्यता का अर्थ सर्वथा असत् नहीं है, अपितु प्रतीत्यसमुत्पाद है।

(ख) हमारे प्रमाण हमारी प्रतिज्ञा को नष्ट नहीं करते। हम यह नहीं कहते कि 'हमारा वचन तो अशून्य है और शेष सब शून्य है'। यदि हम ऐसा कहते तो हम पर किये गये आक्षेप सत्य होते। हम कहते हैं कि वाणी और बुद्धि के सब धर्म मिथ्या हैं। परमार्थतः हमारी कोई प्रतिज्ञा नहीं है और न कोई शब्द हैं, न प्रमाण। इसीलिये हम पर कोई दोष नहीं लगाया

---

(१) यः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यतीदं स पश्यति।
दुःखं समुदयं चैव निरोधं मार्गमेव च ॥—वहीं, २४।४०

जा सकता। हाँ, व्यवहार-दशा में तो हम प्रमाणों की सत्यता स्वीकार करते हैं क्योंकि बुद्धि स्वयं को असत्य नहीं कह सकती। (१)

(ग) स्वयं प्रमाणों की ही वास्तविक सत्ता सिद्ध नहीं है। अग्नि के समान प्रमाण स्वयं को प्रमाणित नहीं कर सकता। यदि अग्नि स्वयं को प्रकाशित करे तो वह स्वयं को जलायेगी भी। यदि अग्नि स्वयं को तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करे तो निश्चय ही अन्धकार भी स्वयं का तथा अन्य पदार्थों का आवरण कर सकेगा। प्रमाण अन्य प्रमाण द्वारा भी सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आयेगा। प्रमाण प्रमेय द्वारा भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण द्वारा मान्य है। अब यदि प्रमाण की सिद्धि प्रमेय पर आश्रित मानी जाय तो यह उतना ही हास्यास्पद होगा जितना कि यह कहना कि पिता पुत्र को उत्पन्न करता है और यह पुत्र फिर अपने पिता को उत्पन्न करता है। प्रमाण की अहेतुक सिद्धि भी नहीं हो सकती। अतः स्वयं प्रमाण ही असिद्ध है क्योंकि प्रमाण न तो स्वतःसिद्ध है, न अन्य प्रमाणसिद्ध, न प्रमेयसिद्ध, न अहेतुक सिद्ध। (२) प्रमाण, प्रमेय और प्रमा की त्रिपुटी सविकल्प बुद्धि का जाल है। इसमें फँसने वाली प्रत्येक वस्तु मिथ्या है, सत्य नहीं। जो सत्य है वह इस जाल से ऊपर है। तत्त्व खण्डन और मण्डन दोनों से परे है। अतः हम न खण्डन करते हैं, न मण्डन। न हमारी कोई प्रतिज्ञा है, न प्रमाण। यह कथन भी कि 'शून्यवादी प्रत्येक वस्तु का प्रतिषेध करता है' परकीय रीति द्वारा ही

---

(१) यदि काचन प्रतिज्ञा स्यान्मे तत एव मे भवेद् दोषः।
नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति मे दोषः॥
संव्यवहारं च वयं नानभ्युपगम्य कथयामः।
—विग्रहव्यावर्त्तनी, का० २९, २८,

(२) वहीं, का० ३२–५२

संभव है। हम तो खण्डन-मण्डनातीत अद्वय शिवतत्त्व में सदा लीन रहते हैं। (१)

रत्नावली में आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि जिस प्रकार एक व्याकरणाचार्य अपने शिष्यों को वर्णमाला और मात्रा भी पढ़ाता है उसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को, उनकी बुद्धि के अनुसार, भिन्न भिन्न उपदेश दिये। श्रावकों को उन्होंने 'सत्' या 'अस्ति' की शिक्षा दी ताकि वे लोग अशुभ कर्मों का त्याग करके शुभकर्म करें और अपनी सत्त्वशुद्धि करें। प्रत्येकबुद्धों को उन्होंने 'असत्' या 'नास्ति' की शिक्षा दी ताकि वे लोग अहंकार ममकार का परित्याग कर सकें। तथा बोधिसत्त्वों को उन्होंने अपनी सर्वोच्च शिक्षा, 'सदसदतीत' या 'अस्ति नास्ति व्यतिक्रम' की शिक्षा दी ताकि वे लोग सब प्रकार के द्वैत से ऊपर उठ कर अद्वैत की शरण ले सकें। शून्यवादी नास्तिक नहीं हैं; वह कट्टर अद्वैती है। नागार्जुन कहते हैं कि नास्तिक दुर्गति को और आस्तिक सुगति को प्राप्त होता है; किन्तु यथार्थज्ञाननिष्ठ अद्वयमतावलम्बी शून्यवादी ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। (२) विशुद्ध ज्ञान में बुद्धि के समस्त द्वन्द्वों का, सत् और असत् का, अस्ति और नास्ति का, पुण्य और पाप का, सुगति और दुर्गति का व्यतिक्रम हो जाता है और इसलिये विद्वान् उसे मोक्ष कहते हैं। सत् और असत् दोनों आपेक्षिक हैं और इसलिये मिथ्या हैं। असत् केवल सत् के प्रतिपक्ष के रूप में संभव है। किन्तु जब सत् ही नहीं, तो असत् कैसे होगा? जब पक्ष ही नहीं तो प्रतिपक्ष कहाँ से आयगा? पारमार्थिक दृष्टि से यह जगत् सदसद्विलक्षण है, सत्यानृतातीत है; और इसलिये अनिर्वचनीय तथा मिथ्या है। पक्ष और

---

(१) प्रतिषेधयामि नाहं किंचित् प्रतिषेध्यमस्ति न च किंचित्।
तस्मात् प्रतिषेधयसीत्यधिलय एव त्वया क्रियते ॥—वहीं, का० ६४

(२) नास्तिको दुर्गतिं याति सुगतिं याति चास्तिकः।
यथाभूतपरिज्ञानान्मोक्षमद्वयनिश्रितः।—रत्नावली, १।५७

विपक्ष दोनों मिथ्या हैं; केवल संपक्षरूप तत्त्व ही सत्य है। (१) नागार्जुन कहते हैं कि यह शून्यवादी सिद्धान्त बौद्ध-दर्शन का सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त है। सांख्य, वैशेषिक, जैन, पुद्गल तथा स्कन्धवादी हीनयानी बौद्ध से पूछिए कि क्या वे जगत् को सदसद्विलक्षण बतलाते हैं? यह सिद्धान्त, यह जगत् को सदसद्विलक्षण और अनिर्वचनीय मानने वाला सिद्धान्त, यह बुद्धशासन का अमृत, यह तथागत का गंभीर सिंहनाद केवल शून्यवादी बौद्धों को परम्परागत धर्मयौतक के रूप में मिला है। (२)

जो प्रतीति और उपादान की दृष्टि से आवागमन-रूपी संसार है वही अप्रतीति और अनुपादान की दृष्टि से निर्वाण है। जो सांवृतिक दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद है वही पारमार्थिक दृष्टि से प्रपञ्चोपशम शिवतत्त्व है। जो बुद्धि-दृष्टि से व्यवहार है वही ज्ञान-दृष्टि से परमार्थ है। वास्तव में अभेद और अद्वैत है। अतः संसार और निर्वाण में, संवृति और परमार्थ में, जगत् और तत्त्व में किंचित् मात्र भी अन्तर नहीं। (३) यहाँ प्रपंच शान्त हो जाता है। बुद्धि ज्ञान बन जाती है। केवल स्वानुभूति या विशुद्ध ज्ञान

---

(१) पक्षाद्धि प्रतिपक्षः स्यादुभयं तच्च नार्थतः।
इति सत्यानृतातीतो लोकोऽयं परमार्थतः॥ – वहीं, २।४-५

(२) ससांख्यौलूक्यनिर्ग्रन्थपुद्गलस्कन्धवादिनम्।
पृच्छ लोकं यदि वदत्यस्तिनास्तिव्यतिक्रमम्॥
धर्मयौतकमित्यस्मान् नास्त्यस्तित्वव्यतिक्रमम्।
विद्धि गंभीरमित्युक्तं बुद्धानां शासनामृतम्॥—वहीं, १।६१-६२

(३) य आजवंजवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा।
सोऽप्रतीत्यानुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते॥
निर्वाणस्य च या कोटिः कोटिः संसरणस्य च।
न तयोरन्तरं किंचित्सुसूक्ष्ममपि विद्यते॥

—माध्यमिक कारिका, २५।१९,२०

रह जाता है। दर्शन मौन हो जाता है। इस दृष्टि से भगवान् बुद्ध ने किसी को कभी कहीं और कोई उपदेश नहीं दिया। भगवान् ने लोगों पर दया करके व्यवहार-दशा में उतर कर प्राणियों को दुःखसन्तप्त देखकर उनको व्यावहारिक दृष्टि से बुद्धि की कोटियों के पार जाने के लिये सद्धर्म का उपदेश दिया है। (१) यही दर्शन का महत्त्व है क्योंकि व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता और बिना परमार्थ को जाने निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। (२) यही उत्कृष्ट शून्यवाद है। जिसने शून्यता को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया और जिसने शून्यता को नहीं जाना उसने कुछ नहीं जाना।(३)

आचार्य नागार्जुन के विख्यात शिष्य आचार्य आर्यदेव संसार को अलात-चक्र, स्वप्न, माया, प्रतिभास, प्रतिध्वनि, मरीचिका, धूम, अभ्र के समान असत्य और क्षणिक मानते हैं। (४) किन्तु वे भी असत्य को नितान्त असत्

---

(१) सर्वोपलंभोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः।
न क्वचित् कस्यचित् कश्चिद् धर्मो बुद्धेन देशितः ॥— वहीं, २५।२४
सर्वदृष्टिप्रहाणाय यः सद्धर्ममदेशयत्।
अनुकम्पामुपादाय तं नमस्यामि गौतमम् ॥— वहीं, २७।३०

(२) व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते। परमार्थमनागम्य निर्वाणं-नाधिगम्यते ॥— वहीं, २४।१०

(३) सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते।
सर्वं न युज्यते तस्य शून्यं यस्य न युज्यते ॥— वहीं, २४।१४
और विग्रहव्यावर्त्तनी, का० ७१

(४) अलातचक्रनिर्माणस्वप्नमायाम्बुचन्द्रकैः।
धूमिकान्तःप्रतिश्रुत्कामरीच्यभ्रैः समो भवः ॥
—चतुःशतक, का० ३२५

नहीं मानते। व्यावहारिक दशा में संसार की सत्यता उन्हें मान्य है। वे अहंकार को झूठे 'नैरात्म्य' या असत्वाद से कहीं श्रेष्ठ समझते हैं। शून्यता के नाम से ही 'असत्' थर्राता है। सच्चा नैरात्म्य शून्यता ही है। यह कुमति-पुरुषों के लिए भयंकर और सज्जनों के लिए श्रेयस्कर है। यह अद्वितीय शिव-द्वार है। यह केवल सम्बुद्धों के साक्षात्कार का विषय है, बुद्धिगोचर नहीं।(१) किन्तु इसका उपदेश व्यवहार-दशा में ही दिया जा सकता है। जिस प्रकार म्लेच्छ को अन्य भाषा से नहीं समझाया जाता; उसे समझाने के लिये उसकी म्लेच्छभाषा का ही प्रयोग करना पड़ता है उसी प्रकार लोक को तत्त्वोपदेश देने के लिये लौकिक भाषा का ही व्यवहार करना पड़ता है। (२) वास्तविक दृष्टि से शून्यवादी की कोई प्रतिज्ञा नहीं, कोई पक्ष नहीं, कोई प्रमाण नहीं और इसीलिये शून्यवाद में कोई दोष भी नहीं। जिसका सत्, असत् या सदसत् कोई पक्ष नहीं उस शून्यवाद का निराकरण चिरकाल तक असंभव है। (३) तत्व-वाद विवाद का विषय नहीं। यह विशुद्ध ज्ञान स्वरूप है और विशुद्धज्ञान शुद्ध आत्मा या 'चित्त' है। यह चित्तरत्न अविद्या-कर्दम से लिप्त हो रहा है। विद्वान् का कर्तव्य है कि इस अविद्यापंक को नष्ट कर इस चित्तरत्न को चमकावे। अविद्या 'भ्रान्ति' है। जिस प्रकार 'शुक्ति' के ज्ञान से 'शुक्ति-रजत' उड़ जाता है, जिस प्रकार 'रज्जु' के ज्ञान से 'रज्जु-सर्प' उड़ जाता है, उसी प्रकार विशुद्ध ज्ञान-प्राप्ति से अविद्या विलीन हो जाती

---

(१) अहंकारोऽसतः श्रेयान् न तु नैरात्म्यदर्शनम्।
अस्य धर्मस्य नाम्नोऽपि भयमुत्पद्यतेऽसतः।
अद्वितीयं शिवद्वारं कुदृष्टीनां भयंकरम्।
विषयः सर्वबुद्धानामिति नैरात्म्यमुच्यते॥—वहीं, का० २८७—९

(२) नान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा॥—वहीं, का० १९४

(३) सदसत् सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते।
उपालंभश्चिरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते॥—वहीं, का० ४००

है। (१) अविद्या विलीन हो जाती है—यह कथन भी व्यवहार मात्र है क्योंकि वास्तव में 'चित्त' स्वभाव से ही स्वतःसिद्ध, स्वयंप्रकाश, आदिशुद्ध, अनुत्पन्न और अनाविल है। (२)

आगे चलकर माध्यमिक दर्शन के दो सम्प्रदाय हुये, एक प्रासंगिकमाध्यमिक सम्प्रदाय और दूसरा स्वतन्त्रमाध्यमिक सम्प्रदाय। प्रथम सम्प्रदाय के आचार्य बुद्धपालित थे जिन्होंने आचार्य नागार्जुन और आर्यदेव के चरणचिन्हों पर चलकर लौकिक तर्क को अंगीकार किया और स्वतन्त्र तर्क की निन्दा की। इसके विरुद्ध, दिङ्नागाचार्य के स्वतन्त्र विज्ञानवाद से प्रोत्साहित होकर, आचार्य भावविवेक, भाविवेक या भव्य ने स्वतन्त्रमाध्यमिक सम्प्रदाय का उद्भावन किया तथा शून्यवाद को स्वतन्त्र तर्कों से पुष्ट करना चाहा। इन दोनों आचार्यों ने माध्यमिककारिका पर वृत्तियाँ लिखीं हैं जो केवल तिब्बती अनुवाद में ही उपलब्ध हैं।

शून्यवाद के महान् आचार्य चन्द्रकीर्ति प्रासंगिकसम्प्रदायानुयायी थे। उन्होंने आचार्य भावविवेक के मत का साग्रह खण्डन करके आचार्य बुद्धपालित के मत की पुष्टि की। इनकी प्रसन्नपदा नामक माध्यमिककारिकावृत्ति उतनी ही प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण है जितना कि ब्रह्मसूत्र पर शांकरभाष्य। इनकी आचार्य आर्यदेव के चतुःशतक पर वृत्ति तथा इनका स्वतन्त्र ग्रन्थ माध्यमिकावतार तिब्बती अनुवाद में उपलब्ध हैं।

आचार्य चन्द्रकीर्ति का मत है कि अनुमान की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके अपने तर्ककौशल को प्रकट करने के लिये माध्यमिक दर्शन को अंगीकार करना अनेकदोषसमुदायास्पद है। शून्यवाद में तर्क के लिये कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं क्योंकि शून्यवाद बुद्धि की समस्त धारणाओं के ऊपर

---

(१) चित्तविशुद्धिप्रकरण, का० २७, ७४, ६६, ६७, ६८

(२) प्रकृत्या कल्पनारागैर्विविक्तं चित्तरत्नकम्।
आदिशुद्धमनुत्पन्नं निजरूपमनाविलम्॥—वहीं, का० २८

उठना चाहता है न कि उनमें हो लिप्त रहना। शून्यवाद की कोई स्वतन्त्र प्रतिज्ञा नहीं, कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं। शून्यवादी जब किसी मत का खण्डन करता है तो यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि वह उस मत के विरोधी मत का मण्डन करता है। शब्द पुलिस के सिपाही नहीं हैं जो हमें बद्ध कर लें। शब्दों का कार्य केवल विवक्षा प्रकट करना है। अतः किसी मत का खण्डन उसके विरोधी मत का मण्डन नहीं कहा जा सकता। वास्तव में प्रत्येक मत युक्तिविरुद्ध है और इसलिये असिद्ध है। सम्पूर्ण मतमतान्तर बुद्धिजन्य होने के कारण ही मिथ्या हैं क्योंकि तत्त्व तक बुद्धि की पहुँच नहीं। यहाँ पर विरोधी एक अत्यन्त प्रबल आक्षेप हमारे विरुद्ध उपस्थित करता है। वह कहता है कि जब समस्त मत युक्तिविरुद्ध और असिद्ध हैं तो **स्वयं यह मत भी कि 'सब मत असिद्ध हैं,' मत होने के कारण, असिद्ध है।** आचार्य चन्द्रकीर्ति का उत्तर है कि यह आक्षेप केवल उन पर लागू होता है जो तर्क या अनुमान को स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हों। हमारे लिये तर्क की सत्ता केवल व्यावहारिक है। हम कोई स्वतन्त्र प्रतिज्ञा या प्रमाण की पुष्टि नहीं करते। परमार्थतः हम लोग प्रपंचशून्य तत्त्व में मग्न रहते हैं। हम अपने परमार्थ-तल से विरोधी के तल पर, व्यवहार-तल पर, उतरते हैं और उसे बतलाते हैं कि उसके द्वारा सत्यत्वेन स्वीकृत प्रमाणों द्वारा ही उसका मत युक्तियुक्त सिद्ध नहीं होता। हमारे तर्क का फल केवल प्रतिज्ञानिषेध है। अतः हमारा अपना कोई मत नहीं। यदि होता, तो वह भी मत होने के नाते अवश्य असिद्ध होता। (१)

हमारे विरोधी का आक्षेप सांवृतिक और पारमार्थिक दृष्टिकोणों के अज्ञान पर निर्भर है। परमार्थतः हमारो कोई प्रतिज्ञा, कोई प्रमाण नहीं;

---

(१) स्वतन्त्रमनुमानं ब्रुवतामयं दोषो जायते।

न वयं स्वतन्त्रमनुमानं प्रयुञ्ज्महे,

परप्रतिज्ञानिषेधफलत्वादस्मदनुमानानाम्।—माध्यमिकवृत्ति, पृ० ३४

क्योंकि तत्त्व प्रतिज्ञा और प्रमाण से ऊपर है। सन्देह और प्रमा दोनों साक्षेप हैं। हमें कोई सन्देह नहीं, इसलिये हमारी कोई प्रमा भी नहीं। जब प्रमा ही नहीं, तो प्रमाण भी नहीं। तब हम व्यर्थ ही क्यों प्रमा और प्रमाण के झंझट और जंजाल में फँसे? वास्तव में तो हमारा दर्शन मौन है। वहाँ वाणी और बुद्धि की प्रवृत्ति नहीं। (१) जब आर्यजन तत्त्व का उपदेश देते हैं तो वे अपने प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते। वे तो वाणी और बुद्धि को व्यवहार के लिये अत्यावश्यक समझकर, लोक को तत्त्व का बोध कराने के लिए लोक प्रसिद्ध प्रमाणों को स्वीकार कर यह बतलाते हैं कि वास्तव में तत्त्व प्रमाण-जाल में बद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि वह बुद्धि-गम्य नहीं; वह साक्षात्कार का विषय है। (२)

आचार्य चन्द्रकीर्ति इस प्रकार आचार्य भावविवेक के स्वतन्त्रमाध्यमिकवाद का ध्वंस करके आचार्यदिङ्नाग के स्वतन्त्रविज्ञानवाद का भी प्रबल खण्डन करते हैं। उनके मत में दिङ्नाग के नैयायिकों की भूलें सुधार कर न्याय शास्त्र को उन्नत बनाने के सब प्रयत्न व्यर्थ हैं। आचार्य नागार्जुन विग्रहव्यावर्तनी में स्पष्ट कर चुके हैं कि स्वयं प्रमाणों की ही सत्ता सिद्ध नहीं है क्योंकि प्रमाण न तो स्वतःसिद्ध हैं, न प्रमाणान्तरसिद्ध, न प्रमेयसिद्ध, न अहेतुकसिद्ध।

आचार्य दिङ्नाग का मत है कि अविसंवादि या सम्यक् ज्ञान प्रमा है। इसको प्राप्त कराने का साधन प्रमाण है। प्रमाण दो हैं, प्रत्यक्ष तथा अनुमान। कल्पनारहित, अभ्रान्त और निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। कल्पनायुत सविकल्पक ज्ञान को अनुमान कहते हैं। प्रत्यक्ष

---

(१) परमार्थो ह्यार्याणां तूष्णींभावः।
कुतस्तत्र वाचां प्रवृत्तिः?—वहीं, पृ० ५७, ४९३

(२) न खल्वार्या लोकसंव्यवहारेणोपपत्तिं वर्णयन्ति।
किंतु लोकत एव या प्रसिद्धोपपत्तिस्तां
परावबोधार्थमभ्युपेत्य तयैव लोकं बोधयन्ति।—वहीं, पृ० ५७

का विषय 'स्वलक्षण' है और अनुमान का 'सामान्यलक्षण'। सम्यक् ज्ञान प्रापक ज्ञान है। वस्तु का लक्षण अर्थक्रियासामर्थ्य है। वस्तु या परमार्थसत् यह स्वलक्षण ही है। यह अनिर्वचनीय क्षण है और केवल प्रत्यक्ष का विषय है। सामान्यलक्षण कल्पना एवं वागाडम्बरयुत होने से भ्रान्त है। यह क्षण का बोध नहीं करा सकता। अतः स्वसम्वेदन द्वारा प्रत्यक्ष अनिर्वचनीय क्षणस्वरूप स्वलक्षण ही परमार्थसत् है। आचार्य चन्द्रकीर्ति इसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि स्वलक्षण स्वसंवेदन द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि असि-धारा अपने आपको नहीं काट सकती, अंगुली का अग्र भाग अपना स्पर्श नहीं कर सकता, अग्नि स्वयं को नहीं जला सकती। पुनः स्वलक्षण अनिर्वचनीय नहीं हो सकता। यह हमारे शून्य के समान अनिर्वचनीय नहीं है। हम शून्य को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त होने के कारण अनिर्वचनीय मानते हैं। किन्तु स्वल-क्षण को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त नहीं कहा जा सकता। शून्य बुद्धि की समस्त कोटि, धारणा, विकल्प, अपेक्षा और सम्बन्ध से परे है। किन्तु स्वलक्षण, यद्यपि दिङ्नाग इसे कल्पनापोढ़ मानते हैं, एक नहीं दो दो अपेक्षाओं और कल्प-नाओं में लिप्त है। स्वलक्षण को 'स्व' और 'सामान्य' की तथा 'लक्षण' और 'लक्ष्य' की कल्पनायें अपेक्षित हैं। बिना लक्ष्य के लक्षण और बिना सामान्य-लक्षण के स्वलक्षण व्यर्थ है। अतः सापेक्ष होने के कारण स्वलक्षण व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं; और व्यावहारिक होने से मिथ्या है, परमार्थसत् नहीं। यद्यपि दिङ्नाग को बाह्यतया व्यवहार तथा परमार्थ का विभाग स्वीकृत है तथापि वास्तव में उनका तर्क इस विभाग को समूल नष्ट करना चाहता है। स्वलक्षणको परमार्थसत् मानना इस विभाग का उच्छेद करना है। स्वलक्षण स्वयं व्यावहारिक है। सामान्य-लक्षण को तो दिङ्नाग भी व्यावहारिक मानते हैं। स्वलक्षण और सामान्य लक्षण का प्रतिपादन करने वाले दिङ्नाग व्यवहार ही व्यवहार में विचर रहे हैं। उन्हें वास्तविक परमार्थ का ज्ञान नहीं। किन्तु बिना परमार्थ के व्यवहार असंभव है। अतः दिङ्नाग स्वलक्षण को परमार्थ मानने के कारण, न केवल परमार्थ को खोते हैं अपि तु व्यवहार को भी खो देते हैं। व्यवहार या संवृति और परमार्थ का विभाग दर्शन के लिए अत्यावश्यक

है। (१) अतः दिङ्नाग के तर्ककौशल विफल हैं। स्वयं भगवान् बुद्ध ने भी लौकिक तर्क स्वीकार करके धर्मोपदेश दिया है। (२) वास्तविक दृष्टि से तो न संसार है न निर्वाण। जब संसार ही नहीं तो उसका नाश कैसे ? क्या प्रदीपावस्था में 'रज्जु-सर्प' का नाश होता है ? (३) फिर भी वह नितान्त असत् नहीं क्योंकि भयादि व्यवहार का कारण है। इसी प्रकार संसार भी 'असत्' नहीं है, केवल मिथ्या है; और उसका मिथ्यात्व पारमार्थिक दशा में विदित होता है। इस दशा में तर्ककौशल और बुद्धिकृत प्रपंच की कोई आवश्यकता नहीं। तथा व्यवहारदशा में जब लौकिक तर्क से काम चल जाता है तो व्यर्थ के तर्ककौशल की क्या आवश्यकता ?

शून्यता का अर्थ, चन्द्रकीर्ति कहते हैं, नास्तिक्य नहीं है। जब हम संसार को सत् नहीं मानते तो असत् कैसे मानेंगे ? बिना सत् के असत् कैसे संभव है ? शून्य चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। सापेक्ष और सविकल्प बुद्धि की की समस्त कोटियों और धारणाओं की पहुँच के बाहर जो तत्त्व है वही शून्यता है। (४) हम नास्तिक नहीं है। हम तो सत् और असत् दोनों का निराकरण

---

(१) अवश्यं चैतदेवमभ्युपेयम्।
अन्यथा हि संवृतिरुपपत्त्या न वियुज्येत।
तदेव तत्त्वमेव स्यान् न संवृतिः।...
तिष्ठतु तावदेषा संवृतिर्मुमुक्षूणां
मोक्षावाहककुशलमूलोपचयहेतुः
यावन् न तत्त्वाधिगम इति।—वहीं, पृ० ६७

(२) लौकिक एव दर्शने स्थित्वा बुद्धानां भगवतां धर्मदेशना।—वहीं पृ० ७५

(३) वस्तुकचिन्तायां तु संसार एव नास्ति।
तत् कुतोऽस्य परिक्षयः प्रदीपावस्थायां रज्जूरगपरिक्षयवत् ?
—वहीं पृ० २२०

(४) सर्वेषामेव दृष्टिकृतानां सर्वग्राहाभिनिवेशानां यन् निःसरणमप्रवृत्तिः सा शून्यता।—वहीं पृ० २४७

करके निर्वाणपुरगामी अद्वय पथ को प्रकाशित करते हैं। हम कर्मकर्तृ फलादिरूप संसार को अभावात्मक नहीं मानते। हम उसे निःस्वभाव या स्वभावशून्य या प्रतीत्यसमुत्पन्न मानते हैं। संसार की व्यावहारिक सत्ता हमें मान्य है। हम उसे केवल पारमार्थिक दृष्टि से सदसत्सदसद्विलक्षण होने से अनिर्वचनीय और मिथ्या मानते हैं। (१) इस दृष्टि से शून्यता या प्रतीत्यसमुत्पाद ही, सम्पूर्ण जगत्प्रपंच से शून्य होने के कारण, निर्वाण कही जाती है। (२) नास्तिक तो प्रत्येक वस्तु का मूर्खतापूर्ण अपवाद करता है; शून्यवादी प्रत्येक वस्तु को वस्तु-दृष्टि से मिथ्या मानता है। वह संसार की सांवृतिक सत्ता स्वीकार करता है। अतः शून्यवादी और नास्तिक की कोई तुलना नहीं हो सकती। (३)

तत्त्व प्रपंचशून्य है, अद्वय है, शिव है, और केवल विशुद्ध ज्ञान द्वारा साक्षात्कार का विषय है। किन्तु व्यवहार को ठुकरा देने पर परमार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती। व्यवहार की सीढ़ी द्वारा ही परमार्थ प्रासाद पर पहुँचा जा सकता है। व्यवहार-यान द्वारा ही परमार्थ-तट की प्राप्ति संभव है। जिस प्रकार सलिलार्थी को पात्र की आवश्यकता होती है उसी प्रकार निर्वाण की प्राप्ति के लिये पहले संवृति की आवश्यकता पड़ती है। व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता, और बिना परमार्थ को जाने निर्वाणप्राप्ति असंभव है। (४)

---

(१) न वयं नास्तिकाः। अस्तित्वनास्तित्वद्वयवादनिरासेन तु वयं निर्वाणपुरगामिनमद्वयपथं विद्योतयामः। न च कर्मकर्तृफलादिकं नास्तीति ब्रूमः, किं तर्हि, निःस्वभावमेतदिति व्यवस्थापयामः।
—वहीं, पृ० ३२६

(२) शून्यतैव सर्वप्रपंचनिवृत्तिलक्षणत्वात् निर्वाणमित्युच्यते।
—वहीं, पृ० ३५१

(३) नास्तिकास्तु अपवादं कुर्वन्ति।... संवृत्या माध्यमिकैरस्तित्वेनाभ्युपगमान् न तुल्यता। — वहीं, पृ० ३६८

(४) वहीं पृ० ४९४

संवृति आवरण को कहते हैं। यह तत्त्व को छिपाती है। यह विक्षेप रूप भी है क्योंकि इसी को प्रतीत्यसमुत्पाद या परस्परसंभवन या अन्योन्यापेक्षा कहते हैं। यह नाम-रूपात्मक है। यह संकेत या व्यवहार या प्रज्ञप्ति-धर्म है। इसी को अविद्या और मोह कहते हैं। अख्याति और अन्यथाख्याति, आवरण और विक्षेप, अज्ञान और अन्यथाज्ञान, अविद्या और मोह, माया और प्रतीत्यसमुत्पाद--यही द्विरूपात्मक संवृति या व्यवहार है। (१) संवृति उपाय या साधन है; तत्त्व उपेय या साध्य है। यही संवृति का महत्व है। (२) वेदान्त के प्रतिभास, व्यवहार और परमार्थ, तथा विज्ञानवाद के परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न से प्रभावित होकर चन्द्रकीर्ति ने संवृति के दो विभाग किये—मिथ्यासंवृति और तथ्यसंवृति। प्रथम प्रातिभासिक या परिकल्पित है और द्वितीय व्यावहारिक या परतन्त्र। मरीचिकादि व्यावहारिक-दृष्टि से भी मिथ्या हैं। अतः इन्हें मिथ्यासंवृति कहते हैं। घटपटादि, जो अदुष्ट इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हैं। अतः इन्हें तथ्यसंवृति कहते हैं। (३) पारमार्थिक दृष्टि से तो ये सब भी आपेक्षिक और मिथ्या हैं। तत्त्व अनक्षर है; उसका न उपदेश संभव है न

---

(१) समन्ताद् वरणं संवृतिः। अज्ञानं हि संवृतिरित्युच्यते। परस्परसंभवनं वा संवृतिः अन्योन्यसमाश्रयेण। अथवा संवृतिः संकेतो लोकव्यवहारः।--वहीं, पृ० ४६२

मोहः स्वभावावरणाद्धि संवृतिः सत्यं तया ख्याति यदेव कृत्रिमम्।
—माध्यमिकावतार (बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० ३५३ पर उद्धृत)

(२) उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्।

—वहीं पृ० ३७२ पर उद्धृत

(३) विनोपघातेन यदिन्द्रियाणां षण्णामपि ग्राह्यमवैति लोकः। सत्यं हि तल्लोकत एव, शेषं विकल्पितं लोकत एव मिथ्या॥

—वहीं पृ० ३५३ पर उद्धृत

श्रवण। किन्तु फिर भी व्यवहारदशा में व्यवहार द्वारा तत्त्व का उपदेश भी दिया जाता है और उसका श्रवण भी किया जाता है। (१)

शून्यवाद के अन्तिम महान् आचार्य शान्तिदेव अपने 'बोधिचर्यावतार' में तत्त्व को विशुद्धबोधिरूप 'चित्त'–बोधिचित्त मानकर मार्मिक छन्दों में उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। शान्तिदेव का बोधिचित्त स्वानुभूतिरूप स्वतःसिद्ध स्वयंप्रकाश विशुद्ध ज्ञान है। यह अद्वय है, शिव है, परमानन्द है। इसकी प्राप्ति से एक अशुद्ध मरणशील मानव अमर्त्य और शुद्ध देव बन जाता है। इसमें एक अशुचि एवं अज्ञानी मानव को अत्यन्त विशुद्ध सम्यक्सम्बुद्ध बना देने की क्षमता है। (२) जो इस संसार के भीषण दुःखों से बचना चाहता है, जो सन्तप्त प्राणियों के व्यसनों को हरना चाहता है, और जो आनन्दसागर में निमग्न होना चाहता है, उसे इस बोधिचित्त को कभी नहीं छोड़ना चाहिये। (३) हमें अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करना पड़ेगा; केवल पढ़ने से कुछ नहीं होगा। यदि कोई रोगी औषध सेवन न करे और केवल चिकित्सापत्र पढ़े जाय, तो उसे कोई लाभ नहीं हो सकता। (४) जब सब प्राणी, मेरे समान, सुख चाहते हैं और दुःख एवं भय से घृणा करते हैं, तो मुझ में ही ऐसी कौनसी विशेषता है कि मैं अपनी ही रक्षा करूँ, औरों

---

(१) अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का ? श्रूयते देश्यते चापि समारोपादनक्षरः।—माध्यमिकवृत्ति पृ० २६४ पर उद्धृत

(२) अशुचिप्रतिमामिमां गृहीत्वा जिनरत्नप्रतिमां करोत्यनर्घाम्।
रसजातमतीव वेधनीयं सुदृढं गृह्णत बोधिचित्तसंज्ञम्।
—बोधिचर्यावतार, १।१०

(३) भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपि सत्त्वव्यसनानि हर्तुकामैः।
बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम्॥
—वहीं, १।८

(४) चिकित्सापाठमात्रेण रोगिणः किं भविष्यति।—वहीं, ५।१०९

की नहीं ? बोधिसत्त्व अपने निर्वाण को स्वीकार नहीं करता। उसे दुःख सन्तप्त प्राणियों के उद्धार में ही अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। (१)

तत्त्व या सत्य के दो रूप हैं—संवृति और परमार्थ। संवृति सविकल्प और सापेक्ष बुद्धि का नाम है, एवं परमार्थ, बुद्धि द्वारा अगोचर, निष्प्रपञ्च, निर्विकल्प एवं निरपेक्ष तत्त्व या विशुद्ध ज्ञान को कहते हैं। (२) जिस प्रकार स्वप्न का बाध जागरितावस्था में होता है, उसी प्रकार संवृति का बाध परमार्थ में होता है। यहाँ बुद्धि की कोटियाँ एवं विकल्प शान्त हो जाते हैं। बिना ज्ञान के स्वप्न में भी मुक्ति नहीं हो सकती। भगवान् बुद्ध ने हमें सब दुःखों को भग्न करके असली 'भिक्षु' (भिन्नक्लेशो भिक्षुः) बनने का उपदेश दिया है। किन्तु जब तक हम विषयी, विषय, और इनके सम्बन्ध में लिप्त रहेंगे, जब तक हम सविकल्प बुद्धि की कोटियों में फँसे रहेंगे, तब तक भिक्षुता और निर्वाण असंभव ही रहेंगे। हमें क्लेशावरण अर्थात् अहंकारममकारजन्य दुःख तथा ज्ञेयावरण अर्थात् विषयजन्य दुःख, दोनों को नष्ट करना है। शून्यता इन दोनों आवरणों का प्रतिपक्ष है; शून्यता समस्त दुःखों को नष्ट करने वाली है; शून्यता ही परमानन्द एवं विशुद्ध ज्ञानरूपी शिव और अद्वय तत्त्व है; शून्यता ही अभय स्थान है; आश्चर्य है कि लोग इससे भयभीत होते हैं! (३)

---

(१) मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ?—वहीं, ८।१०८

(२) संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतम्।
बुद्धेरगोचरस्तत्त्वं बुद्धिः संवृतिरुच्यते ॥—वहीं, ९।२

(३) शासनं भिक्षुतामूलं भिक्षुतैव च दुःस्थिता।
सावलंबनचित्तानां निर्वाणमपि दुःस्थितम् ॥—वहीं, ९।४५
क्लेशज्ञेयावृतितमःप्रतिपक्षो हि शून्यता।
शून्यता दुःखशमनी ततः किं जायते भयम् ?—वहीं, ९।५५-६

तृतीय अध्याय

विज्ञानवाद

जिस प्रकार शून्यवाद के अनुयायियों को 'माध्यमिक' भी कहा जाता है क्योंकि वे सत् और असत् दोनों के पारगामी मध्यम मार्ग के पोषक हैं, उसी प्रकार विज्ञानवाद के अनुयायियों को 'योगाचार' भी कहा जाता है क्योंकि वे बोधि की प्राप्ति के लिये योग को आवश्यक समझते हैं और सम्बुद्ध बनने के लिये बोधिसत्त्व की दश भूमियों पर विशेष महत्व देते हैं।

प्रायः आचार्य असंग को विज्ञानवाद का प्रवर्तक माना जाता है। महा-महोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि असंग के गुरु मैत्रेयनाथ इस मत के प्रवर्तक हैं। (१) किन्तु हम स्पष्ट कर चुके हैं कि विज्ञानवाद के मूल सिद्धान्त लंकावतारसूत्र तथा आचार्य अश्वघोष की कृति में उपलब्ध हैं। अतः हम मैत्रेयनाथ को विज्ञानवाद को मत का रूप देनेवाले प्रथम विदित आचार्य मानते हैं, उसके मूल प्रवर्तक नहीं। उनके शिष्य असंग ने अपनी कीर्ति से ुरु की ख्याति को ढक दिया। असंग के अनुज वसुबन्धु में विज्ञानवाद अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा। सम्पूर्ण बौद्ध दार्शनिकों में केवल आचार्य वसुबन्धु को ही "द्वितीय बुद्ध" कहलाये जाने का अद्वितीय गौरव प्राप्त है। (२)

---

(१) इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली १, १९२५, पृ० ४६१

(२) शेरबात्स्की (Stcherbatsky) : बौद्धन्याय (Buddhist Logic) भाग १, पृ० ३२

आचार्य असंग अपने "महायानाभिधर्मसंगीतिशास्त्र" में महायान की सात मुख्य विशेषतायें बतलाते हैं। वे ये हैं :—(१)

(१) महायान, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, महान्, विशाल और व्यापक है।

(२) इसमें प्राणिमात्र के प्रति प्रेम, दया और करुणा है।

(३) इसका लक्ष्य बोधि है जो क्लेशावरणभेद या पुद्गलनैरात्म्यज्ञान और ज्ञेयावरणभेद या धर्मनैरात्म्यज्ञान द्वारा प्राप्त की जाती है।

(४) इसका आदर्श सन्त जीवन्मुक्त बोधिसत्त्व है जो दुःखसन्तप्त प्राणियों के उद्धारार्थ सतत उद्यत रहता है।

(५) इसका विचार है कि भगवान् बुद्ध ने दयार्द्र होकर अपने उपाय-कौशल्य द्वारा भिन्न भिन्न योग्यता वाले शिष्यों को उनकी बुद्धि के अनुसार भिन्न भिन्न उपदेश दिये हैं, जो उपदेश एक ही तत्त्व की प्राप्ति के भिन्न भिन्न मार्ग हैं।

(६) इसका चरम ध्येय बुद्धत्वप्राप्ति है जो बोधिसत्त्व की दश भूमियाँ पार करने पर हो सकती है।

(७) बुद्ध समस्त प्राणियों की सम्पूर्ण आध्यात्मिक आवश्यकतायें पूर्ण करने में पूर्ण समर्थ हैं।

आचार्य असंग अपने "महायानसंपरिग्रहशास्त्र" में योगाचार दर्शन की निम्न दश मुख्य विशेषतायें बतलाते हैं :—(२)

(१) आलयविज्ञान प्रत्येक वस्तु में अन्तर्यामी है।

(२) ज्ञान त्रिविध है—परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न।

---

(१) सुज़ुकी (Suzuki) : महायान की रूपरेखा (Outlines of Mahayana Buddhism), पृ० ६२–६५

(२) वहीं० पृ० ६५–६४

(३) विषयी जीव (धर्मी) और जगत्-विषय (धर्म) दोनों आलय-विज्ञान के आभास हैं।

(४) षट्पारमितायें बोधि के लिये आवश्यक हैं।

(५) बुद्ध बनने के लिये बोधिसत्त्व की दश भूमियाँ पार करनी पड़ती हैं।

(६) तुच्छ और स्वार्थमय हीनयान से विशाल, व्यापक एवं दयालु महायान अत्यन्त उत्कृष्ट है।

(७) हमें बोधि के द्वारा बुद्धकाय या धर्मकाय में एक होना है।

(८) ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी को पार करके विशुद्ध ज्ञान या बोधि में लीन होना है।

(९) परमार्थतः संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं। 'नानात्व' ही संसार है और 'समत्व' ही निर्वाण है। हमें निर्वाण की प्राप्ति "इहैव" और "अद्यैव" करना है।

(१०) तत्त्व या धर्मकाय, संसार के दृष्टिकोण से निर्माणकाय या कारण-कार्यरूप, तथा निर्वाण के दृष्टिकोण से संभोगकाय या चिदानन्दरूप है।

हम कह चुके हैं कि आचार्य अश्वघोष की 'तथता' के पर्याय 'बोधि', 'आलयविज्ञान' और 'तथागतगर्भ' हैं। लंकावतारसूत्र भी इन पर्यायों को स्वीकार करता है। इस सूत्र में कहा गया है कि विज्ञान को छोड़कर अन्य समस्त पदार्थ मिथ्या हैं। विज्ञानमात्र ही तत्त्व है। त्रिलोकी—कामलोक, रूपलोक एवं अरूपलोक—की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। यह विकल्प मात्र है बाह्य पदार्थ की कोई सत्ता नहीं, कोई अस्तित्व नहीं। चित्तमात्र का ज्ञान ही बुद्धसम्मत तथता-ज्ञान है, तत्त्व-ज्ञान है। (१)

---

(१) विकल्पमात्रं त्रिभवं बाह्यमर्थं न विद्यते।
चित्तमात्रावतारेण प्रज्ञा ताथागती मता॥
—लंकावतारसूत्र, पृ० १८६, १५९

यद्यपि कहीं कहीं लंकावतार सूत्र में ऐसी ध्वनि है कि बाह्य जगत् व्यक्तिगत विज्ञान की सृष्टि है, तथापि उसी सूत्र में अधिकतर स्थल ऐसे हैं जो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने से रोकते हैं। बाह्य जगत् को व्यक्तिगत विज्ञान की सृष्टि नहीं माना जा सकता क्योंकि वह समष्टिविज्ञान अर्थात् आलयविज्ञान या तथागतगर्भ की कृति है। यही लंकावतारसम्मत मत है। उपरोक्त भ्रांति का कारण लंकावतार द्वारा कृत 'मनस्' 'चित्त', तथा 'विज्ञान' शब्दों का अनर्गल प्रयोग है।

विज्ञान सर्वप्रथम दो रूप लेता है—समष्टिविज्ञान या 'आलयविज्ञान' और व्यष्टिविज्ञान या 'प्रवृत्तिविज्ञान'। प्रवृत्तिविज्ञान सप्तविध है। हीनयानी सर्वास्तिवादियों के चक्षु, घ्राण, श्रोत्र, जिह्वा और कायरूपी पंच इन्द्रिय-विज्ञान तथा छठा मनोविज्ञान—इन षड्विज्ञानों को स्वीकार कर लंकावतार ने एक सातवाँ विज्ञान और माना है जिसे वह सप्तम मनोविज्ञान या विशिष्ट मनोविज्ञान की संज्ञा देता है। विशिष्ट मनोविज्ञान छठे मनोविज्ञान और आलयविज्ञान के बीच की कड़ी है। पञ्चेन्द्रियविज्ञानों द्वारा (पञ्चभिः) विषय (Object) की वासनोपलब्धि होती है (is sensed); मनोविज्ञान द्वारा (मनसा) विषय की विचारोपलब्धि होती है (is thought) तथा विशिष्ट मनोविज्ञान द्वारा (विज्ञानेन) विषय का ज्ञान होता है (is perceived) और इन सबके पीछे इन सबके आधारभूत चयनशील या एकीकरणशील आलयविज्ञान या चित्त (Synthetic unity of apperception) की सत्ता है। (2)

साधारणतया यह मत प्रचलित है कि आलयविज्ञान निरन्तर परिवर्तनशील विज्ञानप्रवाह है। किन्तु लंकावतार में आलयविज्ञान को अजर, अमर, शाश्वत, और ध्रुव विज्ञानपुञ्ज माना गया है। यह ग्राह्यग्राहक-विसंयुक्त एवं उत्पादस्थितिभंगवर्ज्य है। यह विकल्प प्रपंच रहित और

---

(२) चित्तेन चीयते कर्म मनसा च विधीयते।
विज्ञानेन विजानाति दृश्यं कल्पेति पञ्चभिः ॥--वहीं पृ० ४६

निराभासप्रज्ञागोचर है। (१) सृष्टि का मूल कारण आलयविज्ञान की स्वयं को ग्राहक और ग्राह्य अर्थात् विषयी और विषय या जीव और जगत् के रूप में प्रकट करने की अनादि वासना रूप शक्ति है। स्वयं आलयविज्ञान ही इस अनादि वासनारूप अविद्या शक्ति का आश्रय और विषय दोनों है। इस शक्ति को "अनादि प्रपंच दौष्ठुल्य वासना" कहा गया है। (२) प्रवृत्तिविज्ञान और बाह्य जगत् दोनों इस वासना की सृष्टि तथा आलयविज्ञान के आभास मात्र हैं। ये न आलयस्वरूप हैं न आलयभिन्न; जिस प्रकार कि मृत्तिका न घटस्वरूप है न घटभिन्न, तथा स्वर्णाभूषण न स्वर्ण-स्वरूप है न स्वर्णभिन्न। यदि इन्हें आलयस्वरूप माना जाय तो इनके निरोध पर आलय का भी निरोध होना चाहिए (जो वास्तव में नहीं होता) और यदि इन्हें आलयभिन्न माना जाय तो इनका कारण आलय नहीं हो सकता (जो वास्तव में वह है)। अतः इनका और आलय का सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध है। (३) आलयविज्ञान समुद्र है, प्रवृत्तिविज्ञान तरंगें हैं। जिस प्रकार तरंगें पवन से प्रेरित होकर समुद्र पर नाचती हैं उसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रवृत्तिविज्ञान अविद्या से प्रेरित होकर आलय विज्ञान पर नाचते हैं। या यह कथन और अधिक उपयुक्त होगा कि आलयविज्ञान स्वयं नित्य होते हुये भी अपनी वासनाशक्ति द्वारा प्रेरित चित्र विचित्र प्रवृत्तिविज्ञानों के रूप में निरन्तर नाचता हुआ सा प्रतीत होता है। (४) जिस प्रकार कि तरंगें न तो समुद्ररूप हैं न समुद्रभिन्न, उसी प्रकार सातों प्रवृत्तिविज्ञान न तो आलयरूप हैं न आलयभिन्न। जिस प्रकार कि तरंगें समुद्र का आभास मात्र हैं उसी प्रकार प्रवृत्तिविज्ञान आलयविज्ञान के आभास मात्र हैं। तत्त्वतः उनमें और आलय में कोई भेद नहीं। आलय को समुद्र की और प्रवृत्तिविज्ञानों को तरंगों की उपमा देना भी सविकल्प बुद्धि

---

(१) वहीं, पृ० ४२-४३ (२) वहीं, पृ० ३८

(३) वहीं

(४) आलयौघस्तथा नित्यो विषयपवनेरितः।
चित्रैस्तरंगविज्ञानैर्नृत्यमानः प्रवर्तते।—वहीं, पृ० ४६

का कार्य है; वास्तव में आलयविज्ञान बुद्धि के समस्त विकल्पों के पार होने से अनिर्वचनीय है। (१)

आलयविज्ञान को तथागतगर्भ भी कहा है क्योंकि वह अनादि शक्तियुक्त है और उसमें सम्पूर्ण तथागतगुण बीजरूपेण निहित हैं। यह जान कर कि आलयविज्ञान औपनिषदिक आत्मा या ब्रह्म के बहुत कुछ समीप आ गया है, स्वयं लंकावतार ही उसे तीर्थिक अर्थात् अबौद्ध लोगों के 'आत्मा' से पृथक् सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। महामति भगवान् से पूछते हैं—भगवन् ! आप तथागतगर्भ को प्रकृतिप्रभास्वर, आदिविशुद्ध, सर्वसत्त्वदेहान्तर्गत, अन्तर्यामी, विज्ञानघन, नित्य, ध्रुव, शाश्वत और शिव मानते हैं। अबौद्धों का 'आत्मा' भी ऐसा ही है। तब, हे भगवन्, आपका 'तथागतगर्भ' अबौद्धों के 'आत्मा' से कैसे भिन्न है? भगवान् उत्तर देते हैं—महामते ! तथागतगर्भ अबौद्धों के 'आत्मा' से भिन्न है क्योंकि तथागतगर्भ बुद्धि की समस्त कोटियों के परे होने से चतुष्कोटिविनिर्मुक्त, अनिर्वचनीय, निर्विकल्पक और निराभासप्रज्ञागोचर है, तथा 'आत्मा' सदा ही बुद्धि की 'अस्ति' कोटि का आलिंगन किये रहता है। (२)

यहाँ हम लंकावतार के भगवान् की भूल बतलाये बिना नहीं रह सकते। वास्तव में लंकावतार का तथागतगर्भ, औपनिषदिक 'आत्मा' या 'ब्रह्म' का ही रूपान्तर है। लंकावतार ने इसे उपनिषद् से लिया है। लंकावतार के भगवान् भूल जाते हैं या भूल जाने का दिखावटी विफल प्रयास करते हैं कि आत्मा भी चतुष्कोटिविनिर्मुक्त, अनिर्वचनीय, निर्विकल्पक और निराभास

---

(१) बालानां बुद्धिवैकल्प्यादालयो ह्युदधिर्यथा।
तरंगवृत्तिसाधर्म्यं दृष्टान्तेनोपनीयते॥
न तस्य विद्यते वृत्तिः परिणामो न लभ्यते।
देशना व्यभिचारश्च, तत्त्वं ह्यक्षरवर्जितम्॥—वहीं, पृ० ४७-४८

(२) वहीं, पृ० ७७-७९

प्रज्ञागोचर ह । आत्मा को 'अस्ति' कहना उसे सविकल्प बुद्धि की कोटि से चिपका हुआ मानना नहीं है अपितु उसकी निर्विकल्प ज्ञान या स्वानुभति द्वारा स्वतःसिद्ध सत्ता अंगीकार करना मात्र है ।

आचार्य असङ्ग अपने 'महायानसूत्रालङ्कार' (१) में कहते हैं कि महायान सविकल्प बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है । सविकल्प बुद्धि का ही दूसरा नाम तर्क है । तर्क अप्रतिष्ठित है । तर्क आगमनिश्रित है अर्थात् उसका आधार शास्त्र है; अनियत है क्योंकि आज तर्क से जो बात सिद्ध की जाती है कल वही तर्क द्वारा, विशेष ज्ञान होने पर, असिद्ध की जा सकती है, तथा जो बात कुछ मनुष्यों के लिये सत्य है वही अन्य मनुष्यों के लिए मिथ्या हो सकती हैं; अव्यापी है क्योंकि तर्क से सर्वज्ञता प्राप्त नहीं की जा सकती; सांवृत है अर्थात् तर्क की सत्ता केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं; खेदवान् है क्योंकि तर्क शुष्क वादविवाद और दुःख को ही जन्म दे सकता है; बालाश्रय है क्योंकि केवल बाल जन ही उसका सहारा लेते हैं; इन सब कारणों से स्पष्ट है कि तत्त्व तक तर्क की पहुँच नहीं हो सकती । (२)

असंग यह मानते हैं कि प्रत्येक बुद्धिग्राह्य पदार्थ व्यावहारिक है और क्षणिक है । प्रत्येक वस्तु जो हेतु और प्रत्यय से उत्पन्न होती है प्रतीत्यसमुत्पन्न है और इसीलिये क्षणिक है । जो क्षणिक नहीं है उसकी उत्पत्ति भी असंभव है । पूर्व क्षण सदा अपर क्षण को उत्पन्न करता रहता है । यदि

---

(१) प्रो० एच० यूई और प्रो० विन्टरनित्ज़ के मत से इस शास्त्र के लेखक मैत्रेयनाथ हैं ।

प्रो० सिल्वान लेवी इसे असंग की कृति मानते हैं । हम प्रो० लेवी से सहमत हैं ।

(२) निश्रितोऽनियतोऽव्यापी सांवृतः खेदवनपि ।
बालाश्रयो मतस्तर्कस्तस्यातो विषयो न तत् ॥
— महायानसूत्रालंकर, १।१२

कोई व्यावहारिक वस्तु क्षणिक नहीं है तो उसका नाश भी नहीं हो सकता। अतः उत्पत्ति, स्थिति और नाश क्षणिकवाद को सिद्ध करते हैं। यदि यह माना जाय कि वस्तु उत्पत्ति के पश्चात् क्षणिक नहीं रहती तो क्या वह अपने आप शाश्वत बन जाती है या किसी अन्य कारण से ? यदि वह अपने आप शाश्वत बनती है तो फिर उसका विनाश कैसे होता है ? और यदि वह स्वयं शाश्वत नहीं हो सकती तो अन्य कोई भी वस्तु उसे शाश्वत नहीं बना सकती। परिवर्तन संसार का स्वाभाविक नियम है। परिवर्तनशील संसार में प्रत्येक वस्तु अवश्य ही क्षणिक है। नदी का पानी और दीपक की लौ प्रतिक्षण परिणामी हैं। इसी तरह सम्पूर्ण प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म क्षणिक हैं। (१)

यहाँ यह ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि विज्ञानवाद केवल सविकल्प बुद्धि या तर्क द्वारा ग्राह्य पदार्थों को ही, केवल प्रतीत्यसमुत्पन्न या संस्कृत धर्मों को ही क्षणिक मानता है, तत्त्व या परमार्थ को नहीं। तत्त्व क्षणिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह बुद्धि की सब कोटियों के परे है। क्षणिकवाद परमार्थ का स्पर्श भी नहीं कर सकता।

विज्ञानवादी 'आत्मा' या 'पुद्गल' या 'जीव' का भी खण्डन करते हैं। समस्त क्लेश और उपक्लेश 'सत्कायदृष्टि' अर्थात् अहंकार तथा ममकार की मिथ्या दृष्टि के कारण उत्पन्न होते हैं। जीव को कर्ता और भोक्ता मानना व्यवहार मात्र है। भगवान् बुद्ध ने जीवात्मा के अस्तित्व का उपदेश केवल नास्तिक्यप्रतिषेध के लिये, केवल कुशल कर्मोपार्जन के लिये दिया है। जीव की वास्तविक सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। यदि जीव वास्तव में है, तो बन्ध और मोक्ष दोनों असंभव हो जायगें। जीवात्मा की सत्ता अनादि अविद्या के कारण है और अविद्या नष्ट होते ही केवल शुद्ध विज्ञानघन परमार्थ रह जाता है। (२)

---

(१) वहीं, पृ० १४६—१५४

(२) वहीं, पृ० १५४--१५९

यहाँ यह ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि विज्ञानवाद केवल जीवात्मा को मिथ्या मानता है, विशुद्ध आत्मतत्त्व को नहीं। विशुद्ध विज्ञान को ही विज्ञानवाद परम तत्त्व मानता है। इसे वह बहुधा 'चित्त' कहता है तथा 'आत्मा' या 'पुद्गल' या 'सत्काय' को जीव के ही पर्याय मानता है। अनादि अविद्या के आगन्तुक दोषों द्वारा दुष्ट चित्त ही जीव कहलाता है; वास्तव में चित्त प्रकृतिप्रभास्वर अर्थात् स्वयंप्रकाश और स्वतःसिद्ध है। (१)

आचार्य असंग के मतानुसार परमार्थ चतुष्कोटिविनिर्मुक्त, अनिर्वचनीय, अद्वय, विशुद्ध विज्ञान स्वरूप तत्त्व है। वह न सत् है न असत्; न ऐसा है न वैसा; न एक है न नाना; न उसकी उत्पत्ति होती है न विनाश; न उसकी हानि होती है न वृद्धि; वह न शुद्ध है न अशुद्ध;वह तर्कातीत और शुद्ध ज्ञानरूप है।(२)

जीव और जगत्, विषयी और विषय दोनों ही न सत् हैं, न असत्, न सदसत्, न सदसद्भिन्न। चतुष्कोटिविनिर्मुक्त होने से दोनों अनिर्वचनीय हैं और अनिर्वचनीय होने से मिथ्या हैं, केवल भ्रम हैं। भ्रम की जननी अविद्या है। अविद्या ही जीव और जगत् का मूल कारण है। अतः इस भ्रम का नाश ही विद्या है और वही परम तत्त्व है। यह तत्त्व भी अनिर्वचनीय है, किन्तु इसकी अनिर्वचनीयता मिथ्यात्व की द्योतक नहीं क्योंकि यह स्वानुभूति द्वारा साक्षात्कृत विशुद्धज्ञान रूप स्वयंप्रकाश और स्वतःसिद्ध परमार्थ है। अतः अविद्यारूपी भ्रम का नाश ही मोक्ष है। (३) महान् आश्चर्य का विषय है कि जीव और जगत् दोनों प्रतीत्यसमुत्पन्न संस्कृत बुद्धिधर्मों को

---

(१) मतं च चित्तं प्रकृतिप्रभास्वरं सदा तदागन्तुकदोषदूषितम्।

—वहीं, १३।१९

(२) न सन् न चासन् न तथा न चान्यथा न जायते व्येति न चावहीयते।
न वर्धते नापि विशुध्यते पुनर्विशुध्यते तत् परमार्थलक्षणम्॥

—वहीं, ६।१ और ६।२२-२६

(३) ततश्च मोक्षो भ्रममात्रसंक्षयः। — वहीं, ६।१

लोग वास्तविक समझते हैं! सदसत् के जाल में फँसे हुए संसारी पुरुष अविद्यान्धकार में ही चक्कर खाया करते हैं! (१) वास्तविक दृष्टि से बन्ध और मोक्ष में, संसार और निर्वाण में, जगत् और तत्त्व में किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से शुभकर्म करने वालों के लिये जन्मक्षय और निर्वाणप्राप्ति का उपदेश दिया जाता है। (२)

धर्मनैरात्म्य तथा पुद्गलनैरात्म्य के सम्यक् ज्ञान के अनन्तर धर्मधातु का साक्षात्कार होता है। धर्मनैरात्म्य का अर्थ है कि धर्मों की अर्थात् बुद्धिग्राह्य संस्कृत एवं प्रतीत्यसमुत्पन्न पदार्थों की कोई आत्मा अर्थात् स्वतन्त्र सत्ता नहीं हैं ; समस्त बुद्धिग्राह्य धर्म निरात्मक या निस्स्वभाव या स्वभाव शून्य या स्वतन्त्रसत्ता शून्य हैं। पुद्गलनैरात्म्य का अर्थ है कि पुद्गल की भी अर्थात् जीवात्मा या अहंकारममकारयुक्त सविकल्प बुद्धि की भी कोई आत्मा या स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। बुद्धिग्राह्य बाह्य प्रपंच की भाँति स्वयं ग्राहिका बुद्धि भी स्वभावशून्य है। ग्राह्यधर्म और ग्राहक पुद्गल या जीव दोनों ही निरात्मक अर्थात् स्वतन्त्रसत्ताशून्य हैं। बोधिसत्त्व को प्रथम यह ज्ञान होता है कि सम्पूर्ण बाह्य अर्थ चित्त के परिणाम मात्र हैं; फिर वह चित्त को भी अर्थात् जीवात्मा या सविकल्प बुद्धि को भी बाह्य अर्थों के समान सापेक्ष तथा मिथ्या जान लेता है ; जब इस प्रकार ग्राह्य और ग्राहक रूपी द्वैत मिथ्या जान लिया जाता है तब स्वयंप्रकाश विशुद्ध ज्ञानस्वरूप धर्मधातु या अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार होता है। (३) जिस प्रकार तीव्र औषध विष के दोष को

---

(१) तमःप्रकारः कतमोऽयमीदृशो यतोऽविपश्यन् सदसन् निरीक्षते।
—वहीं, ६।४

(२) न चान्तरं किंचन विद्यतेऽनयोः सदर्थवृत्त्या शमजन्मनोरिह।
तथापि जन्मक्षयतो विधीयते शमस्य लाभः शुभकर्मकारिणाम्॥
—वहीं, ६।५

(३) अर्थान् स विज्ञाय च जल्पमात्रान् संतिष्ठते तन्निभचित्तमात्रे।
प्रत्यक्षतामेति च धर्मधातुस्तस्माद् वियुक्तो द्वयलक्षणेन।
—वहीं, ६।७

हर लेती है उसी प्रकार निर्विकल्प ज्ञान सविकल्प बुद्धि के दोषों को हर लेता है। (१) यह निर्विकल्प ज्ञान ही चतुर्थ ध्यान या तुर्यावस्था द्वारा प्राप्य ब्राह्मविहार है जहाँ पहुँच कर योगी सदा अद्वैतानन्द में मग्न रहता है। ऐसा योगी ही प्राणियों के उद्धार के लिये समर्थ होता है जिस प्रकार कि भली-भाँति पर निकल आने पर ही पक्षी उड़ने में समर्थ हो सकता है। (२) जिस प्रकार फूटे हुये पात्र में पानी के बह जाने के कारण चन्द्रबिम्ब दिखाई नहीं देता उसी प्रकार दुष्ट सत्त्वों में बुद्धबिम्ब प्रकाशित नहीं होता। (३) किन्तु शुद्ध सत्त्वों में सर्वावरणनिर्मल अनास्रव बुद्धबिम्ब का प्रकाश स्पष्ट झलकता है। बुद्धिमान् बोधिसत्त्व धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके तत्त्व में प्रवेश करता है। वह जान लेता है कि विषयी और विषय, ग्राहक और ग्राह्य, जीव और जगत् दोनों ही सापेक्ष तथा मिथ्या हैं और केवल विशुद्ध विज्ञान ही तत्व है। किन्तु अभी तक वह तत्व को सविकल्प बुद्धि द्वारा ही ग्रहण किये रहता है क्योंकि यह ज्ञान भी कि तत्व विशुद्ध विज्ञान स्वरूप है बुद्धिजन्य ही है। पश्चात् जब बोधिसत्व तत्व में पूर्णतया प्रविष्ट हो जाता है तब सापेक्ष बुद्धि की सारी धारणायें और कोटियाँ बिलीन हो जाती हैं, समस्त तर्क वितर्क तथा विकल्प एवं कल्पनायें शान्त हो जाती हैं। यह अपरोक्ष अद्वय अनिर्वचनीयावस्था ही मुक्ति है। (४)

---

(१) अकल्पनाज्ञानबलेन धीमतः समानुयातेन समन्ततः सदा।
तदाश्रयो गह्वरदोषसंचयो महागदेनेव विषं निरस्यते।--वहीं, ६।६

(२) ध्यानं चतुर्थं सुविशुद्धमेत्य ब्राह्मैर्विहारैर्विहरत्युदारैः।
शक्तो भवत्येव च सत्त्वपाके संजातपक्षः शकुनिर्यथैव॥
--वहीं ७।२,३,८

(३) वहीं, ६।१६

(४) विदित्वा नैरात्म्यं द्विविधमिह धीमान् भवगतं
समं तच्च ज्ञात्वा प्रविशति स तत्त्वं ग्रहणतः।
ततस्तत्र स्थानान् मनस इह न ख्याति तदपि
तदख्यानं मुक्तिः परम उपलंभस्य विगमः॥—वहीं, ११।४७

तत्त्व के अनिर्वचनीय एवं साक्षात्कार योग्य होने के कारण ही भगवान् बुद्ध ने परमार्थ का उपदेश नहीं दिया। फिर भी व्यावहारिक दशा में उतर कर दयालु बुद्ध ने सबको उनकी व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार धर्मोपदेश दिया। (१) यद्यपि वस्तुतः तत्त्व अनिर्वचनीय और सम्पूर्ण संस्कृत पदार्थों के परे है तथापि कोई भी संस्कृत धर्म इतना नीच और निकृष्ट नहीं है कि वह तत्त्व के लिये अस्पर्श्य हो। समस्त धर्म धर्मधातु द्वारा आश्लिष्ट हैं। (२) बुद्धिमान् पुरुष समस्त संस्कृत धर्मों को स्वतन्त्र न मान कर धर्म-धातुमय मानता है। वह आत्मदृष्टि को, अहंबुद्धि को, अविद्याकृत होने से अनर्थों की जड़ समझता है तथा उसे त्याग कर व्यापक और शुद्ध ज्ञान स्वरूप महात्मदृष्टि की शरण लेता है। (३) सम्यक् सम्बुद्ध, सन्मार्ग पर चल कर, द्विविध नैरात्म्य को भलीभाँति जान कर, जगत् को स्वभावशून्य और तत्त्व को प्रपञ्चशून्य विशुद्ध विज्ञान समझ कर, शुद्धात्मस्वरूप बन कर, मिथ्या 'जीवात्मा' को सत्य 'महात्मा' में लीन कर देते हैं। यह शुद्धात्मा, यह महात्मा, यह विशुद्ध विज्ञानात्मा ही भगवान् बुद्ध का धर्मकाय है, यही अनास्रव धर्मधातु है, यही परमात्मा है। (४) भिन्न भिन्न नामरूप वाली भिन्न भिन्न नदियाँ जब समुद्र में मिल जाती हैं तब वे नदियाँ नहीं कहलातीं अपितु समुद्र बन जाती हैं, इसी प्रकार भिन्न भिन्न नाम रूप वाले भिन्न

---

(१) धर्मो नैव च देशितो भगवता प्रत्यात्मवेद्यो यतः, आकृष्टा जनता च युक्तिविहितैर्धर्मैः स्वकीं धर्मताम्।—वहीं, १२।२

(२) धर्मधातुविनिर्मुक्तो यस्माद् धर्मो न विद्यते।—वहीं, १३।१२

(३) विहाय योऽनर्थमयात्मदृष्टिं महात्मदृष्टिं श्रयते महार्थाम्।

—वहीं, १४।३७

(४) शून्यतायां विशुद्धायां नैरात्म्यान् मार्गलाभतः। बुद्धाः शुद्धात्म-लाभित्वाद् गता आत्ममहात्मताम्॥—वहीं, ६।२३

अनेन बुद्धानामनास्रवे धातौ परमात्मा व्यवस्थाप्यते।

—वहीं, पृ० ३७-३८

भिन्न जीव जब तत्त्व में मिल जाते हैं तब धर्मधातु बन जाते हैं। (१) जिस प्रकार समुद्र की, नदियों के संगम से न वृद्धि होती है न तृप्ति, उसी प्रकार धर्मधातु की भी जीवात्माओं के प्रवेश से न वृद्धि होती है न तृप्ति। कैसा महान् आश्चर्य है। (२)

आचार्य वसुबन्धु प्रारंभ में हीनयान के सर्वास्तिवाद मत की काश्मीर-वैभाषिक शाखा के अनुयायी थे, (३) किन्तु पश्चात् अपने अग्रज आचार्य असंग द्वारा विज्ञानवाद में दीक्षित कर लिये गये। उनकी पूर्व कृति 'अभिधर्मकोश' में भी महायान का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। 'अभिधर्म' शब्द को उन्होंने सांग विशुद्ध ज्ञान या सानुचरा अमला प्रज्ञा का पर्याय माना है। (४) संवृतिसत् को वे घटाम्बुवत् और परमार्थसत् को समुद्रवत् मानते हैं। तत्त्व की प्राप्ति तर्क द्वारा नहीं हो सकती। अन्तिम ध्यान में सविकल्प तर्क निर्विकल्प प्रज्ञा में परिणत हो जाता है एवं ध्याता, ध्याता, ध्यान, और ध्येय की त्रिपुटी के पारवर्त्ती महाब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इसी अमला प्रज्ञा को श्रामण्य और ब्राह्मण्य कहते हैं। (५)

आचार्य वसुबन्धु की सुप्रसिद्ध कृति 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' है जो 'विंशतिका' और 'त्रिंशिका' दो भागों में विभाजित है। विंशतिका पर वसुबन्धु ने स्ववृत्ति लिखी है और वसुबन्धु के शिष्य आचार्य स्थिरमति ने त्रिंशिका पर भाष्य लिखा है।

---

(१) वहीं, ९।८२-८५

(२) यथा तोयैस्तृप्ति व्रजति न महासागर इव, न वृद्धि वा याति प्रततविषदाम्बुप्रविशनैः। तथा बौद्धो धातुः सततसमितैः शुद्धिविशनै, र्न तृप्ति वृद्धि वा व्रजति परमाश्चर्यमिह तत् ॥—वहीं, ९।५५

(३) काश्मीरवैभाषिकनीतिसिद्धः प्रायो मयायं कथितोऽभिधर्मः।
—अभिधर्मकोश, ८।४०

(४) प्रज्ञाऽमला सानुचराऽभिधर्मः।—वहीं, १।२

(५) महाब्रह्मत्वं तत्फलम्। (वहीं, ८।२३) श्रामण्यममलोमार्गः, ब्राह्मण्यमेव तत्।—(वहीं, ६।५१,५४)

विंशतिका में आचार्य वसुबन्धु कहते हैं कि महायान त्रैधातुक को विज्ञप्तिमात्र मानता है। कामलोक, रूपलोक और अरूपलोक की त्रिलोकी विज्ञप्ति-विजृम्भण मात्र है। नानाउपचारसमन्वित संसार विज्ञानपरिणाम मात्र है। चित्त, मन, विज्ञान, विज्ञप्ति आदि पर्याय हैं। विज्ञप्तिमात्र में 'मात्र' शब्द का प्रयोग बाह्यार्थप्रतिषेधार्थ है। जिस प्रकार पीलियारोगग्रस्त मनुष्य को सब पदार्थ पीले दिखाई देते हैं या जिस प्रकार दृष्टिदोष से नेत्रों के आगे केशवत् पतली पतली छोटी छोटी वस्तुयें उड़ती हुई सी दिखाई देतीं हैं या द्विचन्द्रदर्शन होता है, उसी प्रकार अविद्याग्रस्त प्राणियों को बाह्य पदार्थों की प्रतीति होती है; वास्तव में समस्त बाह्य अर्थ मिथ्या हैं और इसीलिये विज्ञप्तिमात्रता सिद्ध है। विशुद्ध विज्ञान ही एक मात्र तत्त्व है। (१) यहाँ यह आक्षेप किया जाता है कि यदि बाह्य अर्थ की सत्ता स्वीकार नहीं की जाती तो देशनियम, कालनियम, सन्तानानियम और कृत्यक्रिया इन चारों को भी असिद्ध मानना पड़ेगा। यदि विज्ञप्ति, बाह्य अर्थ की अपेक्षा नहीं रखती तो यह कैसे संभव है कि एक पदार्थ एक नियत स्थान में (देशनियम) और नियत समय में (कालनियम) देखा जाता है तथा उस देशविशेष और कालविशेष में उपस्थित सभी पुरुष—कोई पुरुषविशेष ही नहीं किन्तु सभी उपस्थित व्यक्ति—उस पदार्थ को देखते हैं (सन्तानानियम; 'सन्तान' शब्द का अर्थ विज्ञानसन्तानस्वरूप द्रष्टा है) और यह भी कैसे संभव है कि तथाकथित 'असत्' बाह्य अर्थ अर्थक्रियासमर्थ होता है (कृत्यक्रिया) अर्थात् पानी प्यास बुझाने की क्षमता रखता है और अग्नि दाहपाकप्रकाशादि में समर्थ है? यद्यपि यह सत्य है कि स्वप्न के पानी से वास्तविक प्यास नहीं बुझ सकती और न स्वप्न के भोजन से वास्तविक तृप्ति ही मिल सकती है, तथापि यह कथन अयुक्त होगा कि वास्तविक पानी तथा वास्तविक भोजन

---

(१) विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात्। यथा तैमिरिकस्यासत्केश-चन्द्रादिदर्शनम्॥—विंशतिका, का० १

भी तृषा और क्षुधा शान्त करने में असमर्थ हैं। अतः बाह्य अर्थों की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। (१)

इस आक्षेप का वसुबन्धु निम्न उत्तर देते हैं : पूर्वोक्त चारों बातें बाह्य अर्थ की सत्ता सिद्ध नहीं कर सकतीं क्योंकि ये चारों बातें हमें स्वप्न में और नरक में भी उपलब्ध होती हैं जहाँ पर हमारा प्रतिपक्षी भी बाह्य अर्थ की सत्ता अंगीकार नहीं करता। उदाहरणार्थ, स्वप्न में भी देशनियम और कालनियम रहते हैं क्योंकि स्त्री, पुरुष, नगर, उद्यान आदि स्वप्नदृष्ट पदार्थ भी देशविशेष और कालविशेष में ही देखे जाते हैं सब स्थानों में और सब समयों में नहीं ; और सभी स्वप्न देखने वाले पुरुष इन पदार्थों को देख सकते हैं कोई पुरुषविशेष ही नहीं, अतः सन्तानानियम भी स्वप्न में सिद्ध है। कृत्यक्रिया भी स्वप्न में सिद्ध है क्योंकि स्वप्नदृष्ट सिंह की गर्जना भी नींद उड़ा कर भय और रोमाञ्च उत्पन्न कर देती है एवं स्वप्न में किया हुआ संभोग भी वीर्यपात कर देता है। नरक में भी सभी नारकीय प्रेत (प्रेतविशेष ही नहीं) देशविशेष और कालविशेष में पूय और शोणित आदि की नदी देखते हैं और नारकीय वेदना अनुभव करते हैं। अतः नरक में भी ये चारों बातें उपलब्ध हैं यद्यपि वहाँ कोई बाह्य अर्थ नहीं हैं। नरक के यमदूतों को भी यथार्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे स्वयं नारकीय यातनाओं को नहीं सहते। प्रतिपक्षी यह स्वीकार करता है कि नरक के दूत नारकीय प्रेतों के दुष्कर्मों की वासनाशक्ति से उत्पन्न होते हैं। किन्तु वासनाशक्ति का बीज तो विज्ञान में निहित है, तब वासनाशक्ति के फलरूप दूत विज्ञान के बाहर कैसे हो सकते हैं ? अतः सिद्ध है कि स्वप्न में और नरक में दिखाई देने वाले सब तथाकथित बाह्य पदार्थ मनोविजृम्भण मात्र हैं। इसी प्रकार जगत् के तथाकथित बाह्य पदार्थ भी विज्ञानपरिणाम मात्र हैं क्योंकि देश-

---

(१) यदि विज्ञप्तिरनर्था, नियमो देशकालयोः। सन्तानस्यानियमश्च युक्ता कृत्यक्रिया न च ॥—वहीं का० २

नियम, कालनियम, सन्तानानियम और कृत्यक्रिया ये चारों बातें जैसे जगत्-पदार्थों में हैं वैसे ही स्वप्न और नरक के पदार्थों में भी हैं। (१)

विषयी और विषय, पुद्गल और धर्म, जीव और जगत्, अहं और मम, ग्राहक और ग्राह्य रूपी द्वैत केवल विज्ञानपरिणाम है। विज्ञप्तिमात्र या विशुद्ध विज्ञानस्वरूप तत्त्व अपनी अन्तर्निहित अनादि और वितथ विकल्पाभ्यास-वासना या अविद्यारूपी बीजशक्ति द्वारा विषयी और विषय अर्थात् जीव और जगत् के रूप में भासित होता है। भगवान् बुद्ध ने विज्ञप्ति के, बीज-शक्ति के कारण भासित होने वाले, ग्राहक और ग्राह्य रूपी दो प्रकार के आयतन बतलाये हैं। दोनों ही आभास हैं, तत्त्व नहीं। जब अहंकारयुक्त सविकल्पबुद्धिरूपी विषयी जीव या पुद्गल को, जो अपने आपको मिथ्या ही ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता मान बैठा है, विज्ञान का आभास मात्र समझ लिया जाता है, तो पुद्गलनैरात्म्यप्रवेश हो जाता है। जब ममकारयुक्त बुद्धिविकल्पस्वरूप जगत्विषय या धर्म को, जिसे पुद्गल ने मिथ्या ही ज्ञेय, कार्य और भोग्य मान लिया है और जिस मिथ्या ग्राह्य का मिथ्या ग्राहक मिथ्या ग्रहण करता है, विज्ञान का आभास मात्र समझ लिया जाता है, तो धर्मनैरात्म्यप्रवेश होता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि यह द्विविध नैरात्म्यप्रवेश केवल कल्पितात्मा या जीवात्मा द्वारा होता है। (२) विशुद्ध अनिर्वचनीय आत्मतत्त्व को यह सविकल्प बुद्धि का ग्राहकग्राह्यरूपी द्वैत स्पर्श भी नहीं कर सकता। अतः पुद्गलनैरात्म्य का अर्थ केवल जीवनैरात्म्य है, विशुद्धात्मनैरात्म्य नहीं। विज्ञानमात्र या साक्षिचैतन्य की सत्ता का कभी निराकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि जो निराकर्ता है वही चैतन्यस्वरूप है तथा यह विज्ञानमात्र, स्वानुभूति द्वारा साक्षात्कार का विषय होने से

---

(१) द्रष्टव्य, कारिका २-७ पर विंशतिकावृत्ति

(२) यतः स्वबीजात् विज्ञप्तिर्यदाभासा प्रवर्तते। द्विधायतनत्वेन ते तस्या मुनिरब्रवीत्॥ तथा पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशो ह्यन्यथा पुनः। देशना धर्मनैरात्म्यप्रवेशः कल्पितात्मना॥—विंशतिका, का० ९-१०

स्वतःसिद्ध है ही। यह विज्ञानमात्र, सविकल्प बुद्धि की सम्पूर्ण कोटियों के परे होने से, समस्तप्रपञ्चातीत होने से, वाग्जाल में न आ सकने से अनिर्वचनीय या अनभिलाप्य है। बुद्धिप्रपञ्च भी अनिर्वचनीय है और अनिर्वचनीय होने के कारण ही मिथ्या है। किन्तु विज्ञानमात्र अनिर्वचनीय होते हुये भी एकमात्र सत् है क्योंकि यह स्वतःसिद्ध है और स्वानुभूतिविषय है। अतः सिद्ध है कि विशुद्ध अद्वय विज्ञानमात्र ही केवल तत्त्व है। जीव और जगत्, ग्राहक और ग्राह्य दोनों इसी के आभास हैं। इसी ज्ञान को पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य ज्ञान कहते हैं। इस द्विविध नैरात्म्यज्ञान के अनन्तर जीव विशुद्धात्मस्वरूप हो जाता है। यह विशुद्ध विज्ञानमात्र सम्यक् सम्बुद्धों के साक्षात्कार का विषय है। अविद्यालिप्त जीवात्मा या कल्पितात्मा ग्राह्यग्राहकादि कल्पित द्वैत को विज्ञानमात्र का आभास जान कर इस विशुद्ध विज्ञानमात्र रूपी तत्त्व में लीन हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि नैरात्म्यवाद, बालजन द्वारा कल्पित ग्राहक और ग्राह्य, विषयी और विषय, पुद्गल और धर्म, जीव और जगत् आदि सविकल्प एवं सापेक्ष बुद्धिजन्य द्वैत का ही निराकरण करता है, सम्यक् सम्बुद्धों द्वारा साक्षात्कृत स्वतःसिद्ध स्वानुभूतिविषय विशुद्ध अद्वय विज्ञान-मात्र रूपी अनिर्वचनीय या अनभिलाप्य तत्त्व का नहीं। (१)

प्रत्यक्ष द्वारा भी बाह्य जगत् की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती क्योंकि विज्ञप्ति तो जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में समान होती है। अनुमान भी बाह्य जगत् की सत्ता सिद्ध करने में असमर्थ है क्योंकि अनुमान द्वारा केवल विज्ञप्ति का ही अनुमान किया जा सकता है, बाह्य अर्थ का नहीं। प्रतिपक्षी यह आक्षेप करता है कि यदि जागरितावस्था और स्वप्नावस्था में कोई अन्तर नहीं तो हमें जागरितावस्था में ही यह ज्ञान क्यों नहीं हो जाता

---

(१) यो बालैर्धर्माणां स्वभावो ग्राह्यग्राहकादिः परिकल्पितस्तेन कल्पि-तेनात्मना तेषां नैरात्म्यं न तु अनभिलाप्येनात्मना यो बुद्धानां विषय इति।—का० १० पर विंशतिकावृत्ति।

कि बाह्य जगत् मिथ्या है ? आचार्य वसुबन्धु का उत्तर है कि हम स्वप्नावस्था में ही स्वप्नदृष्ट पदार्थों को मिथ्या नहीं कह सकते। स्वप्नदृष्टपदार्थ स्वप्नावस्था में सत्य हैं। स्वप्न में पिया हुआ पानी स्वप्न की प्यास बुझाने की क्षमता रखता है। स्वप्नदृष्टपदार्थों का मिथ्यात्व जागरितावस्था में पहुँच जाने पर ही प्रतीत हो सकता है। (१) ठीक इसी प्रकार जगत् का मिथ्यात्व भी व्यावहारिक अवस्था से पारमार्थिक अवस्था में पहुँच जाने पर ही प्रतीत हो सकता है। यह जगत् की तथाकथित जागरितावस्था भी वास्तव में समष्टिस्वप्नमात्र है। अविद्याग्रस्त प्राणी जगन्मिथ्यात्व को नहीं समझ सकते। विद्या या विशुद्ध ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही वे तत्त्व का साक्षात्कार कर सकते हैं। जिस प्रकार परिकल्पित (प्रातिभासिक) अवस्था का मिथ्यात्व परतन्त्र (व्यावहारिक) अवस्था में ही प्रतीत होता है, उसी प्रकार परतन्त्र अवस्था का मिथ्यात्व केवल परिनिष्पन्न (पारमार्थिक) अवस्था में ही प्रतीत हो सकता है। अनादिअविद्यारूपी वितथविकल्पाभ्यासवासनानिद्रा में प्रगाढतया प्रसुप्त लोक, विशुद्ध और अद्वय, लोकोत्तर और निर्विकल्प ज्ञान की जागरितावस्था में पहुँच कर प्रबुद्ध हुये बिना बुद्धिप्रपञ्च के मिथ्यात्व तथा विज्ञप्तिमात्र के सत्यत्व को यथावत् नहीं समझ सकता। (२)

विंशतिका के अन्तिम श्लोक में आचार्य वसुबन्धु कहते हैं कि विज्ञप्तिमात्र तत्त्व निर्विकल्प विशुद्ध विज्ञान स्वरूप होने के कारण बुद्धि द्वारा वर्णनीय नहीं है। वह केवल सम्बुद्धों के, स्वानुभूति द्वारा, साक्षात्कार का विषय है। अतः विंशतिका में, परतन्त्र दशा से, विज्ञप्तिमात्रता को यथाशक्ति सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है; इस बुद्धगोचर स्वानुभूतिसिद्ध अनिर्वचनीय विज्ञप्तिमात्र तत्त्व को बुद्धिचिन्त्य समझना भयंकर भूल होगी। (३)

---

(१) स्वप्ने दृग्विषयाभावं नाप्रबुद्धोऽवगच्छति।—विंशतिका, का० १७

(२) का० १७ पर वृत्ति।

(३) विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी मया।
कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या बुद्धगोचरः॥—विंशतिका, का० २२,

त्रिंशिकाभाष्यकार स्थिरमति का कथन है कि त्रिंशिका लिखने में आचार्य वसुबन्धु का उद्देश्य पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य का यथावत् प्रतिपादन करना है। पुद्गलनैरात्म्यज्ञान द्वारा अहंकारयुक्त आत्म-दृष्टि-जन्य समस्त क्लेशों तथा उपक्लेशों का प्रहाण हो जाता है। धर्मनैरात्म्य-ज्ञान द्वारा बुद्धि के विषयों का मिथ्यात्व जान लिया जाता है। पुद्गलनैरात्म्यज्ञान क्लेशावरण को और धर्मनैरात्म्यज्ञान ज्ञेयावरण को नष्ट कर देता है। द्विविधावरणप्रहाण हो जाने पर विशुद्ध विज्ञानमात्रस्वरूप तत्त्व अवशेष रह जाता है। कुछ दार्शनिकों का मत है कि विज्ञान की भाँति विज्ञेय भी परमार्थतः सिद्ध है। कुछ अन्य दार्शनिक विज्ञेय की भाँति विज्ञान को भी संवृतितः सिद्ध मानते हैं। इन दोनों प्रकार के एकान्तवादों को तथा द्विविधावरणों को नष्ट करके द्विविधनैरात्म्यवाद का सम्यक् प्रतिपादन करना त्रिंशिका का लक्ष्य है। हम देख चुके हैं कि विंशतिका में आचार्य वसुबन्धु ने प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करते हुये बाह्य अर्थ की सत्ता का निराकरण किया है तथा विज्ञप्तिमात्रता के ग्राहक और ग्राह्य रूपी द्वैत से परे विशुद्ध लोकोत्तर अनिर्वचनीय ज्ञानस्वरूप तत्त्व होने का प्रतिपादन किया है। त्रिंशिका में वसुबन्धु अपने मत को और भी स्पष्ट करते हैं।

त्रिंशिका में आचार्य वसुबन्धु कहते हैं कि विज्ञानमात्र ही केवल तत्त्व है। यह अत्यन्त विशुद्ध अनिर्वचनीय निर्विकल्प अद्वय ज्ञान है। विषयी जीव और विषय जगत् दोनों ही इसके परिणाममात्र हैं। इस विज्ञानमात्र का ही आत्मरूप से अर्थात् जीवरूप से और धर्मरूप से अर्थात् जगद्रूप से विविध उपचार किया जाता है। यह विज्ञानमात्र तत्त्व अपनी अनादि वासना-शक्ति अर्थात् अविद्याशक्ति के कारण त्रिविध परिणामों में भासित होता है। विज्ञानमात्र तत्त्व सर्वप्रथम आलयविज्ञान के रूप में प्रतीत होता है। आलय-विज्ञान को विपाक भी कहते हैं। समस्त प्रवृत्तिविज्ञान इसमें बीजरूप से अन्तर्निहित हैं। इसी से यह विज्ञानों का आलय या स्थान कहा जाता है। विज्ञानमात्र का सर्वप्रथम परिणाम, जिससे अन्य विज्ञानों का प्रादुर्भाव होता है, होने से इसे विपाक भी कहा जाता है। यह आलयविज्ञान स्वयं को विषयी

और विषय के रूप में परिणमित करता है। पहले यह मनोविज्ञान या मनन का रूप लेता है। मनोविज्ञान ही जीवात्मा, सविकल्प बुद्धि, अहंप्रत्यय एवं ग्राहक या विषयी कहा जाता है। इसके पश्चात् आलयविज्ञान विषयविज्ञप्ति या तथाकथित बाह्य जगत् के रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार विज्ञानमात्र पहले आलयविज्ञान के रूप में और फिर आलयविज्ञान मनोविज्ञान और विषयविज्ञप्ति के रूप में भासित होता है। किन्तु आलय या विपाक, मनोविज्ञान या मनन, और विषयविज्ञप्ति इस त्रिविध विज्ञानपरिणाम के पीछे विशुद्ध और निर्विकार, सत्य और शाश्वत विज्ञानमात्र या विज्ञप्ति तत्त्व की सत्ता है जिसपर अविद्याकृत त्रिविध परिणामों का नर्तन सा हो रहा है। (१)

यहाँ पर लंकावतारसूत्र के और वसुबन्धु के 'आलयविज्ञान' का भेद ध्यान में रखना अत्यावश्यक है। लंकावतार में आलयविज्ञान विशुद्ध विज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वसुबन्धु ने इसका प्रयोग विज्ञानमात्र के अविद्याकृत प्रथम परिमाण के अर्थ में किया है। लंकावतार का आलयविज्ञान वसुबन्धु का विज्ञानमात्रतत्त्व है। वसुबन्धु का आलयविज्ञान विज्ञानपरिणाममात्र है। लंकावतार का आलयविज्ञान और वसुबन्धु का विज्ञानमात्र दोनों ही नित्य, निर्विशेष और निर्विकल्प अद्वय ज्ञानस्वरूप हैं। किन्तु वसुबन्धु का आलयविज्ञान अनित्य, सविशेष और सविकल्प विज्ञानपरिणाम है। विज्ञानमात्र, जब उसमें अपनी अन्तर्निहित अनादि वासनाशक्ति का प्रस्फुरण होता है, आलयविज्ञान में परिणमित हो जाता है। इस आलयविज्ञान में समस्त विज्ञान बीजरूप से विद्यमान रहते हैं इसीलिये वसुबन्धु ने इसे "सर्वबीजकम्" कहा है। चूँकि यह विज्ञानमात्र का सर्वप्रथम परिणाम है और सम्पूर्ण विज्ञानों का आलय या स्थान होने से अन्य सब परिणाम इस

---

(१) आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञानपरिणामेऽसौ, परिणामः स च त्रिधा॥
विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च।—त्रिंशिका, का० १–२

पर आश्रित हैं तथा अपने विपाक के लिये इसकी अपेक्षा रखते हैं इस लिये इसकी संज्ञा 'विपाक' भी है। जलधारा के समान यह निरन्तर गतिशील एवं परिवर्तनशील है। इसका प्रतिक्षण-परिणामी प्रवाह अनवच्छिन्न रूप से चलता रहता है। वसुबन्धु के आलयविज्ञान को ही प्रतीत्यसमुत्पादचक्र का जनक मानना पड़ेगा क्योंकि इस चक्र की प्रथम शृंखला 'अविद्या' का प्रारंभ यहीं से होता है। इसमें कारणक्षण कार्यक्षण को जन्म देता रहता है। इसको ही परिणाम कहते हैं। आचार्य स्थिरमति स्पष्ट करते हैं कि परिणाम का अर्थ कारणक्षणनिरोधसमकालीन कारणक्षणविलक्षण कार्यात्मलाभ है। अतः परिणाम शब्द से विज्ञान का प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व सूचित किया जाता है। जीव और जगत्, विषयी और विषय, कारण और कार्य, हेतु और फल, पुण्य और पाप आदि समस्त द्वैतजाल एवं बुद्धिप्रपञ्च को हृदय से चिपकानेवाले, संसार और उसकी जननी अविद्या का गाढालिंगन करनेवाले इस आलयविज्ञान का प्रतिक्षणपरिणामी प्रवाह "स्रोतसौघवत्" निरन्तर गतिशील रहता है। विद्या या सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति होते ही अविद्या अपने कार्यजाल सहित उड़ जाती है और उसी क्षण आलयविज्ञान का प्रवाह सहसा और सर्वथा रुक जाता है। इसीलिए आचार्य वसुबन्धु ने कहा है—"तस्य व्यावृत्तिरर्हत्वे" (का ५) अर्थात् अर्हत्व या बुद्धत्व की प्राप्ति होते ही आलयविज्ञान की धारा सूख जाती है।

जीवात्मा या मनोविज्ञान आलयविज्ञान का परिणाम है और उसी पर आश्रित है। यह सदा क्लेशचतुष्टयसमन्वित रहता है। ये चार क्लेश हैं—(१) आत्मदृष्टि, (२) आत्ममोह, (३) आत्ममान, और (४) आत्मस्नेह। अहंकार और ममकार के क्षीण हो जाने पर ये क्लेश भी क्षीण हो जाते हैं और मनोविज्ञान आलयविज्ञान में लीन हो जाता है। पश्चात् सम्यक् ज्ञान होने पर यह आलयविज्ञान भी विज्ञानमात्र में लीन हो जाता है।

तृतीय परिणाम, जो आलय का द्वितीय परिणाम है, विषयविज्ञप्ति है। यह षड्विध विज्ञानस्वरूप है और अनेक कुशल तथा अकुशल क्लेश एवं उपक्लेश समन्वित है।

स्पष्ट है कि विषयी और विषय दोनों ही आलयविज्ञान के परिणाम हैं और आलयविज्ञान स्वयं विज्ञानमात्र का परिणाम है। विषयी जीव और विषय जगत्, मनोविज्ञान और विषयविज्ञप्ति, इन दोनों का आलयविज्ञान के साथ वही सम्बन्ध है जो तरंगों का जल के साथ है (तरंगाणां यथा जले, का० १५)। और स्वयं आलयविज्ञान भी विज्ञानमात्र का आभास है। अतः सिद्ध है कि विज्ञानमात्र ही एकमात्र तत्त्व है। (१)

शून्यवाद के परमार्थ को विज्ञानवाद परिनिष्पन्न कहता है और शून्यवाद की संवृति को विज्ञानवाद परिकल्पित और परतन्त्र इन दो भागों में विभाजित कर देता है। परिकल्पित प्रतिभास है और परतन्त्र व्यवहार। लंकावतार के अनुसार परिकल्पित, शशशृंग, बन्ध्यापुत्र, खपुष्प, स्वप्न, मरीचिका, तैमिरिकदृष्टिसृष्ट केशोण्ड्रक, द्विचन्द्रदर्शन आदि के समान नितरां असत् है। परतन्त्र, सविकल्प बुद्धिजन्य और हेतुप्रत्ययाधीन है। तथा परिनिष्पन्न, परमार्थसत् है जो तथता, तथागतगर्भ, आलयविज्ञान, आर्यज्ञान, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्सम्बोधि, प्रज्ञा, चित्त आदि नामों से पुकारा जाता है। (२) मैत्रेयनाथ परिकल्पित स्वभाव को 'अत्यन्तशून्य' अर्थात् अत्यन्त असत् कहते हैं; परतन्त्र स्वभाव को 'लौकिकगोचर' अर्थात् व्यवहारनिष्ठ मानते हैं; तथा परिनिष्पन्न स्वभाव को 'अविकल्पज्ञानगोचर' बतलाते हैं। (३) आचार्य असंग के अनुसार परिकल्पित स्वभाव जल्प या नाममात्र है; परतन्त्र स्वभाव भ्रान्तिरूप है; और परिनिष्पन्न स्वभाव अनिर्वचनीय परमार्थ है। (४) आचार्य वसुबन्धु भी परिकल्पित को नाममात्र, परतन्त्र

---

(१) विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते। तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्।—त्रिंशिका, का० १७

(२) लंकावतार, पृ० ५६, ६७, ६८, २२२, २२६

(३) मध्यान्तविभाग, पृ० १९

(४) महायानसूत्रालंकार, अध्याय ११

को प्रत्ययोद्भव विकल्प और परिनिष्पन्न को निरपेक्ष और स्वयंनिष्ठ मानते हैं। (१)

उपर्युक्त स्वभावत्रय वास्तव में अनिर्वचनीय और अनिर्वचनीय होने से निःस्वभाव हैं। किन्तु तीनों ही तीन भिन्न भिन्न अर्थों में निःस्वभाव हैं और निःस्वभाव होने से शून्य हैं। परिकल्पित स्वभाव कल्पनामात्र है और नितरां असत् होने से यह स्वभाव कहलाने के योग्य नहीं। इसकी निःस्वभावता और शून्यता सुस्पष्ट है। परतन्त्र स्वभाव प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से 'स्वभाव' अर्थात् 'स्वतन्त्र सत्ता' से रहित है। अतः निःस्वभाव है। यह बुद्धिजन्य है; किन्तु वास्तव में बद्धि की कोटियों द्वारा इसका सम्यक् प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। न यह 'सत्' है क्योंकि सत् परिनिष्पन्न ही हो सकता है; न यह 'असत्' है क्योंकि असत् होने से परिकल्पित हो जायगा; न यह 'सद्सत्' है क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरुद्ध 'सत्' और 'असत्' एक साथ एक ही स्थान में नहीं रह सकते; और न यह 'सदसद्विलक्षण' है क्योंकि व्यवहारविषय है। अतः यह अनिर्वचनीय है और मिथ्या है। स्वतन्त्रसत्ताहीन होने से यह निःस्वभाव या स्वभावशून्य है। परिनिष्पन्न स्वभाव भी चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त और अनिर्वचनीय है। 'स्वभाव' बुद्धि की एक कोटि है और बुद्धि की कोई कोटि इसका सम्यक् ग्रहण नहीं कर सकती। अतः यह भी निःस्वभाव अर्थात् प्रपंचशून्य है। किन्तु स्वतःसिद्ध होने से यह परमार्थ है। (२)

आचार्य वसुबन्धु का विज्ञप्तिमात्र तत्त्व नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वयंप्रकाश विज्ञान है। सविकल्प बुद्धि की समस्त सापेक्ष धारणायें, सम्पूर्ण ग्राहकग्राह्यरूपी द्वैत तथा सारा जगत्प्रपञ्च यहाँ आकर लीन हो जाता है। यह तत्त्व अद्वय और बुद्धि द्वारा अनिर्वचनीय है। जब ग्राहक और ग्राह्य

---

(१) त्रिंशिका, का० २०-२१; त्रिस्वभावनिर्देश

(२) त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम्।
सन्धाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता ॥-त्रिंशिका का० २३

रूपी द्वैत क्षीण हो जाता है तब 'धर्मधातु' अर्थात् स्वतःसिद्ध विज्ञानमात्र तत्व की प्राप्ति होती है। (१) और जब तक मनोविज्ञान को विज्ञानमात्र के साथ अपना तादात्म्यज्ञान नहीं होता अर्थात् जब तक मनोविज्ञान अपना वास्तविक स्वरूपज्ञान नहीं कर लेता, तब तक ग्राहक और ग्राह्य रूपी द्वैत क्षीण नहीं हो सकता। (२) अतः स्वरूपज्ञान आवश्यक है। स्वरूपज्ञान होते ही अविद्या अपने समस्त कार्यप्रपञ्चसहित विलीन हो जाती है। तब केवल स्वयंज्योति विज्ञानमात्र ही चमकता है। यह स्वानुभूति या विशुद्धज्ञान द्वारा साक्षात् किया जाता है। सविकल्प बुद्धि इसे ग्रहण नहीं कर सकती। अतः बुद्धि का यह कथन भी कि 'तत्व विज्ञप्तिमात्र है' उपचार और उपलंभ मात्र है। बुद्धिग्राह्य होने से यह कथन भी असत्य है। किन्तु इस कथन की असत्यता स्वयं विज्ञप्तिमात्र को असत्य सिद्ध नहीं करती क्योंकि विज्ञप्तिमात्र सविकल्प बुद्धि से परे निर्विकल्प ज्ञान या स्वानुभूति द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध है। यह बुद्धि के समस्त विकल्प, उपचार, उपलंभ, कोटि, धारण, तर्क आदि से परे है। यह निर्विकल्प निर्विशेष लोकोत्तर विशुद्ध अद्वय ज्ञान है। यही अत्यन्त विशुद्ध अनास्रव धातु या तत्व है। यह अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है। यह कुशल, सुखस्वरूप, परमानन्दरूप और शिव है। यह ध्रुव, शाश्वत और नित्य है। यही मोक्ष, मुक्ति और निर्वाण है। इसी को विज्ञानधातु, धर्मधातु, धर्मकाय, बुद्धकाय आदि कहते हैं। (३)

---

(१) द्वयोरनुपलम्भेन धर्मधातूपलंभता।—त्रिस्वभावनिर्देश, का० ३७

(२) यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठते। ग्राह्यद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते॥ त्रिंशिका, २६

(३) विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलंभतः। स्थापयन् अग्रतः किंचित् तन्मात्रे नावतिष्ठते॥—त्रिंशिका, का० २७

अचित्तोऽनुपलंभोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।—वहीं, का० २९

स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः। सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः॥—वहीं, का० ३०

प्रचलित मत है कि बौद्ध विज्ञानवाद बाह्य अर्थों को सर्वथा असत् और विज्ञान को क्षणिक मानता है। हमने जो विज्ञानवाद का विवेचन किया है उससे इस प्रचलित मत की असत्यता स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। विज्ञानवाद बाह्य अर्थों की स्वतंत्र सत्ता का निराकरण अवश्य करता है किन्तु उन्हें व्यक्तिगत मनोविज्ञान द्वारा सृष्ट नहीं मानता। इसे हम वैयक्तिक दृष्टिसृष्टिवाद या मनोविज्ञानवाद (Subjectivism) कदापि नहीं कह सकते। बाह्य जगत् और विषयी जीव दोनों ही आलयविज्ञान के परिणाम हैं। बाह्य अर्थ मिथ्या हैं और साथ ही साथ जीव भी मिथ्या हैं। बाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता के प्रतिषेधार्थ स्वप्नावस्था और जागरितावस्था समान बतलाई अवश्य गई हैं, किन्तु साथ ही साथ यह भी नहीं भूलना चाहिये कि परिकल्पित स्वभाव को परतन्त्रस्वभाव से भिन्न बतलाया गया है। दोनों की समानता केवल इसी बात को ज्ञापित करती है कि दोनों ही वास्तव में मिथ्या हैं। दोनों की समानता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि दोनों ही समान रूप से 'असत्' हैं। ध्यान देने की बात है कि बाह्य पदार्थों के '*विषयत्व*' का खण्डन नहीं किया गया है। बाह्य पदार्थ अवश्य ही 'सत्' नहीं हैं क्योंकि 'सत्' केवल विज्ञान है। इसीलिये तथाकथित बाह्य जगत् को विज्ञानवाद 'विषयविज्ञप्ति' कहता है। 'विषयविज्ञप्ति' इस नाम में ही 'विषयत्व' का समावेश है, उसका निराकरण नहीं। द्रष्टा जीव को दृश्य जगत् अवश्य ही 'दृश्य' या 'विषय' के रूप में प्रतीत होता है। विषयी जीव या मनोविज्ञान जगत् के पदार्थों को या विषयविज्ञप्ति को 'विषयरूपेण' देखता है। मनोविज्ञान विषयविज्ञप्ति का द्रष्टा है, स्रष्टा नहीं है क्योंकि दोनों ही आलयविज्ञान के आभास हैं जो स्वयं विज्ञप्तिमात्र का आभास है। विज्ञानवाद का कथन यही है कि तथाकथित बाह्य जगत् की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है क्योंकि वह विज्ञान-बाह्य नहीं है। विषयी मनोविज्ञान या जीव और विषयविज्ञप्ति या जगत् दोनों का नर्तन विज्ञप्तिमात्र के अटल वज्र-वृत्त के भीतर हो रहा है और इस वृत्त के बाहर पदन्यास करने में दोनों ही सर्वथा असमर्थ हैं। विषय जगत् में विषयत्व अवश्य है, किन्तु उसका विषयत्व

विज्ञान-बाह्य नहीं। विषयी जीव में विषयित्व या द्रष्टृत्व अवश्य है, किन्तु यह उसका अपना नहीं है अपितु विज्ञप्तिमात्र या साक्षिचैतन्य का है।

विज्ञानवाद को क्षणिकवाद और प्रचलित नैरात्म्यवाद अर्थात् विशुद्धात्मनैरात्म्यवाद भी नहीं माना जा सकता। मनोविज्ञान, विषयविज्ञप्ति एवं इनका जनक आलयविज्ञान तीनों ही क्षणिक अवश्य हैं क्योंकि परिवर्तनशील हैं, किन्तु इन तीनों परिणामों का आधारभूत अद्वय तत्त्व जिसे विज्ञप्तिमात्र या विज्ञानमात्र कहा गया है (और जिसे लंकावतारसूत्र आलयविज्ञान कहता है) अनित्य नहीं है। उसे प्रकट रूप से ध्रुव, शाश्वत, नित्य, अजर, अमर कहा गया है। अतः विज्ञानवाद क्षणिकवाद नहीं है। विज्ञानवाद विशुद्ध आत्मा का निराकरण कभी नहीं करता। 'आत्मा' से वह 'जीवात्मा' या 'अहंकार' या 'सविकल्प बुद्धि' समझता है और उसका सम्यक् खण्डन करता है। तत्त्व को वह 'विशुद्धात्मा', 'महात्मा' 'बुद्धात्मा' 'अनभिलाप्यात्मा' 'परमात्मा' आदि कहता है। आलयविज्ञान (लंकावतार का), विज्ञानमात्र, विज्ञप्तिमात्र, चित्तमात्र, तथागतगर्भ, बुद्धकाय, धर्मकाय, धर्मधातु, विज्ञानधातु, विशुद्धात्मा आदि सब तत्त्व के पर्याय हैं और यह तत्त्व निर्विकार, निर्विकल्प, निरपेक्ष, नित्य और शाश्वत विज्ञान तथा विशुद्धात्मस्वरूप है। विज्ञानवाद को—'स्वतन्त्रविज्ञानवाद' को नहीं—क्षणिकवाद, वैयक्तिक दृष्टिसृष्टिवाद, तथा प्रचलित अर्थ में नैरात्म्यवाद आदि कहना उस पर मिथ्या लाञ्छन लगाना है और केवल यही सूचित करता है कि ऐसे मिथ्या आरोप करनेवाला व्यक्ति विज्ञानवाद के सम्मान्य ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से सर्वथा अपरिचित है।

यहाँ पर महामहोपाध्याय पं० विधुशेखर भट्टाचार्य के एक आक्षेप का उत्तर देना भी आवश्यक है। पं० भट्टाचार्य का मत है कि वसुबन्धु का विज्ञप्तिमात्र तत्त्व 'कूटस्थनित्य' नहीं है, अपितु केवल 'आपेक्षिक-नित्य' है। पं० भट्टाचार्य प्रथम को 'नित्य' और द्वितीय को 'ध्रुव' कहते हैं। ध्रुव का अर्थ केवल आपेक्षिक-नित्य या सन्तति-नित्य है जो वास्तव में अनित्य है। पं० भट्टाचार्य का आग्रह है कि त्रिंशिका की ३० वीं कारिका में वसुबन्धु

ने विज्ञप्तिमात्र के लिये 'ध्रुव' शब्द का प्रयोग किया है, 'नित्य' शब्द का नहीं। अतः विज्ञप्तिमात्र केवल आपेक्षिकनित्य या सन्ततिनित्य है और वास्तव में अनित्य है। (१)

पं० भट्टाचार्य यदि वसुबन्धु के आलयविज्ञान के लिये यह बात कहते तो वह अवश्य ठीक होती क्योंकि वसुबन्धु स्वयं ही अपने आलयविज्ञान को "वर्तते स्रोतसौघवत्" (त्रिंशिका ४) कह कर उसके सन्ततिनित्यत्व का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु शायद पं० भट्टाचार्य वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्र और आलयविज्ञान का भेद भूल गये हैं। उनका यह कथन कि विज्ञप्तिमात्र सन्ततिनित्य है सर्वथा असत्य है। उनका 'नित्य' और 'ध्रुव' का भेद भी कल्पित है, वास्तविक नहीं, क्योंकि बौद्ध और वेदान्त दर्शन में 'ध्रुव', 'नित्य', 'अजर', 'अमर', 'शाश्वत', 'कूटस्थ' आदि शब्दों का व्यवहार पर्यायों के रूप में हुआ है। आचार्य वसुबन्धु ने पूर्वोक्त कारिका में 'ध्रुव' शब्द को निश्चय ही कूटस्थ नित्य के अर्थ में प्रयुक्त किया है। यह भाव आचार्य स्थिरमति अपने भाष्य में स्पष्ट कर देते हैं। वे कहते हैं कि विज्ञप्तिमात्र ध्रुव है क्योंकि नित्य है और नित्य होने के कारण ही सुखस्वरूप है क्योंकि जो नित्य है वही आनन्दस्वरूप है और जो अनित्य है वही दुःखरूप है। (२) क्या यह कथन पं० भट्टाचार्य के मत का समूल उच्छेद नहीं कर देता ?

आचार्य वसुबन्धु का विज्ञानवाद विशुद्ध विज्ञानवाद है; स्वयंप्रकाश-विज्ञानवाद है; नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, विशुद्ध आत्मवाद है। यह अद्वैत वेदान्त का पूर्वरूप है। यह सत्य है कि इस सिद्धान्त का जैसा विशद और जैसा साङ्गोपाङ्ग विवेचन अद्वैत दर्शन में हुआ है वैसा बौद्ध दर्शन में नहीं हो सका है। किन्तु यह ध्वनि तो इसे अद्वैत का पूर्वरूप कहने में ही झलक आती है। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट कर देना अत्यावश्यक है कि अद्वैत-

---

(१) दि आगमशास्त्र ओव गौडपाद, इंट्रोडक्शन, पृ० CXLii

(२) ध्रुवो नित्यत्वात्, सुखो नित्यत्वाद् एव, यदनित्यं तद् दुःखम्, अयं च नित्यः इत्यस्मात् सुखः।—त्रिंशिकाभाष्य, पृ०४४

वेदान्त ने अपने मूल सिद्धान्त बौद्धवाद से नहीं लिए हैं, किन्तु बौद्ध और अद्वैत दोनों वादों ने ही ये मूल सिद्धान्त श्रुति से लिये हैं। यह मान्य है कि उपनिषद् के इन मूल सिद्धान्तों का जो विवेचन बौद्धदर्शन में हुआ उसका पर्याप्ति प्रभाव अद्वैतदर्शन पर पड़ा है। दोनों दर्शन एक ही सम्प्रदाय के पोषक हैं और उसके विकास के विभिन्न अंग हैं। अद्वैत वेदान्त में इन सिद्धान्तों का चरम विकास हुआ है। हम साग्रह कहते हैं कि वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्र, आलयविज्ञान, मनोविज्ञान, विषयविज्ञप्ति और परिणाम ने क्रमशः अद्वैतवेदान्त में ब्रह्मन् या आत्मन्, ईश्वर, जीव, जगत् और विवर्त का स्थान ग्रहण किया है।

चतुर्थ अध्याय

स्वतन्त्र-विज्ञानवाद

इस मत को स्वतन्त्र-विज्ञानवाद या स्वतन्त्र-योगाचार या सौत्रान्तिक-योगाचार कहा जाता है। यह विज्ञानवाद के मूल सिद्धान्त को स्वीकार करता है कि तत्व विज्ञानस्वरूप है और उस सिद्धान्त को स्वतन्त्र प्रमाणों से पुष्ट करना चाहता है। अतः इसकी संज्ञा स्वतन्त्र-विज्ञानवाद है। यह योगाचार के दार्शनिक तत्त्व को सौत्रान्तिक के प्रमाणों से पुष्ट करके दोनों का समन्वय करना चाहता है। अतः इसकी संज्ञा सौत्रान्तिक योगाचार भी है। हम इसे बौद्ध न्यायवाद कह सकते हैं।

आचार्य वसुबन्धु के शिष्य आचार्य दिङ्नाग इस मत के मूल प्रवर्तक हैं। दिङ्नाग मध्यकालीन भारतीय न्याय के पिता हैं, जैसे कि गोतम महर्षि प्राचीन न्याय के तथा पं० गंगेश नव्य-न्याय के। भारतीय दर्शनभूमि पर आचार्य दिङ्नाग द्वारा संस्थापित तथा सिंचित, धर्मकीर्ति द्वारा प्रवर्धित तथा पल्लवित, शान्तरक्षित और कमलशील द्वारा पुष्पित तथा फलित बौद्ध न्यायवृक्ष ने अपने सौरभ से दार्शनिकों को आमोद दिया।

आचार्य नागार्जुन ने विग्रहव्यावर्त्तनी नामक न्याय पुस्तिका लिखी थी। आचार्य असंग ने बौद्ध मत में न्याय के अनुमान का प्रचार किया। आचार्य वसुबन्धु ने वादविधि और वादविधान नामक दो न्याय पुस्तिकायें लिखीं। इनमें वादविधि वसुबन्धु ने जब वे वैभाषिक थे तब लिखी थी। पश्चात् योगाचार बनने पर उन्होंने वादविधान में अपनी पहले की त्रुटियों को सुधारा। आचार्य दिङ्नाग ने अपने गुरु की न्यायप्रवृत्ति को पूर्ण करने के विचार से बौद्ध न्याय की स्थापना की।

यह ध्यान में रखना अत्यावश्यक है कि यद्यपि स्वतन्त्र-विज्ञानवाद विज्ञानवाद के 'विज्ञान ही तत्त्व है' इस मूल सिद्धान्त को स्वीकार करता है, तथापि वह विज्ञानवादसम्मत विज्ञानमात्रनित्यत्व का समर्थन नहीं करता। स्वतन्त्र-विज्ञानवाद का परमार्थसत् क्षणिक विज्ञान है। विज्ञानवाद ने क्षणिकवाद को परिकल्पित और परतन्त्र तक ही सीमित रक्खा और उसे परिनिष्पन्न का स्पर्श तक नहीं करने दिया। स्वतन्त्र-विज्ञानवाद ने क्षणिकवाद की अस्पर्शता को दूर करके उसे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र किया, और उसे सहर्ष परिनिष्पन्न-मन्दिर में जाकर परमार्थ का गाढालिंगन करने दिया। सम्यक्सम्बुद्ध द्वितीयबुद्ध अशेषदिग्बन्धु आचार्य वसुबन्धु की सर्वतोमुखी ख्याति के आगे दिङ्नाग को प्रकट रूपेण सहसा यह कहने का साहस नहीं हुआ कि विज्ञानमात्र तत्त्व भी अनित्य है। साथ ही साथ उन्हें अपने विचारों को गुप्त रखना भी प्रिय न लगा। फलतः उन्होंने कहा कि जहाँ परमार्थ का प्रश्न है वहाँ तो वे आचार्य वसुबन्धु के चरणचिन्हों पर चलते हैं, किन्तु जहाँ संवृति का प्रश्न है वहाँ वे नैयायिकों का खण्डन करके स्वतन्त्र रीति से बौद्धन्याय का प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने न्याय की सांवृतिक दशा में ही रहना स्वीकार किया और वसुबन्धु के दार्शनिक तत्त्व को स्वतन्त्र प्रमाणों द्वारा पुष्ट करने के बहाने उसके प्राणभूत नित्यत्व पर ही कुठाराघात किया। यद्यपि सभी स्वतन्त्रविज्ञानवादी, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित आदि सभी, ऊपर से यह स्वीकार करते हैं कि परमार्थविनिश्चयार्थ वे आचार्य वसुबन्धु द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर ही चल रहे हैं, तथापि वास्तव में भीतर ही भीतर वे लोग वसुबन्धु के नित्य विज्ञानमात्र का गला घोंट कर उसके शव पर अपने क्षणिक विज्ञान का नृत्य कराते हैं। आलयविज्ञान और तथागतगर्भ को वे प्रच्छन्न 'आत्मा' कहकर ठुकरा देते हैं। जिस हीनयान को "यद्धीनं हीनमेव तत्" कहकर शून्यवादी और विज्ञानवादी आचार्यों ने महायान की पुष्टि की और हीनयान पर भगवान् बुद्ध के सदुपदेशों को हीन बना देने का आरोप लगाकर अपने सिद्धान्तों में उन त्रुटियों को सुधारा एवं हीनपंक में लिप्त सद्धर्मरत्न को महा-जल से धोकर प्रोज्ज्वल किया, उसी हीनयान के क्षणिकवाद की शरण

अपने आपको महायानी कहनेवाले इन स्वतन्त्र-विज्ञानवादियों ने ली और अपनी प्रतिभाशक्ति से उस क्षणिकवाद को पुनर्जीवन देकर नवीन और परिष्कृत बनाया। आचार्य वसुबन्धु ने स्वप्न में भी न सोचा होगा कि उनके शिष्य-प्रशिष्य अपने आपको "स्वतन्त्र" कह के उनके सिद्धान्त की इतनी दुर्गति करेंगे।

खेद है कि आचार्य दिङ्नाग की कृति 'प्रमाणसमुच्चय' मूल संकृत में उपलब्ध नहीं है। श्रीयुत एच. आर. रङ्गस्वामी अयंगर ने उसके प्रथम परिच्छेद को भोटभाषानुवाद से संस्कृत में अनूदित किया है। आचार्य धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' को मूल संस्कृत में तिब्बत से खोज कर प्रकाशित कराने का श्रेय महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को है। आचार्य शान्तरक्षित का 'तत्त्वसंग्रह' आचार्य कमलशील की 'पञ्जिका' सहित गायकवाड़ लाइब्रेरी से प्रकाशित हो चुका है। धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्तिक, प्रमाणसमुच्चय पर वार्तिक कहा जाने पर भी वास्तव में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, तथा शान्तरक्षित का तत्त्वसंग्रह, स्वतन्त्र ग्रन्थ कहा जाने पर भी, वास्तव में प्रमाणवार्तिक पर एक स्वतन्त्र वार्तिक कहा जा सकता है।

स्वतन्त्रविज्ञानवादियों के समय में नैयायिक और मीमांसक उनके दो प्रधान मल्ल थे। दिङ्नाग ने अक्षपाद गोतम के न्यायसूत्र की और उस पर वात्स्यायन के न्यायभाष्य की इतनी कड़ी आलोचना की, कि उद्योतकर भारद्वाज को बौद्ध तार्किकों की "अज्ञाननिवृत्ति" के लिये न्यायवार्तिक लिखना पड़ा। (१) किन्तु धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणवार्तिक में न्यायवार्तिक को इतना खण्डित कर दिया कि बाद में प्रसिद्ध अद्वैताचार्य वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका लिखकर दुस्तरबौद्धतर्कपंकमग्न उद्योतकर

---

(१) यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥
—न्यायवार्तिक १।१।१

की जीर्ण वाग्गायों के उद्धार करने का पुण्य प्राप्त करना चाहा। (१) धर्मकीर्ति ने मीमांसा को भी अपने तर्कशर से इतना छिन्न भिन्न कर दिया कि आचार्य कुमारिल को उसका उत्तर देने के लिये श्लोकवार्तिक नामक बृहद् ग्रन्थ लिखना पड़ा। नैयायिकों तथा मीमांसकों के तीव्र प्रहारों का उत्तर देने के लिये आचार्य शान्तरक्षित को तत्त्वसंग्रह और कमलशील को उस पर पञ्जिका लिखनी पड़ी। किन्तु अन्ततोगत्वा बौद्ध मत ब्राह्मण मत के तीव्र प्रहारों से छिन्न भिन्न होकर अपनी जन्मभूमि से लुप्त हो गया। शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशील को तिब्बत जाकर शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार स्वतन्त्रविज्ञानवाद खण्डन और मण्डन दोनों रूपों में विशाल और उत्कृष्ट दार्शनिक साहित्य को जन्म देकर काल-चक्र से अपनी जन्मभूमि से ही लुप्त हुआ।

इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर अब हम स्वतन्त्र-विज्ञानवाद का विवेचन करते हैं। हमें यहां उसकी न्याय-धारा की अपेक्षा उसकी वास्तविक दर्शनधारा से अधिक प्रयोजन है।

क्षणिकवाद तथा प्रतीत्यसमुत्पादवाद :—स्वतन्त्रविज्ञानवाद का मत है कि प्रमाण दो हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष से स्वलक्षण और अनुमान से सामान्यलक्षण की उपलब्धि होती है। धर्मिधर्मव्यवहाररूप समस्त जगत्प्रपञ्च बुद्धिजन्य है और बुद्धि की पहुँच सामान्यलक्षण तक ही है। स्वलक्षण या परमार्थसत् बुद्धिगम्य नहीं। परमार्थसत् का लक्षण अर्थक्रिया-सामर्थ्य है। जो अग्नि, दाह, पाक और प्रकाश में समर्थ है वही वास्तविक अग्नि है। जो वस्तु न जला सकती है, न पका सकती है, न उजाला कर सकती है, वह अग्नि नहीं हो सकती। अर्थक्रिया में असमर्थ वस्तु का विचार करना, सौभाग्यकांक्षिणी कामिनी का षण्ढ के रूप-विरूप की परीक्षा करने

---

(१) यदलंभि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपंकमग्नानाम्।
उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्॥
—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका १।१।१

के समान, व्यर्थ है। (१) जो क्षणिक है वही अर्थक्रिया में समर्थ हो सकता है। नित्य पदार्थ शशशृंग के समान है। स्वलक्षण 'इदं', 'अत्र' और 'अधुना' में विद्यमान रहने वाला एक अनिर्वचनीय अर्थक्रियासमर्थ क्षण है। बुद्धि की पहुँच वहां तक नहीं है। बुद्धि केवल धर्मिधर्मरूपी अनुमानजाल ही बुन सकती है। अतः बुद्धिप्रपञ्च रूपी यह समस्त जगत् केवल व्यवहार है, विज्ञप्ति है, उपचार है, कल्पना है, इच्छारचित संकेत है। तत्त्व केवल स्वलक्षण रूपी अनिर्वचनीय अर्थक्रियासमर्थ क्षण है।

सत्ता और अर्थक्रियासामर्थ्य एक ही वस्तु के दो नाम हैं। तत्त्व का अर्थ है गति या परिवर्तन। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि कोई वस्तु 'तत्त्व' है जो गतिशील या परिवर्तनशील है; अनवच्छिन्न गति या परिवर्तन ही एक मात्र तत्त्व है। गति और गतिशील पदार्थ, परिवर्तन और परिवर्तनशील पदार्थ, क्षण और क्षणिक पदार्थ—इनमें वास्तव में कोई भेद नहीं है; इनका दिखावटी भेद भाषा और बुद्धि के कारण है और इसलिये मिथ्या है। गति, परिवर्तन, अर्थक्रियासामर्थ्य, सत्ता आदि सब स्वलक्षण रूपी क्षण के पर्याय हैं। जो सत् है वह अर्थक्रियासमर्थ है जो अर्थक्रियासमर्थ है वह क्षणिक है; जो क्षणिक है वह परिवर्तनशील है; और जो परिवर्तनशील है वही परिवर्तन है, गति है, सत्ता है, क्षण है, परमार्थ है। एक ओर स्वतन्त्रविज्ञानवादी यह कहता है कि सत्ता ही गति या परिवर्तन है; और दूसरी ओर यह कहता है कि गति या परिवर्तन असंभव है। गति असंभव है क्योंकि कोई वस्तु नहीं है जिसमें गति हो या जो परिवर्तनशील हो। गति या परिवर्तन भ्रान्ति है। गति वास्तव में उत्पन्न होकर नष्ट होने वाले अगतिशील क्षणों की धारा है। एक क्षण उत्पन्न हुआ और दूसरे क्षण को जन्म देकर नष्ट हो गया; दूसरा क्षण भी उत्पन्न होते ही तीसरे क्षण को जन्म देकर नष्ट हो गया; इस प्रकार यह अगतिशील क्षणों का उत्पाद और विनाश एक प्रकार की धारा या प्रवाह या गति की भ्रान्ति उत्पन्न करता है।

---

(१) प्रमाणवार्तिक, १।२१२

उदाहरणार्थ, एक नदी का पानी बहता हुआ दिखाई देता है। परन्तु वास्तव में प्रतिक्षण नया पानी आता रहता है और यह प्रवाह, धारा या सन्तान की भ्रान्ति उत्पन्न करता है। इसीलिये कहा गया है कि कोई मनुष्य एक नदी में दो बार नहीं नहा सकता क्योंकि दुबारा स्नान करते समय प्रथमस्नान वाला पानी बह चुका है और उसके स्थान में दूसरा पानी आ चुका है। इसी प्रकार एक दिखाई देने वाली दीपशिखा में भी वास्तव में प्रतिक्षण नयी लौ पहली लौ का स्थान ग्रहण करती रहती है। यदि आपने कभी ध्यान दिया हो तो देखा होगा कि जब एक हरीकेन-लालटेन ख़राब होकर भभकने लगता है तो उसमें रुक रुक कर एक के बाद दूसरी लौ भभक भभक कर उठती है जिन्हें आप अलग अलग गिन सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि एक दिखाई देने वाली दीपशिखा वास्तव में प्रतिक्षण उत्पन्न होकर नष्ट होने वाली शिखाओं की लड़ी है। स्वतन्त्रविज्ञानवादी के मतानुसार इनमें प्रतीत होने वाले प्रवाह, धारा या सन्तान की केवल भ्रान्ति होती है। कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें गति या परिवर्तन हो सकता हो। स्वतन्त्रविज्ञानवादी का यह विरोधाभास कि एक ओर तो सत्ता ही गति है और दूसरी ओर गति असंभव है इस बात को ध्यान में रखने से दूर हो जाता है कि वास्तव में गति और गतिशील पदार्थ में कोई अन्तर नहीं है। गतिशील सत्ता ही स्वयं गति है। केवल अनवच्छिन्न गति या परिवर्तन ही एकमात्र तत्त्व है। क्षण और क्षणिक में कोई अन्तर नहीं। परिवर्तनशील वस्तु परिवर्तन से भिन्न वस्तु नहीं है।

स्वतन्त्रविज्ञानवादी स्वीकार करता है कि सब धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं और इसीलिये परमार्थतः अनुत्पन्न हैं। धर्मों की उत्पत्ति न स्वतः है, न परतः, न उभयतः और न अहेतुतः। अतः प्रतीत्यसमुत्पन्न का अर्थ स्वभावतः अनुत्पन्न है। सब धर्म निर्व्यापार और अकिंचित्कर हैं। कारण कार्य को उत्पन्न नहीं करता। कारणक्षण को कार्यक्षण उत्पन्न करने का समय ही नहीं मिलता। उत्पत्ति का अर्थ है केवल आनन्तर्यनियम और यही अपेक्षित है। आनन्तर्यनियम का अर्थ है कारणक्षण का कार्यक्षण के पहले और

कार्यक्षण का कारणक्षण के अनन्तर होना। कार्यक्षण का कारणक्षणानन्तर-भावित्व ही आनन्तर्यनियम कहलाता है और इसी को अपेक्षा भी कहते हैं। इसी का नाम उत्पत्ति है। स्वतन्त्रविज्ञानवादी का यह दूसरा विरोधाभास कि एक ओर तो सत्ता का अर्थ ही अर्थक्रियासामर्थ्य है और दूसरी ओर सब धर्म निर्व्यापार और अकिंचित्कर हैं, इस बात पर ध्यान देने से दूर होता है कि सत्ता ही व्यापार है, कि आनन्तर्यनियम ही उत्पत्ति है, कि अर्थ-क्रियासामर्थ्य सत्ता से भिन्न और कोई वस्तु नहीं है।

धर्मकीर्ति कहते हैं कि सत् क्षणिक है। जो उदयात्मक है उसका निरोध भी अवश्यम्भावी है। जो पहले होकर बाद में नष्ट हो जाता है वही क्षण है। विनाश अहेतुक है; अतः सब धर्मों का विनाश स्वाभाविक है। ध्यान देने की बात है कि यहाँ विनाश से तात्पर्य 'भाव' का विनाश नहीं है। जब किसी 'भाव' या 'धर्म' की उत्पत्ति ही संभव नहीं तो उसका विनाश कैसे संभव होगा ? जिस प्रकार उत्पत्ति का अर्थ है कार्यक्षण का कारणक्षण के अनन्तर विद्यमान होना, उसी प्रकार विनाश का अर्थ है कारणक्षण का कार्यक्षण के अनन्तर विद्यमान न रहना। अतः सत् और असत्, उत्पत्ति और विनाश, एक ही वस्तु के दो पहलू हैं क्योंकि दोनों ही क्षणिकवाद को सिद्ध करते हैं। उत्पत्तिशील धर्म का विनाश अवश्य होगा—इस वाक्य का अर्थ है कि प्रत्येक धर्म क्षणिक है। (१)

शान्तरक्षित भी कहते हैं कि उदयात्मक धर्म अपने विनाश के लिये किसी की अपेक्षा नहीं रखते। विनाश अहेतुक है क्योंकि विनाश का अर्थ भाव-विनाश नहीं है। सब नाशहेतु अकिंचित्कर हैं। विनाश दो प्रकार का होता है—वास्तविक और व्यावहारिक। वास्तविक विनाश क्षणस्थितिधर्मरूप है। व्यावहारिक विनाश ध्वंसरूप है। ध्वंसरूप नाश अहेतुक है क्योंकि प्रध्वंस केवल भाव के अभाव को व्यक्त करता है किसी भाव को व्यक्त नहीं करता जिस भाव के हेतु ढूँढने की आवश्यकता पड़े। क्षणस्थितिधर्मरूप विनाश

(१) प्रमाणवार्तिक, १।१६५, २७०–२८२; २।२८४–२८५; ३।११०

का भी कोई हेतु नहीं है सिवाय क्षण के। विनाश क्षणिक भाव के साथ ही उत्पन्न होता है। भाव क्षणिक है, इसका अर्थ है भाव चल है अर्थात् चलभावस्वरूप है अर्थात् विनाशस्वरूप है। (१) क्षणावस्थित-रूप वस्तु क्षणिक कही जाती है। क्षण का अर्थ समय का अंश या भाग नहीं है। क्षण का अर्थ है वस्तु का उत्पन्न होने के अनन्तर ही नष्ट हो जाना। वस्तु के उत्पाद के अनन्तर विद्यमान न रहने के स्वभाव या स्वरूप को क्षण कहते हैं। जिस वस्तु का यह स्वभाव या स्वरूप है उस वस्तु को क्षणिक कहते हैं। किन्तु वास्तव में क्षण और क्षणिक वस्तु में कोई अन्तर नहीं है। क्षणिकस्वभाव ही क्षण है। यह भेद बुद्धि और वाणी द्वारा किया गया है। अतः परमार्थतः असत् होने पर भी व्यवहार में इसके प्रयोग में कोई हानि नहीं। (२)

नैयायिक और मीमांसक आक्षेप करते हैं कि यदि भाव क्षणिक हैं तो कर्म और उनके फल व्यर्थ हो जाँयगे। जो कर्म करेगा वह कर्म करके नष्ट हो जायगा और उस कर्म का फल दूसरे को ही मिलेगा। इससे कृतविप्रणाश और अकृताभ्यागम दोष आयेंगे। पुनः, स्मृति कैसे सिद्ध होगी ? भूत और वर्तमान की तुलना करके स्मरण कौन कर सकेगा ? जब कारण कर्मोत्पत्ति तक विद्यमान नहीं रहता तो कार्य को कैसे उत्पन्न कर सकेगा ? और क्या बन्ध और मोक्ष व्यर्थ नहीं हो जायेंगे ? बन्ध एक का होगा और मोक्ष दूसरे का। अतः मोक्ष के सब साधन भी विफल होंगे।

शान्तरक्षित और कमलशील उत्तर देते हैं :—'ऐक्य' का अर्थ है केवल 'समानता' या 'सादृश्य'। प्रत्यभिज्ञा स्मृति के कारण है और स्मृति मिथ्या

---

(१) यो हि भावः क्षणस्थायी, विनाश इति गीयते।—तत्त्वसंग्रह, का ३७५

(२) उत्पादानन्तरास्थायि स्वरूपं यच्च वस्तुनः।
तदुच्यते क्षणः, सोऽस्ति यस्य तत् क्षणिकं मतम्॥
असत्यप्यर्थभेदे च सोऽस्त्यस्येति न बाध्यते।
इच्छारचितसंकेतमात्रभावि हि वाचकम्॥—वहीं, का ३८८-९

है क्योंकि बुद्धिजन्य है। यदि अभी दिखाई देने वाली वस्तु 'वही' है जो पहले देखी थी, तो प्रश्न यह है कि वर्तमान विज्ञान भूतकालीन विज्ञान का ज्ञान कैसे कर सकेगा ? यह भ्रम बुद्धिकृत है। जैसे, 'यह वही नदी है', 'यह एक ही दीप-शिखा है' आदि वाक्यों में स्मृति केवल भ्रान्ति है क्योंकि नदी का पानी और दीप-शिखा प्रतिक्षण बदलती रहती है, उसी प्रकार स्मृति सब स्थलों में केवल बुद्धिजन्य भ्रान्ति ही मानी जायगी। 'वही है' का अर्थ है 'उसके समान या उसके सदृश है'। सादृश्य-ज्ञान भी व्यावहारिक है। चूंकि बुद्धि क्षणों की शृंखला में एकत्व का मिथ्या आरोप कर लेती है और चूंकि यह आरोप व्यवहार के लिये आवश्यक है अतः सादृश्य-ज्ञान, कर्म, फल, कर्ता, भोक्ता आदि सब संभव हैं। इसी तरह बन्ध और मोक्ष भी संभव हैं। वास्तव में क्षणिकवाद स्वीकार करने पर ही व्यावहारिक दृष्टि से हम इस जगत् के पदार्थों को समझ सकते हैं, अन्यथा नहीं। यदि नित्यवाद स्वीकार किया जाय, तो बन्ध और मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकते। हम आनन्तर्य-नियम को उत्पत्ति मानते हैं। कारणक्षण कार्यक्षण की उत्पत्ति के पश्चात् विनष्ट होता है, पहले नहीं। कारण का सामर्थ्य कार्योत्पाद के बाद नष्ट होता है। प्रथमक्षणभावी सामर्थ्ययुक्त कारण से द्वितीय क्षण में ही कार्य उत्पन्न हो जाता है और कार्योत्पाद के बाद ही (पहले नहीं) कारण नष्ट हो जाता है। कारण और कार्य समकालीन नहीं हैं क्योंकि कारण प्रथम क्षण में और कार्य द्वितीय क्षण में उत्पन्न होता है। कारण की स्थिति मात्र से कार्य अवश्य उत्पन्न होगा क्योंकि आनन्तर्य-नियम ही अर्थक्रिया-सामर्थ्य है और सत्ता ही व्यापार है। (१) बन्ध का अर्थ है प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र की कारण-कार्य-रूप अविद्या-संस्कार आदि की क्षण-शृंखलायें। मुक्ति

---

(१) तस्मादनष्टात्तद्धेतोः प्रथमक्षणभाविनः।
कार्यमुत्पद्यते शक्ताद् द्वितीयक्षण एव तु॥ वहीं, ५१२
सत्तैव व्यापृतिस्तस्यां सत्यां कार्योदयो यतः।
य आनन्तर्यनियमः सैवापेक्षाऽभिधीयते॥ वहीं, ५२०-१

का अर्थ है इन अशुभ क्षण-शृंखलाओं का निरोध और विशुद्ध विज्ञान की शुद्ध क्षण-सन्तति का उत्पाद। बुद्धि का निर्विकल्प अद्वय विशुद्ध ज्ञान में परिणत होना ही निर्वाण है। (१) अतः क्षणिकवाद की सिद्धि ही प्रकृति, पुरुष, ईश्वर आदि सब मिथ्या वादों का एक साथ निराकरण कर देती है। (२)

प्रत्यक्ष:—न्याय-वैशेषिक मत इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है। स्वतन्त्रविज्ञानवादी बाह्य अर्थों की सत्ता को विज्ञान-बाह्य नहीं मानता। अतः वह प्रत्यक्ष को सविकल्प बुद्धि की समस्त कल्पनाओं से रहित ; नाम, जाति आदि से अस्पृष्ट ; अभ्रान्त ; अपरोक्ष ज्ञान मानता है। (३) वैशेषिक के मतानुसार सामान्य-विशेष-समवाय-गुण-कर्म इन पञ्च पदार्थों से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष में होता है। प्रथम क्षण में आलोचन मात्र होता है और द्वितीय क्षण में विकल्प का ज्ञान हो जाता है। नैयायिक ने इसे निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष कहा है। दिङ्नाग इन पदार्थों को बुद्धिरचित संकेत मानते हैं। उनके मत में प्रत्यक्ष का विषय केवल स्वलक्षण है। स्वलक्षण समस्त कल्पनाओं से रहित है।

अनुमान:—अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थानुमान त्रिरूपात्मक लिंग द्वारा अनुमेयार्थदर्शन को कहते हैं। लिंग के त्रिरूप ये हैं—(१) अनुमेय-सत्त्व या पक्षधर्मता, (२) सपक्षसत्त्व, (३) असपक्षासत्त्व या विपक्षासत्त्व। इसी को व्याप्ति या अविनाभावनियम कहते हैं और यही अनुमान का प्राण है। परार्थानुमान को न्याय पञ्चावयववाक्य मानता है। पञ्चावयव निम्न हैं:—(१) प्रतिज्ञा : पर्वत

---

(१) कार्यकारणभूताश्च तत्राऽविद्यादयो मताः।
बन्धस्तद्विगमादिष्टा मुक्ति र्निर्मलता धियः॥ वहीं, का ५४४

(२) क्षणभंगप्रसिद्ध्यैव प्रकृत्यादि निराकृतम्। —वहीं, का ३५०

(३) प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।
अभ्रान्तमपरोक्षं च प्रत्यक्षेणैव सिध्यति॥

वह्निमान् है ; (२) हेतु: धूमवान् होने के कारण ; (३) उदाहरण : जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ वह्नि अवश्य है, जैसे रसोईघर में ; (४) उपनय : पर्वत धूमवान् है ; (५) निगमन : अतः पर्वत वह्निमान् है। दिङ्नाग इसे केवल दो अवयवों का वाक्य मानते हैं। एक तो उदाहरणसहित व्याप्ति, और दूसरा प्रतिज्ञा-हेतु-उपनय-निगमन समन्वय। उनका परार्थानुमान इस प्रकार है :—

(१) जहाँ धूम है वहाँ वह्नि अवश्य है, जैसे रसोईघर में ;

(४) पर्वत धूमवान् होने के कारण अवश्य वह्निमान् है।

आचार्य दिङ्नाग को व्याप्ति का आविष्कर्ता नहीं माना जा सकता क्योंकि उनके समय से बहुत पहले न्याय-वैशेषिक के विद्वान् इसका समर्थन करते थे। यह बात प्रो० ध्रुव ने स्पष्ट सिद्ध कर दी है। (१)

यह बात ध्यान में रखने की है कि अनुमान की गति केवल सामान्य-लक्षण तक ही सीमित है। अनुमान स्वलक्षण का स्पर्श भी नहीं कर सकता। अनुमान सविकल्प बुद्धि का खेल है और सविकल्प बुद्धि की पहुँच तत्त्व तक नहीं है। अतः इसकी सत्ता केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। (२)

प्रमाणान्तर खण्डन :—प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड़ कर अन्य कोई प्रमाण नहीं है। आप्तवाक्य को शब्द कहते हैं। उसे प्रमाण बनने के पूर्व बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरना पड़ेगा। अतः शब्द प्रमाण अनुमानान्तर्गत है। उपमान प्रत्यक्ष और स्मरण का समन्वय मात्र है। अर्थापत्ति का समावेश भी अनुमान में हो जाता है। उदाहरणार्थ, जो जो पुष्ट पुरुष दिन में भोजन नहीं करते वे रात्रि में भोजन करते हैं जैसे यज्ञदत्त, पुष्ट देवदत्त दिन में भोजन नहीं करने के कारण रात्रि में भोजन करता है। अभाव या तो

---

(१) न्यायप्रवेश, भूमिका, पृ० xxxi

(२) सर्वोऽयमनुमानानुमेयभावो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहि: सदसत्त्वमपेक्षते।—प्रमाणसमुच्चयवृत्ति

असत् है या फिर वह प्रत्यक्ष में आ जाता है। अन्य प्रमाण प्रमाण कहलाने के योग्य नहीं हैं।

वेद में अन्धविश्वास का निरास:—मीमांसानुसार वेद नित्य हैं और केवल वेद के विधि और निषेध का ज्ञान और आचरण ही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष रूपी पुरुषार्थ का लाभ है। वेद पूर्वापररहित हैं, अतः नित्य एव अपौरुषेय हैं। स्वतन्त्रविज्ञानवादी बौद्ध इसका प्रबल खण्डन करते हैं। बिना पुरुष के वेदमत का निर्माण नहीं हो सकता। हमारा वेद के रचयिताओं की परम्परा को न जानना वेद की अपौरुषेयता एवं नित्यता को सिद्ध नहीं कर सकता। यदि ऐसा हो तो म्लेच्छों के बहुत से गर्हित कर्मों को जैसे मातृविवाह, दुहितृविवाह आदि को, तथा लकीरों के फ़कीरों के अन्य अनेक मिथ्याचारों को जिनके प्रारंभ का ज्ञान हमें नहीं है, अनादि और अपौरुषेय मानना पड़ेगा। (१) यदि मीमांसक को 'स्वर्ग', 'उर्वशी' आदि वेद-प्रयुक्त शब्दों का विलक्षण अर्थ करने का अधिकार है, तो हमें भी अधिकार है कि हम 'स्वर्गकामो यजेत' का अर्थ 'सर्वज्ञो भगवान् बुद्धः' करें। यदि वेद के कतिपय अंश सत्य हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं कि समस्त वेद सत्य है। सुतर्कद्वारा अबाधित आप्तवाक्य ही आगम है और इसी का प्रामाण्य हमें स्वीकृत है! मीमांसक को चाहिये कि वह वेद के प्रामाण्य की पुष्टि नित्यता एवं अपौरुषेयता द्वारा न करके उसे तत्त्वदर्शी आप्त महर्षियों द्वारा साक्षात्कृत मन्त्रजाल मान कर करे। अलौकिकबुद्धिशाली दयालु महर्षियों के सत्य, शिव और सुन्दर सद्वचनों की प्रामाणिकता हमें अभीष्ट है। (२) साथ ही

---

(१) प्रमाणवार्तिक, १।२४७; स्ववृत्ति, पृ० ४५६; तत्त्वसंग्रह, का० २४४७; प्रमाणवार्तिक, १।२४१

(२) अतीन्द्रियार्थदृक् तस्माद् विधूतान्तस्तमश्चयः।
वेदार्थप्रविभागज्ञः कर्ता चाभ्युपगम्यताम् ॥—तत्त्वसंग्रह, का० ३१२३
प्रज्ञाकृपादियुक्तानां तथा हि सुविनिश्चिताः।
पौरुषेय्योऽपि सद्वाचो यथार्थज्ञानहेतवः ॥—वहीं, २४०२

साथ यह भी सत्य है कि जगत् में बुद्धि का साम्राज्य अखण्ड है। अनुमान या सुतर्क का निराकरण केवल शब्द द्वारा नहीं किया जा सकता। (१) कौन कहता है कि अपनी बुद्धि को ताक में रख कर बात बात पर शास्त्र को टटोलो और जब तक शास्त्र न कहे धूम से वह्नि का अनुमान मत करो ? (२) अपने नेत्रों को जलबुद्बुद मान कर कौन एक दुराचारिणी कुलटा के प्रत्यक्षविरुद्ध शब्दों पर विश्वास करेगा ? (३)

न्याय-पदार्थों का खण्डन :—द्रव्य और गुण दोनों अन्योन्यापेक्ष हैं और इसलिये मिथ्या हैं। द्रव्य न तो गुणसमूह है और न गुणविलक्षण पदार्थ। उदाहरणार्थ, हम कोई 'पट' नहीं देखते ; हम केवल रूप, रंग, लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, चिकनाई इत्यादि देखते हैं, किन्तु फिर भी हम केवल इस गुणसमूह को ही 'पट' नहीं कह सकते। अतः द्रव्य और गुण दोनों नाममात्र हैं। परमाणुओं की कल्पना भी व्यर्थ है क्योंकि यदि परमाणु सत् हैं तो वे सदा एक से रहते हैं और तब सृष्टि क्रमशः नहीं सिद्ध हो सकती। समस्त जगत् एकदम उत्पन्न हो जाना चाहिये। परमाणुओं से जगत् या तो अभी उत्पन्न होगा या फिर कभी नहीं या तो एक साथ होगा या कदापि नहीं।

कर्म भी असंभव है। कर्म न क्षणिक पदार्थ में हो सकता है और न नित्य में। यदि पदार्थ क्षणिक हैं, तो उन्हें कर्म करने का अवकाश ही नहीं ; और यदि पदार्थ नित्य हैं, तो उनमें कर्म और विकार असंभव हैं। यदि गति गन्ता का स्वभाव है, तो स्थिरता असंभव है ; और यदि गति गन्ता का स्वभाव नहीं है, तो गति असंभव है ; एवं यदि एक वस्तु में एक समय गति

---

(१) तथ्या वस्तुनिबद्धाया: को बाधां मंस्यते जडः।
शब्दमात्रेण तुच्छेन तद्भाविन्याऽथवा धिया ॥—वहीं, २४३९

(२) केनेयं सर्वचिन्तासु शास्त्रं ग्राह्यमिति स्थितिः।
कृतेदानीमसिद्धान्तैर्ग्राह्यो धूमेन नानलः ? ॥

—प्रमाणवार्तिक, ४।५३

(३) प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति, पृ० ६११

होती है और दूसरे समय स्थिरता तो वह 'वस्तु' एक न होकर 'दो वस्तुयें' हो जावेंगी। अतः कर्म असंगत है। (१)

द्रव्य और गुण, धर्मी और धर्म, अंशी और अंश आदि का नित्य सम्बन्ध समवाय माना जाता है। किन्तु जब द्रव्य और गुण दोनों अन्योन्यापेक्ष होने से मिथ्या हैं, तो उनका सम्बन्ध भी स्वतः ही मिथ्या हुआ। यदि पट तन्तुओं से भिन्न है, तो कपालादि में भी विद्यमान होना चाहिये; और यदि पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है, तो तन्तुओं को ही पट मान लेना चाहिये। अपि च, समवाय स्वयं को द्रव्य और गुण से सम्बन्धित करने के लिये एक दूसरे समवाय की अपेक्षा रखता है और यह दूसरा समवाय अपनी सिद्धि के लिये एक तीसरे समवाय की अपेक्षा रखता है और इस प्रकार अनवस्था दोष का आना अवश्यम्भावी है। पुनश्च, यदि समवाय नित्य है तो सभी वस्तुओं को नित्य होना चाहिये। अतः समवाय की कल्पना निर्मूल है। (२)

जब 'द्रव्य' ही असंगत है, तो 'विशेष' की कल्पना भी व्यर्थ है। 'विशेष' केवल 'क्षण' हैं।

द्रव्य, गुण और कर्म की असंगतता उनमें विद्यमान माने जाने वाले 'सामान्य' को भी मिथ्या सिद्ध कर देती है। सामान्य कल्पनामात्र है। भाव वास्तव में भिन्न भिन्न हैं। संवृति के कारण वे एक से प्रतीत होते हैं। भिन्न भिन्न 'गायें' सत् पदार्थ हैं, किन्तु 'गोत्व' असत् है। प्रत्येक गाय को गिनना, उसके भिन्न भिन्न नाम रखना, उसका भिन्न भिन्न वर्णन करना सामर्थ्य के बाहर है और व्यर्थ भी है। अतः वृद्धों ने अतत्कार्यव्यावृत्तिनिमित्त 'गोत्व' या 'गायपन' की कल्पना कर ली है। किन्तु यह केवल कल्पना, नाम, व्यवहार, संकेत ही है। जो 'गोत्व' एक गाय में है वह अन्य गायों में कैसे हो सकता है? जब एक गाय उत्पन्न होती है, तो यह 'गोत्व' उसमें

---

(१) तत्त्वसंग्रह, का० ६९२–७०७; संतुलनार्थ माध्यमिककारिका, द्वितीयाध्याय, द्रष्टव्य है।

(२) तत्त्वसंग्रह, का० ८३५–८५४

उड़ कर नहीं जाता ; और जब कोई गाय मर जाती है, तो यह 'गोत्व' उसके बाहर नहीं निकल जाता ! न तो यह 'गोत्व' अंशवान् है और न यह अपने अन्य आधारों को छोड़ता है। 'सामान्य' का प्रतिपादन करने वालों के लिये दोषों की शृंखला उपस्थित है। (१)

भाव और अभाव एक ही वस्तु के दो रूप हैं, अतः अभाव की भिन्न पदार्थरूप कल्पना असंगत है।

पारमार्थिक वस्तु क्षणिक 'स्वलक्षण' ही है। बुद्धि, विकल्प, शब्द, नाम, संकेत, व्यवहार आदि की पहुँच तत्त्व तक नहीं है। परमार्थ न एक है न अनेक ; इसमें न संकलन है न भेद। परमार्थ में एकता या अनेकता की कल्पना केवल बुद्धि का विकल्प है। (२) सविकल्प बुद्धि और वाणी केवल संकेत और व्यवहार के लिये हैं क्योंकि ये परमार्थ का ग्रहण नहीं कर सकतीं। स्वलक्षण अनिर्वचनीय और अद्वितीय है। (३) अतएव विद्वान् कहते है कि बुद्धिग्राह्य समस्त पदार्थ विचारों के प्रहारों को नहीं सह सकते ; ज्यों ज्यों उनपर विचार किया जायगा त्यों त्यों वे मिथ्या सिद्ध होंगे। (४)

अपोहवाद :—दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और कमलशील आदि स्वतन्त्रविज्ञानवादी यह मानते हैं कि स्वलक्षण अनिर्वचनीय है और सविकल्प बुद्धि एवं वाक्-प्रपञ्च उसका स्पर्श तक नहीं कर सकते। शब्दों की पहुँच तत्त्व तक नहीं। शब्द केवल व्यवहार के लिये हैं। अतः शब्दों का

---

(१) न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान् न चांशवत्। जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥—दिङ्नाग

(२) संसृज्यन्ते न भिद्यन्ते स्वतोऽर्थाः पारमार्थिकाः। रूपमेकमनेकं च तेषु बुद्धेरुपप्लवः। —प्रमाणवार्तिक १।८८

(३) नाभिधानविकल्पानां वृत्तिरस्ति स्वलक्षणे। सर्वं वाग्गोचरातीत-मूर्तिर्येन स्वलक्षणम् ॥—तत्त्वसंग्रह, का० ७३४

(४) इदं वस्तुबलायातं यद् वदन्ति विपश्चितः। यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥—प्रमाणवार्तिक, ३।२०९

कोई 'अर्थ' विद्यमान नहीं है क्योंकि शब्द 'अर्थ' का स्पर्श तक नहीं कर सकते। इसलिये शब्द केवल अपोह, व्यावृत्ति, व्यतिरेक या निषेध के लिये प्रयुक्त होते हैं। 'गौः'' या ''गाय'' का अर्थ है ''नागौः'' या ''अ-गाय नहीं''। इसी को अपोहवाद कहते हैं।

भामह, उद्योतकर और कुमारिल आदि अपोहवाद का प्रबल खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि अभाव भाव पर और निषेध सत्ता पर एवं व्यतिरेक अन्वय पर निर्भर है। 'गाय' शब्द का अर्थ भावात्मक 'गाय' पदार्थ है। शब्द का अर्थ अपोह नहीं हो सकता। या तो अभाव का अभाव, निषेध का निषेध, और व्यतिरेक का व्यतिरेक, भाव, सत्ता और अन्वय स्वरूप ही है अन्यथा बौद्ध अभाव को भाव मानकर अपनी विलक्षण बुद्धि का परिचय देते हैं।

स्वतन्त्रविज्ञानवादी इन आक्षेपों का निम्न उत्तर देते हैं:—अपोह द्विविध है—पर्युदास और निषेध। पर्युदास भी द्विविध है—बुद्ध्यात्म और अर्थात्म। (१) वास्तव में पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं। परन्तु नियतशक्ति के कारण कतिपय पदार्थ 'समानता' की बुद्धि को जन्म देते हैं। नियतशक्ति के कारण बुद्धि में एक प्रकार का प्रतिबिम्ब या आभास झलकता है और भ्रमवश इस आभास को 'बाह्य अर्थ' मान लिया जाता है। इस प्रतिबिम्ब का ग्रहण ही अपोह है और यही शब्दों का अर्थ है क्योंकि वास्तविक अर्थ को शब्द छू भी नहीं सकते। शब्द का अर्थ प्रतिबिम्ब-ग्रहण तक ही सीमित है। प्रतिबिम्ब-ग्रहणानन्तर इतरव्यावृत्ति सामर्थ्य या अर्थापत्ति द्वारा सिद्ध हो जाती है। पर्युदास का साक्षात् ग्रहण होता है और निषेध का सामर्थ्य द्वारा। अतः बिना निषेध या अभाव के सत्ता या भाव की कल्पना भी असिद्ध है। दोनों सापेक्ष हैं।

जब एक वस्तु अन्य वस्तु से भिन्न होती है तो वह उसका अपोह कही जाती है। 'गाय' और 'अ-गाय' दोनो भिन्न वस्तुयें हैं और दोनों भावरूप

---

(१) तत्त्वसंग्रह, का १००४

हैं। केवल शब्द असत् है। शब्द पदार्थ का ज्ञान नहीं करता। शब्द तो केवल अपने ही प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है। इस प्रतिबिम्ब को शब्द भ्रमवश बाह्य अर्थ मान लेता है। यही शब्दों का कार्य है। भेद, अभेद; संकलन, विभाग आदि वास्तव में वस्तुओं में ही संभव हैं, शब्दों में नहीं। शब्दों का बाह्यरूपत्व कल्पित है। स्वलक्षण रूपी अर्थ अनिर्वचनीय हैं, बुद्धिगम्य नहीं। अतः वे न एक हैं, न अनेक; न समान हैं, न भिन्न। केवल बुद्धिविकल्प ही एक और अनेक, समान और भिन्न प्रतीत होता है। शब्द जन्य बुद्धि अविद्या के कारण अपने ही प्रतिबिम्ब को बाह्य अर्थ के रूप में ग्रहण कर लेती है। शब्द इतना ही कर सकते हैं; अर्थ का स्पर्श करना उनके सामर्थ्य के बाहर है। अतः वास्तव में कोई पदार्थ अपोह-विशिष्ट नहीं माना जा सकता। (१) किन्तु व्यवहार दशा में बुद्धि और उसके विकल्प सत्य हैं, इसलिये अपोह भी इस दशा में सत्य है। इस दशा में भी अपोह व्यक्ति का ज्ञान करा सकता है, सामान्य का नहीं। अतः सिद्ध है कि "गौः" शब्द का अर्थ "नागौः" ही है।

प्रकृतिवाद खण्डन :—सांख्य प्रकृति, प्रधान या अव्यक्त की सत्ता स्वीकार करता है। समस्त जगत्-प्रपञ्च जो कार्यरूप है अपने कारण प्रकृति में बीजरूप से अन्तर्निहित रहता है। इसे सत्कार्यवाद कहते हैं। इसके समर्थन के लिये सांख्य ने पाँच हेतु बताये हैं—

(१) असत् पदार्थ खपुष्प की भाँति है और उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती;

---

(१) नैकात्मतां प्रपद्यन्ते न भिद्यन्ते च खण्डशः।
स्वलक्षणात्मका अर्था विकल्पः प्लवते त्वसौ ॥
अवेद्यबाह्यतत्त्वापि प्रकृष्टोपप्लवादियम्।
स्वोल्लेखं बाह्यरूपेण शब्दधीरध्यवस्यति ॥
एतावत् क्रियते शब्दैर्नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि।
नापोहेन विशिष्टश्च कश्चिदर्थोऽभिधीयते ॥—तत्त्वसंग्रह, का०
१०४९, १०६६–७

(२) कारण या उपादान का ग्रहण अनिवार्य है;

(३) हरेक वस्तु हरेक वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकती;

(४) शक्त कारण ही शक्य कार्य को उत्पन्न कर सकता है; और

(५) कार्य बीजरूप से कारण में निहित रहता है (१)

शान्तरक्षित और कमलशील सत्कार्यवाद के खण्डन में कहते हैं कि सांख्य असत्कार्यवाद के खण्डनार्थ जो उपरोक्त पाँच हेतु बतलाता है वे पाँचों हेतु ही उतनी ही शक्ति के साथ सत्कार्यवादखण्डनार्थ प्रयुक्त किये जा सकते हैं। हम कह सकते हैं कि कार्य कारण में विद्यमान नहीं रहता क्योंकि,

(१) सत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती; जो पदार्थ 'सत्' है वह उत्पन्न है और उसकी पुनरुत्पत्ति व्यर्थ है;

(२) जब उत्पत्तियोग्य पदार्थ ही नहीं तो कारण या उपादान का ग्रहण कैसा ?;

(३) जब वस्तु 'सत्' है तो उत्पत्ति को कोई आवश्यकता नहीं और न यह जानने की आवश्यकता कि कौन सी वस्तु कौन सी वस्तु को उत्पन्न करेगी;

(४) अतः शक्त कारण जानने की कोई आवश्यकता नहीं;

(५) और न कार्य को कारण में बीजरूप से निहित मानने की ही आवश्यकता रहती है। (२)

स्वतन्त्रविज्ञानवादी को प्रचलित अर्थ में 'असत्कार्यवादी, कहना अयुक्त है। वह 'असत्' या खपुष्प की उत्पत्ति नहीं मानता। वह केवल इतना ही कहता है कि उत्पत्ति के पूर्व वस्तु उसी रूप में विद्यमान नहीं थी। वस्तु का अर्थ ही अर्थक्रियासामर्थ्य है। उत्पत्ति का अर्थ है 'वस्तु होना'। यह उत्पाद भाव या अभाव से कोई सम्बन्ध नहीं रखता; इसका सम्बन्ध केवल असत् बुद्धि विकल्प से है। स्वतन्त्र-विज्ञानवादी के 'असत्कार्यवाद' का यह अर्थ है

---

(१) द्रष्टव्य, सांख्यकारिका, ९ ; (२) तत्त्वसंग्रह, का० १६–२१

कि प्रत्येक क्षणिक वस्तु अपनी उत्पत्ति के पूर्व क्षण में 'असत्' है और उत्पत्ति का अर्थ किसी 'असत्' पदार्थ का उत्पाद नहीं है, अपितु अर्थ-क्रियासामर्थ्य है जो स्वयं वस्तुस्वरूप है।

स्वतन्त्रविज्ञानवादी कहते हैं कि यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि कार्य कारण में निहित है, तो भी नित्य प्रकृति ही यह कारण है—इस कथन की पुष्टि नहीं हो सकती। नित्य पदार्थ अर्थक्रियासमर्थ न होने से असत् है और कभी कारण नहीं हो सकता। नित्य पदार्थ को कारण मानने से समस्त जगत् एक साथ उत्पन्न हो जाना चाहिये क्योंकि कारण तो सदा विद्यमान है। यदि कारण में अभिव्यक्ति आदि कोई अतिशय स्वीकृत हो, तो यह अतिशय ही कारण कहलाने के योग्य होगा प्रधान या प्रकृति नहीं। अपि च यह कथन कि प्रकृति केवल कर्म करना जानती है भोगना नहीं, उतना ही अयुक्त है जितना यह कथन कि कोई मनुष्य भोजन बनाना तो जानता है किन्तु उसे खाना नहीं जानता। वास्तव में बिना प्रकृति की सहायता लिये ही हम कार्यकारणादि वैचित्र्य को शक्तिभेद द्वारा सिद्ध कर सकते हैं।

ईश्वरवाद खण्डनः—कुछ दार्शनिक नित्य ईश्वर को इस जगत् का कारण मानते हैं। परन्तु जो नित्य है वह कभी कारण नहीं हो सकता क्योंकि अर्थक्रियासमर्थ क्षणिक पदार्थ ही हो सकता है। नित्य और असमर्थ ईश्वर को जगत् का कारण मानने की अपेक्षा, धर्मकीर्ति का कथन है, एक शुष्क वृक्षस्कन्ध को ही क्यों नहीं जगत्कारण मान लिया जाता? पुनः, नित्य ईश्वर सर्वदा विद्यमान है इसलिये सृष्टि एक साथ हो जानी चाहिये। अपि च, ईश्वर का कारण भी कोई होना चाहिये और इस कारण का भी कोई अन्य कारण होना चाहिये और इस प्रकार अनवस्था दोष आयगा। यह विचार, कि जैसे घट कुलाल की सत्ता को सिद्ध करता है उसी प्रकार जगत् ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करता है, अयुक्त है क्योंकि सब कार्य एक ही कारण की अपेक्षा नहीं रखते अन्यथा बल्मीक को भी कुंभकार की कृति मानना पड़ेगा। कार्योत्पाद की शक्ति हेतुप्रत्ययसामग्री में है और हेतुप्रत्यय-

सामग्रीशक्तिभेद के कारण जगत् की विश्वरूपता एवं विचित्रता सिद्ध होती है। शान्तरक्षित और कमलशील कहते हैं कि यह तो हम भी मानते हैं कि कार्य अहेतुक न होने से कारण की अपेक्षा रखता है। हम यह भी मानते हैं कि अचेतन प्रधान कारण नहीं हो सकता। कारण चेतन और बुद्धिमान् होना चाहिये। किन्तु हम नित्य, एक और सर्वज्ञ ईश्वर को भी कारण नहीं मान सकते क्योंकि अर्थक्रियासामर्थ्य नित्य पदार्थ में कदापि नहीं हो सकता तथा कारण एक न होकर हेतुप्रत्ययसामग्री रूप होता है। हेतुप्रत्ययसामग्री कर्मज है और कर्म चेतन द्वारा ही संभव है। अतः लोकवैचित्र्य या वैश्वरूप चेतनकृतकर्मोत्पन्नहेतुप्रत्ययसामग्रीशक्तिभेद के कारण है।

नित्य, एक और सर्वज्ञ ईश्वर में निम्न दोष आते हैं। ईश्वर का भी कारण अवश्य होना चाहिये और इस प्रकार अनवस्था दोष आयगा। या तो ईश्वर खपुष्पवत् है अन्यथा सृष्टि एक साथ होनी चाहिये, क्रमशः नहीं। यदि ईश्वर सहकारिप्रत्ययों की अपेक्षा रखता है तो वह स्वतन्त्र नहीं है। और सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि ईश्वर सृष्टि को उत्पन्न ही क्यों करता है? यदि वह किसी अन्य से प्रेरित है तो वह स्वतन्त्र नहीं है। यदि वह दयालु है तो संसार में दुःख, दैन्य, दारिद्र्य, आधि, व्याधि, जरा आदि नहीं होना चाहिये। और सृष्टि के पूर्व तो कोई ऐसा पदार्थ नहीं था जिस पर दया करके ईश्वर सृष्टि करता। यदि जगत् की उत्पत्ति और लय करने में ईश्वर लोगों के शुभाशुभ कर्मों द्वारा प्रेरित होता है तो वह स्वतन्त्र नहीं है और लोक-वैचित्र्य कर्मज सिद्ध होगा। यदि वह लीलावश सृष्टि करता है तो वह बालक के समान अपनी लीला का भी स्वामी नहीं है। यदि सृष्टि ईश्वर का स्वभाव ही है, तो सृष्टि एक साथ हो जाना चाहिये क्योंकि स्वभाव सदा विद्यमान है। यदि ईश्वर ऊर्णनाभ या मकड़े की भाँति अपने अन्दर से जगत्-जाल क्रमशः बुनता है, तो फिर जगत् ईश्वर का स्वभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि जाला बुनना मकड़े का स्वभाव नहीं है, वह तो कीड़े मकोड़े खाने की तीव्र लालसा के कारण मुँह में आई हुई लार से जाला बुनता है। यदि सृष्टि ईश्वर से अपने आप हो जाती है, तो ईश्वर को बुद्धिमान् भी नहीं

कहा जा सकता क्योंकि मन्द पुरुष भी बिना सोचे समझे कोई बड़ा कार्य नहीं करता। (१)

जो प्रमाण प्रकृति और ईश्वर के अलग-अलग जगत्कारण होने का खण्डन करते हैं, वे दोनों के एक साथ जगत्कारण होने का भी खण्डन करते हैं।

और यह जगत्-प्रपञ्च अहेतुक भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि कार्य है तो कारण अवश्य होना चाहिये। कन्टक का तैक्ष्ण्य, मयूरपिच्छ का सौन्दर्य, सरोजकेसर की कोमलता आदि भी बीज, शरीर, पंक, जलादि से उत्पन्न होती है।

ब्रह्मवाद खण्डन :—ब्रह्मवादी कहते हैं कि ब्रह्मतत्त्व अविभाग और अद्वय है और केवल अविद्या के कारण जगत्-प्रपञ्च रूप से प्रतिभासित होता है। स्वतन्त्रविज्ञानवादी का आक्षेप है कि यह अविभागता और ऐक्य न तो प्रत्यक्षसिद्ध है न अनुमानसिद्ध; और ब्रह्म को नित्य मानने से जगत् का युगपदुत्पत्तिदोष भी आ जाता है। विज्ञान क्रमवत् और सन्तानरूप होने से नित्य ब्रह्म एक भी विज्ञान को जन्म नहीं दे सकता। अतः ऐसा ब्रह्म वन्ध्यापुत्र के समान असत् है। पुनश्च, यदि ब्रह्म सदा आत्मज्योतिस्वरूप है तो अविद्या और बन्ध असंभव हैं। सबका, ब्रह्मरूप होने से, अयत्नतः मोक्ष-प्रसंग अनिवार्य है। और यदि अविद्या ब्रह्म की स्वाभाविकी शक्ति है, तो मोक्षप्रसंग सर्वथा असंभव है। दोनों दशाओं में ही बन्ध और बन्ध से मुक्ति पाने के सब साधन विफल हैं। और यदि अविद्या को ब्रह्म से भिन्न शक्ति माना जाय तो अद्वैतवाद नष्ट हो जायगा। अपि च, अविद्या को अवाच्य या सदसदनिर्वचनीय भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अवाच्य तो अवस्तु ही हो सकती है और अविद्या को अवस्तु मानने पर जगत्-प्रपञ्च की उत्पत्ति असंभव है। पुनः, ब्रह्म को एक रूप मानने से एक के बन्ध से सबका बन्ध और एक की मुक्ति से सबकी मुक्ति अनिवार्य हो जाती है। हम स्वतन्त्र-विज्ञानवादियों के मत में ये दोष नहीं आते क्योंकि हम अविद्या को "वितथा-

(१) तत्त्वसंग्रह, का० ५६—८७

भिनिवेशवासना" रूपी शक्ति मानते हैं। हमारे मत में बन्ध मिथ्यावासना-शक्तिजन्य सास्रव या कलुषित विज्ञानश्रृंखला है। योगाभ्यास द्वारा विद्या प्राप्त होने पर यह श्रृंखला समाप्त हो जाती है और इसके स्थान में विद्याजन्य अनास्रव या विशुद्ध विज्ञानधारा प्रारभ होती है। हम ज्ञान की निर्मलता को ही मुक्ति मानते हैं। अतः हमारे मत में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था युक्तिमती है। ब्रह्मवादी को चाहियें कि अपने ब्रह्म को इन दोषों से बचाने के लिये उसे अनित्य माने। (१)

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि शान्तरक्षित और कमलशील इस बात को भूल जाते हैं कि न्याय के आघातों को न सह सकना या बुद्धि की धारणाओं में न आ सकने के कारण सदसदनिर्वचनीय कहलाना अविद्या का दूषण नहीं अपितु भूषण है। वास्तव में बन्ध और मोक्ष दोनों मिथ्या हैं ही-और स्वयं अविद्या भी अवस्तु है ही। ब्रह्मवादी भी ज्ञान की निर्मलता को मुक्ति मानते हैं। उनका प्रत्युत्तर है कि अनित्य विज्ञान दुःखमय है और कभी स्वप्रकाश नहीं हो सकता। अतः बन्धमोक्षव्यवस्था तथा व्यवहारपरमार्थ-व्यवस्था के लिये नित्य, अखण्ड, एकरस, अद्वय और विशुद्धात्मस्वरूप ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करनी ही होगी।

आत्मवादखण्डन :—

(क) **औपनिषदिक-आत्मवाद-खण्डन** :—शान्तरक्षित और कमलशील कहते हैं कि "अद्वैतदर्शनावलम्बी औपनिषदिक" (२) जो ब्रह्मवादी या आत्मवादी हैं विशुद्धविज्ञानरूप आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व को एकमात्र सत् मानते हैं और जीव तथा जगत् रूपी समस्त सृष्टि-प्रपञ्च को उसी तत्त्व का अविद्याजन्य आभास मानते हैं। हम स्वतन्त्रविज्ञानवादी भी अद्वय और विशुद्धविज्ञानस्वरूप तत्त्व को अंगीकार करते हैं। अतः इन अद्वैतवादियों

---

(१) प्रमाणवार्तिक, २।२०२-५; तत्वसंग्रह, का १४४-१५१, ५४४; पञ्जिका, पृ० ७४-७५

(२) अद्वैतदर्शनावलम्बिनश्चौपनिषदिकाः—पञ्जिका, पृ० १२३

के मत में केवल एक छोटा सा दोष है और वह दोष यह है कि ये लोग आत्मा या ब्रह्म को नित्य मानते हैं। (१) इनको चाहिये कि ये इस तत्त्व को अनित्य मानें क्योंकि नित्य पदार्थ अर्थक्रियासमर्थ न होने से खपुष्पवत् असत् है और आत्मतत्त्व को नित्य मानने से अविद्या, बन्ध, मोक्ष, मोक्षसाधन आदि सब निष्फल हो जाते हैं।

(ख) नैयायिक-वैशेषिक-आत्मवाद-खण्डनः—कतिपय नैयायिक-वैशेषिक आत्मा को स्वतः अचेतन और ज्ञानयत्नादिसम्बन्ध से कर्ता एवं सुख-दुःखादिसम्बन्ध से भोक्ता मानते हैं। नित्य और विभु आत्मा को स्वतः अचेतन मानना इन लोगों की विलक्षण बुद्धि का परिचय देता है। अन्य नैयायिक आत्मा को ज्ञान, वेदना और यत्न का आश्रय मानते हैं। किन्तु ज्ञान अपने प्रकाश के लिये किसी आश्रय की अपेक्षा नहीं रखता और न इच्छा, वेदना, बुद्धि आदि ही किसी आत्मारूपी थैले में ठूँसे जाने की आवश्यकता रखते हैं। (२) नैयायिक-वैशेषिक आत्मा से जीवात्मा का अर्थ लेते हैं। उसे नित्य और अनेक मानते हैं। वे भूल जाते हैं कि जीवात्मा की सत्ता केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। विशुद्ध विज्ञान या 'चित्त' ही अविद्याजन्य अहंकार से युक्त होने पर 'जीवात्मा' या 'आत्मा' कहा जाता है। इसकी सत्ता सांवृतिक है। वस्तुतः इसकी कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से यह विशुद्धविज्ञानरूप ही है। (३)

(ग) मीमांसक-आत्मवाद-खण्डन :—कुमारिल कहते हैं कि जिस प्रकार सर्प कभी आर्जवावस्था में रहता है और कभी कुंडलावस्था में, किन्तु वह सर्पत्व को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार आत्मा भी अनेक बुद्धि, वेदना, यत्नादि अवस्था में प्रतीत होता हुआ अपने नित्यचैतन्यस्वभाव को नहीं

---

(१) तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः।— तत्वसंग्रह, का० ३३०

(२) तत्त्वसंग्रह, का १९१—२१७

(३) अहंकाराश्रयत्वेन चित्तमात्मेति गीयते।
संवृत्या, वस्तुवृत्या तु विषयोऽस्य न विद्यते॥—वहीं, का २०४

छोड़ता। स्वसम्वेदना आत्मा की सिद्धि करती है। और प्रत्यभिज्ञा तथा स्मृति नैरात्म्यवाद पर कुठाराघात करती है। विज्ञानभेद विषयभेद के कारण है। जिस प्रकार अग्नि दाहशक्तियुक्त होने पर भी केवल उन्हीं पदार्थों को जलाती है जो उसके निकट हैं एवं जिस प्रकार दर्पण या स्फटिक बिम्ब-ग्राहकशक्तियुक्त होने पर भी केवल उन्हीं पदार्थों का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है जो उसके निकट हैं, उसी प्रकार आत्मा भी, यद्यपि वह नित्य-चैतन्यस्वभावयुक्त है, उन्हीं पदार्थों के विज्ञानों का ग्रहण करता है जिनको विषय उसके सम्मुख उपस्थित करते हैं। स्वतन्त्रविज्ञानवादियों का आक्षेप है कि यदि चैतन्य विषयों द्वारा प्रभावित होता है तो वह एकरस और नित्य नहीं माना जा सकता। और फिर स्वप्नादि में जहाँ विषय नहीं हैं, चैतन्य की भिन्न भिन्न वृत्तियां कैसे सिद्ध की जायँगी ? पुनश्च, यदि क्षणिक वेदना, इच्छा, विज्ञान, यत्न आदि आत्मस्वरूप हैं, तो आत्मा नित्य नहीं हो सकता; और यदि ये आत्मस्वरूप नहीं हैं, तो इनका परिवर्तन आत्मा को क्योंकर प्रभावित करता है? अपिच, सर्प का दृष्टान्त भी अयुक्त है। सर्प आर्जवा-वस्था, कुंडलावस्था आदि में इसलिये रह सकता है कि वह स्वयं अनित्य और परिवर्तनशील है। आत्मा को अनित्य और परिवर्तनशील नहीं माना जाता, अतः आत्मा में वेदना, विज्ञान आदि विकार नहीं हो सकते। वास्तव में आत्मा या जीव अनादि अविद्या के कारण प्रतीत होता है। इसे कर्ता, ज्ञाता या भोक्ता मान बैठना भूल है। अहंकार अविद्याजन्य है। और प्रत्य-भिज्ञा तथा स्मृति वितथ हैं एवं आत्मा की सत्ता सिद्ध नहीं कर सकतीं। (१)

(घ) सांख्य-आत्मवाद-खण्डन :—सांख्यमतानुसार आत्मा या पुरुष नित्यचैतन्यस्वरूप है और बुद्धि से भिन्न है। बुद्धि प्रकृतिज होते हुये भी प्रकृति और पुरुष को मिलानेवाली कड़ी है। पुरुष केवल और निष्क्रिय है। प्रकृति कर्म करती है और पुरुष फल भोगता-सा प्रतीत होता है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित पदार्थों का पुरुष उपभोग-सा करता है। शान्तरक्षित और

---

(१) तत्त्वसंग्रह, का २४१–२८३

कमलशील खण्डन करते हुये कहते हैं कि क्या बुद्धि-प्रतिबिम्बित पदार्थ आत्मरूप हैं या आत्मभिन्न ? यदि आत्मरूप हैं, तो फिर उनके साथ साथ आत्मा को भी परिवर्तित होना चाहिये; यदि आत्मा से भिन्न हैं, तो आत्मा उनका उपभोग नहीं कर सकता। अपि च, यह भी दोष है कि कर्म तो करे प्रकृति और फल भोगे बिचारा पुरुष। यदि यह माना जाय कि पंगु और अन्ध की तरह पुरुष और प्रकृति मिल कर फल भोगते और कार्य करते हैं, तो यह भी अयुक्त है क्योंकि पंगु और अन्ध दोनों चेतन हैं किन्तु प्रकृति अचेतन मानी गई है। और भी, यदि उपभोग के समय पुरुष में विकार होता है तो वह नित्य नहीं है, और यदि विकार नहीं होता तो वह उपभोग नहीं कर सकता। फिर प्रकृति उसकी सहायक नहीं हो सकती। पुनः, यदि प्रकृति पुरुष की दिदृक्षा के कारण इस जगत्-प्रपंच को उत्पन्न करती है, तो वह अचेतन कैसे हो सकती है ? और यह कथन कि प्रकृति विविध व्यञ्जन बनाना तो जानती है किन्तु उनका उपभोग करना नहीं, कितना हास्यास्पद है ! (१)

वास्तव में बुद्धि, अध्यवसाय, संवित्, संवेदन, संवित्ति, चेतना, चैतन्य आदि सब पर्याय ही हैं। अतः बुद्धि को चैतन्य से पृथक् मानना भूल है। सांख्य यदि अपने पुरुष को चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व मानता है तो हमारा उससे कोई विरोध नहीं। विशुद्ध चैतन्य को आत्मा मानने में हमारी कोई हानि नहीं है। हम तो केवल उसके नित्यत्व का विरोध करते हैं। (२)

(ङ) **जैन-आत्मवाद-खण्डन** :—जैन भी, मीमांसकों की भाँति, आत्मा को चैतन्यरूप मानते हैं। किन्तु वे उसे एकानेकरूप या द्वैताद्वैतरूप या भेदाभेदरूप बतलाते हैं। द्रव्यरूप से आत्मा एक है और अनुगमात्मक है; पर्यायरूप से वह अनेक है और व्यावृत्यात्मक है। नरसिंह के समान वह द्विरूप है। बौद्ध इसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि एकता और अनेकता, अद्वैत

---

(१) तत्त्वसंग्रह, का २८८–३००

(२) चैतन्ये चात्मशब्दस्य निवेशेऽपि न नः क्षतिः।
नित्यत्वं तस्य दुःसाध्यमक्ष्यादेः सफलत्ववत्॥—वहीं, का ३०५

और द्वैत, अभेद और भेद, प्रकाश और अन्धकार की भाँति, एक साथ एक ही स्थान में नहीं रह सकते। सत् और असत्, अस्ति और नास्ति, अद्वैत और द्वैत को एक साथ एक ही स्थान में प्रतिपादन करनेवाला जैनियों का स्याद्-वाद विक्षिप्तप्रलाप की भाँति है (१) धर्मकीर्ति कहते हैं कि ये निर्लज्ज और निर्ग्रन्थ जैन ऐसे प्रलाप करते हुये नहीं शरमाते। यदि स्याद्वाद सत्य है तो तो स्याद्वाद ही स्यात् सत्य हो। जैनमत के अनुसार दही शायद दही भी है और शायद ऊँट भी। तो फिर जब किसी मनुष्य से कहा जाता है कि 'दही खाओ', तो वह ऊँट की ओर क्यों नहीं झपटता ? (२)

(च) वात्सीपुत्रीयबौद्ध-आत्मवाद-खण्डन :—हीनयान सम्प्रदाय के वात्सीपुत्रीयमतानुयायी बौद्ध स्वयं को 'सौगत' (अर्थात् बौद्ध) कहते हुये भी पुद्गलरूप में आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं। वे पुद्गल को न तो पञ्च-स्कन्धरूप मानते हैं और न पञ्चस्कन्धभिन्न। अतः वे इसे अनिर्वचनीय मानते हैं! परन्तु अवाच्य तो अवस्तु ही हो सकती है; जो वस्तु है वह या तो अन्य है या अनन्य, या तो असत् है या सत्। अतः इनका पुद्गल खपुष्पवत् है। अवाच्य में अर्थक्रियासामर्थ्य नहीं हो सकता। (३) जब भगवान् बुद्ध पुद्गल का उपदेश देते हैं तब उनका तात्पर्य केवल नास्तित्व का प्रतिषेध करना ही है। भगवान् बुद्ध ने अपने अलौकिक उपायकौशल्य द्वारा अपने शिष्यों की बुद्धि के अनुसार उन्हें भिन्न भिन्न उपदेश दिये हैं। जब उन्हें लोगों को सत्कर्म द्वारा सत्त्वशुद्धि के लिये प्रेरित करना अभीष्ट होता है तब वे पुद्गल के अस्तित्व का उपदेश देते हैं। जब उन्हें अहंकार दूर कराना अभीष्ट होता है तब वे पुद्गल के नास्तित्व का उपदेश देते हैं। इसे विरोध

---

(१) वहीं, का० ३११-३२७ (२) प्रमाणवार्तिक, १।१८२-१८५

(३) अर्थक्रियासु शक्तिश्च विद्यमानत्वलक्षणम्।
क्षणिकेष्वेव नियता तथाऽवाच्ये न वस्तुता॥
—तत्त्वसंग्रह, का० ३४७

नहीं समझना चाहिये, यह उपायकौशल्य है। आचार्य वसुबन्धु आदि महात्माओं ने इसे स्पष्ट समझा दिया है। (१)

त्रिकाल-खण्डन:—भदन्त धर्मत्रात भावान्यथावादी हैं। इनके मतमें वस्तु, परिवर्तन होने पर भी, वास्तव में वही रहती है जैसे कटककुंडलादि रूप में परिवर्तित हो जाने पर भी सुवर्ण सुवर्ण ही रहता है। यह सांख्य का परिणामवाद है और इसका खण्डन ऊपर किया जा चुका है।

भदन्त घोषक लक्षणान्यथावादी हैं। उत्पत्तिमार्ग में प्रवृत्त पदार्थ, भाव या धर्म 'अतीत' कहा जाता है जब वह 'अतीत लक्षणयुक्त' होता है यद्यपि वह वर्तमान एवं अनागत लक्षणों से वियुक्त नहीं होता, जिस प्रकार कि कोई पुरुष किसी स्त्री में अनुरक्त होते हुये भी अन्य स्त्रियों में अविरक्त होता है। यही हाल 'वर्तमान' और 'अनागत' धर्म का है। कमलशील कहते हैं कि यह मत अयुक्त है क्योंकि इसके अनुसार सब धर्मों में एक साथ सब गुण होने चाहियें। पुरुष का 'अनुराग' और 'अविराग' दो भिन्न वस्तुयें हैं; प्रथम 'आसक्ति' है और द्वितीय केवल 'जान पहिचान' या 'परिचयमात्र'।

भदन्त बुद्धदेव अन्यथान्यथावादी हैं। उत्पत्तिमार्ग में विद्यमान धर्म पूर्वापर की अपेक्षा से अन्योन्य कहा जाता है जिस प्रकार कि एक ही स्त्री, माता, पत्नी, पुत्री, भगिनी आदि कही जाती है। जिस धर्म का केवल पूर्व है, अपर नहीं वह 'अनागत' है; जिसके पूर्व और अपर दोनों हैं वह 'वर्तमान' है; और जिसका केवल अपर है, पूर्व नहीं, वह 'अतीत' है। कमलशील कहते हैं कि इस मत में एक अवस्था में ही तीनों अवस्थाओं के समावेश होने का दोष आ जाता है। उदाहरणार्थ, अतीत अवस्था में ही पूर्वक्षण अतीत, पश्चिम क्षण अनागत और मध्य क्षण वर्तमान है।

---

(१) आगमार्थविरोधे तु पराक्रान्तं महात्मभिः।
नास्तिक्यप्रतिषेधाय चित्रा वाचो दयावतः॥

—वहीं, का० ३४८

महात्मभिराचार्यवसुबन्धुप्रभृतिभिः। —पञ्जिका, पृ० १२६

भदन्त वसुमित्र अवस्थान्यथावादी हैं। परिवर्तन अवस्था का होता है। द्रव्य सदा एक सा रहता है। धर्म जब 'कारित्र' में होता है अर्थात् क्रियाशील होता है तब वह 'वर्तमान' कहा जाता है; क्रिया-प्रच्युत धर्म 'अतीत' कहलाता है; और अप्राप्तकारित्र धर्म की 'अनागत' संज्ञा होती है। इसके खण्डन में शान्तरक्षित और कमलशील कहते हैं कि यदि कारित्र और धर्म अनन्य हैं तो धर्म के समान कारित्र भी तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहेगा और तब त्रिकालविभागव्यवस्था व्यर्थ होगी; और यदि कारित्र और धर्म भिन्न हैं तब अर्थक्रियासमर्थ होने से केवल कारित्र ही सत्य माना जायगा, धर्म नहीं। वास्तव में केवल वर्तमान क्षण ही सत्य है, अतीत और अनागत नहीं। भगवान् बुद्ध ने केवल नास्तिक्यप्रतिषेधार्थ कर्म का उपदेश दिया है और इसलिये अतीत और अनागत की सत्ता कल्पित है। तत्त्वतः तो केवल वर्तमान क्षण ही सत्य है। (१)

बाह्यार्थवाद-खण्डन तथा विज्ञानवाद-मण्डन :—दिङ्नाग अपनी कृति 'आलम्बनपरीक्षा' में कहते हैं कि विज्ञानमात्र ही तत्व है। तथाकथित बाह्य अर्थ असत् हैं क्योंकि उनकी सत्ता विज्ञान के बाहर नहीं है। अर्थ के 'विषयत्व' का प्रतीकार नहीं किया जाता; विषयत्व को विज्ञान के अन्तर्गत ही बताया जाता है। विज्ञान के भीतर ही विषयी और विषय के खेल हो रहे हैं। विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता स्वीकृत नहीं है। तथाकथित बाह्य अर्थ वास्तव में विज्ञान का ग्राह्यभाग या आलम्बनप्रत्यय है। अन्तर्ज्ञेय रूप का ही बहिर्वत् अवभास होता है। ज्ञाता विज्ञान का ग्राहक भाग है और ज्ञेय ग्राह्यभाग। दोनों ही विज्ञानस्वरूप हैं—विषयी जीव भी और विषयरूपी जगत् भी। ज्ञेय विज्ञान का ग्राह्यभाग होते हुए भी विज्ञान के लिये आलम्बन प्रत्यय का कार्य करता है। इन्द्रियाँ केवल विज्ञान की शक्तियाँ हैं। विज्ञानशक्तिरूपी इन्द्रियाँ

---

(१) तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ० ५०४–५१९

और विज्ञानग्राह्यभागरूपी विषय, अनादि वासना के कारण, एक दूसरे को जन्म देते रहते हैं। (१)

धर्मकीर्ति का कथन है कि समस्त जगत्पदार्थ बुद्धिग्राह्य होने से सांवृतिक हैं और ग्राह्यता का अर्थ है प्रतीत्यसमुत्पाद या हेतुप्रत्ययसामग्री द्वारा उत्पत्ति। तथाकथित बाह्य पदार्थ केवल हेतुप्रत्ययसामग्रीजन्य विज्ञान का ग्राह्यभाग है। (२) विज्ञानभेद अर्थभेद के कारण नहीं है, अपितु संस्कार एवं वासनाभेद के कारण है। अनादि वासना या अविद्या के कारण विषयी जीव और जगत्-विषय की कल्पना की जाती है। तैमिरिक को केशोण्डूक दिखाई देते हैं। पीलियारोगग्रस्त नेत्रों को प्रत्येक वस्तु पीली दिखाई देती है। मायावी की माया से, फूटे घड़े के छोटे-छोटे गोल टुकड़े सिक्के दीखते हैं और छोटे-छोटे गोल सफेद पत्थर हीरे दिखाई देने लग जाते हैं। (३) जब दार्शनिक, मस्त हाथियों की तरह, तत्त्व की ओर से आँखें मूँद लेते हैं, तब वे लोकव्यवहार के दृष्टिकोण से बाह्य अर्थों की सांवृतिक सत्ता का प्रतिपादन करते हैं। (४) तत्त्व विज्ञानमात्र है। वह अनादि वासना के कारण द्विविधरूपों में प्रतीत होता है—विषयी या

---

(१) यदन्तर्ज्ञेयरूपं हि बहिर्वदवभासते।
सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् तत्प्रत्ययतयापि च॥
प्रत्ययोऽव्यभिचारित्वात् सह शक्त्यर्पणात् क्रमात्।
सहकारिवशाद् यद्धि शक्तिरूपं तदिन्द्रियम्॥
सा चाविरुद्धा विज्ञप्तेरेवं विषयरूपकम्।
प्रवर्ततेऽनादिकालं शक्तिश्चान्योन्यहेतुके॥—आलम्बनपरीक्षा, का० ६–८

(२) हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यता नाम काचन।—प्रमाणवार्तिक, ३।२२४

(३) वहीं, ३।३५३-३५५

(४) तदुपेक्षिततत्त्वार्थैः कृत्वा गजनिमीलनम्। केवलं लोकबुद्ध्यैव बाह्य-चिन्ता प्रतन्यते॥—वहीं, ३।२१९

ज्ञाता जीव के रूप में और विषय या ज्ञेय अर्थ के रूप में। किन्तु ज्ञाता और ज्ञेय का यह भेद विज्ञान के ही अन्तर्गत है। अभेदी और अद्वय ज्ञान का यह भेदप्रतिभास केवल अनादि अविद्या का उपप्लव है। (१) विषयी और विषय दोनों अन्योन्यापेक्ष होने से मिथ्या हैं। अतः द्वैतशून्यता को अर्थात् अद्वैत को तत्त्व कहा जाता है। बुद्धिग्राह्य समस्त पदार्थों का समावेश ग्राहक या ग्राह्य, विषयी या विषय, जीव या जगत्, ज्ञाता या ज्ञेय में हो जाता है। विश्व में ग्राहक और ग्राह्य के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। ग्राहक और ग्राह्य दोनों ही सापेक्ष और प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से लक्षणशून्य, स्वभावशून्य, निःस्वभाव या मिथ्या हैं। (२) विशुद्धविज्ञानरूपी तत्त्व, अविभाग और अद्वय होते हुये भी, अनादि वासना या अविद्याशक्ति के कारण, ग्राहकविज्ञान तथा ग्राह्यविज्ञान रूपी भेदवान् सा प्रतीत होता है। वस्तुतः विशुद्धविज्ञानस्वरूप तत्व अभेदी, अविभाग, और अद्वय है, और बुद्धिविकल्प तथा वाक्-प्रपञ्च का विषय नहीं है। ग्राहकभाग और ग्राह्यभाग इस विज्ञान के वास्तविक भाग या भेद नहीं हैं। ये तो बुद्धिविकल्प द्वारा कल्पित हैं, अविद्याजन्य हैं, मिथ्या हैं। अतः व्यवहारदशा में यह विशुद्ध विज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय, ग्राहक और ग्राह्य, जीव और जगत् रूपी भेदवान् सा प्रतिभासित होता है। (३) जीवात्मा अविद्याजन्य अहंकाररूप है। अहंकार ममकार से सम्पूर्ण क्लेश एवं उपक्लेश की सृष्टि होती है। विद्या प्राप्त होने पर अविद्या नष्ट हो जाती है और जीव विशुद्धविज्ञानस्वरूप जान लिया जाता है जो वास्तव में वह सर्वदा है। चित्त या विज्ञान स्वरूपतः अद्वय

---

(१) ज्ञानस्याभेदिनो भेदप्रतिभासो ह्युपप्लवः।—वहीं, ३।२१२

(२) न ग्राह्यग्राहकाकारबाह्यमस्ति च लक्षणम्। अतो लक्षणशून्यत्वान् निःस्वभावाः प्रकाशिताः॥—वहीं, ३।२१५

(३) अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥—वहीं, ३।३५४

और अत्यन्तविशुद्ध एवं प्रभास्वर या स्वप्रकाश है ; जीवात्मा में दिखाई देनेवाले समस्त दोष और मल अविद्या के कारण आये हैं। (१)

शान्तरक्षित और कमलशील अपने आपको निराकारविज्ञानवादी बतलाते हैं। शान्तरक्षित स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि जहाँ तक परमार्थ का सम्बन्ध है, आचार्य वसुबन्धु ने अपनी विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में और आचार्य दिङ्नाग ने अपनी आलम्बनपरीक्षा में स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि विशुद्धविज्ञान ही एकमात्र तत्त्व है, और परमार्थविनिश्चय के लिए वे भी इन आचार्यों के चरण-चिन्हों पर ही चल रहे हैं। (२) यह तो निश्चित है कि ज्ञान बाह्य अर्थ को नहीं जान सकता क्योंकि कोई वस्तु विज्ञान-बाह्य नहीं हो सकती, चाहे ज्ञान अनिर्भास हो चाहे सनिर्भास चाहे अन्यनिर्भास। ज्ञान का अर्थ ही है अर्थसंवित्ति या अर्थानुभव। अतः ज्ञान बाह्य अर्थ या व्यापार की कभी कोई अपेक्षा नहीं रखता।

विज्ञान तत्वतः ग्राह्यग्राहकविनिर्मुक्त और अद्वय है। यह न ज्ञाता की अपेक्षा रखता है और न ज्ञेय की। यह स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश है। स्वसम्वेदन का अर्थ विज्ञान का विज्ञान नही है, अपितु विज्ञान की स्वाभाविक स्वप्रकाशता है। जो स्वप्रकाश है वही स्वतःसिद्ध है; विज्ञान स्वप्रकाश है, अतः विज्ञान स्वतःसिद्ध है। घटपटादि कार्यजात या तथाकथित बाह्य पदार्थ स्वप्रकाश नहीं हैं, अतः वे मिथ्या हैं। विशुद्ध विज्ञानस्वरूप आत्मतत्व प्रभास्वर है; मल या दोष अविद्याजन्य और आगन्तुक हैं, अतः इनका विद्या से प्रविलय होता है। सम्यक्सम्बुद्धों ने तत्व को अद्वय, ग्राह्यग्राहकरूपी अविद्योपप्लवशून्य, द्वैताकलंकित, वाङ्मनस् द्वारा अगोचर, बुद्धिविकल्परहित, आगन्तुकमलापेत, प्रकृतिप्रभास्वर, स्वतःसिद्ध, स्वयंप्रकाश, विशुद्धात्मस्वरूप बतलाया है। अतः विशुद्धात्मसाक्षात्कार ही परम ज्ञान है। इसी से अभ्युदय

---

(१) प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवो मलाः ।— वहीं, २।२०८

(२) विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिर्धीमद्भिर्विमलीकृता ।
अस्माभिस्तद्दिशा यातं परमार्थविनिश्चये ॥—तत्वसंग्रह, का २०८४

और निःश्रेयस की सिद्धि होती है। यही धर्म है। यही वह परम तत्व है जिसका भगवान बुद्ध ने उपदेश दिया है। यही सर्वसम्पत्प्रद है। इसे भगवद्गीता के अबौद्ध केशव आदि नहीं जानते। यह बौद्धों की निधि है। (१)

बुद्ध-वर्णन:—आचार्य धर्मकीर्ति पूर्ण धार्मिक आवेश के साथ भगवान् बुद्ध को प्रणाम करते हैं। भगवान् बुद्ध विशुद्धविज्ञानस्वरूप हैं। धर्मकाय रूप में वे विशुद्ध सत् हैं तथा सविकल्प बुद्धि की समस्त कल्पनाओं से रहित हैं। निर्माणकाय रूप में वे विशुद्ध चित् हैं और स्वप्रकाश विज्ञान की विशुद्ध किरणों, सूर्य के समान, उनके चारों ओर फैल रही हैं। व्यवहार दशा में इस चिद्रूप से ही वे ग्राह्यग्राहकभेदवान् से, जीव और जगत् के निर्माता से प्रतीत होते हैं। संभोगकाय रूप में वे विशुद्ध आनन्द हैं। इस रूप में वे दयालु, गम्भीर, उदार और समन्तभद्र हैं। (२) किन्तु धर्मकीर्ति का प्रखर तर्क उन्हें भगवान् बुद्ध को भी स्पष्टतया सर्वज्ञ कहने से रोकता है। बुद्ध ज्ञानवान्, दयावान् और करुणावान् होने के कारण प्रमाण हैं। आप्त

---

(१) यतोभ्युदयनिष्पत्तिर्यतो निःश्रेयसस्य च।
स धर्म उच्यते तादृक् सर्वैरेव विचक्षणैः।
अनारोपितरूपा च स्वसंवित्तिरियं स्थिता।
द्वयोपप्लवशून्या च सा सम्बुद्धैः प्रकाशिता॥
एतदेव हि तज्ज्ञानं यद् विशुद्धात्मदर्शनम्।
आगन्तुकमलापेतचित्तमात्रत्ववेदनात्॥
इदं तत् परमं तत्त्वं तत्त्ववादी जगाद यत्।
सर्वसम्पत्प्रदं चैव केशवादेरगोचरः॥

—तत्त्वसंग्रह, का० ३४८६, ३४३७, ३५३६, ३५३५, ३५४०

(२) विधूतकल्पनाजालगंभीरोदारमूर्त्तये।
नमः समन्तभद्राय समन्तस्फरणत्विषे॥—प्रमाणवार्तिक १।१

के लिये सर्वज्ञ होना आवश्यक नहीं। यदि दूरदर्शी को प्रमाण माना जाय तो फिर हमें गृध्रों की उपासना करना चाहिये। (१)

शान्तरक्षित और कमलशील का इस विषय में धर्मकीर्ति से मतभेद है। वे भगवान् बुद्ध को सर्वज्ञ मानते हैं। मीमांसक का आक्षेप है कि कोई व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता। हाँ, 'सर्व' शब्द का अर्थ जानने वाले को भले ही 'सर्व-ज्ञ' कह लो। यदि बुद्ध सर्वज्ञ हैं, तो कपिल क्यों नहीं ? और यदि दोनों सर्वज्ञ हैं, तो उनके उपदेश में मतभेद क्यों ? बुद्धिमान् पुरुषों के लिये अधिकज्ञ होना तो संभव है, किन्तु सर्वज्ञ होना नहीं। अभ्यास से कोई व्यक्ति १५ फ़ीट ऊँचा कूद सकता है, किन्तु ८ मील ऊँचा कभी नहीं कूद सकता चाहे वह जन्म भर ही अभ्यास क्यों न करे। बौद्ध कहते हैं कि बुद्ध सर्वज्ञ हैं और जब वे समाधिस्थ होते हैं तो दीवारें और पत्थर तक उनके उपदेश का उच्चारण करते हैं। ऐसे कथन अन्धविश्वासी व्यक्तियों के लिये सत्य हो सकते हैं। हम अश्रद्धालु हैं, हमें तो युक्तियाँ चाहियें। (२)

मीमांसकों के उपर्युक्त आक्षेपों का शान्तरक्षित और कमलशील यह उत्तर देते हैं। सर्वज्ञ दिखाई नहीं देते इसलिये असत् हैं—ऐसा कथन अयुक्त है। चर्मचक्षु द्वारा अदर्शन सर्वज्ञ की सत्ता का अपलाप नहीं कर सकता। अदर्शन अधिक से अधिक संशय को जन्म दे सकता है, निश्चयात्मक अभाव को नहीं। विशुद्धविज्ञानस्वरूप होना ही सर्वज्ञ होना है। प्रतिपक्षी सर्वज्ञ को विषय के रूप में पकड़ना चाहता है और यह असम्भव है। द्रष्टा कभी दृश्य नहीं हो सकता। सर्वज्ञ को देखने के लिये स्वयं सर्वज्ञ बनना आवश्यक है। (३) सर्वज्ञ भगवान बुद्ध विशुद्धविज्ञानस्वरूप हैं, स्वतःसिद्ध

---

(१) प्रमाणं दूरदर्शी चेदेहि गृध्रानुपास्महे।—प्रमाणवार्तिक, २।३३

(२) वयमश्रद्दधाना हि ये युक्तीः प्रार्थयामहे।

(३) सर्वार्थविषयं ज्ञानं यस्य दृश्यः स ते कथम् ?
सर्वार्थविषयं ज्ञानं तवापि यदि नो भवेत् ?॥

—तत्वसंग्रह, का० ३२७६

और स्वयंप्रकाश हैं। विशुद्धविज्ञानस्वरूप बन कर ही उनका साक्षात्कार किया जा सकता है। बुद्धि के विकल्प उनका स्पर्श नहीं कर सकते। सविकल्प बुद्धि को निर्विकल्प ज्ञान में परिणत करना होगा। स्वप्रकाश स्वयंज्योति भगवान् अपने आपको अपने आप द्वारा ही देखते हैं। (१) विद्या द्वारा अविद्या का नाश होते ही विज्ञानस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। जब क्लेशावरण और ज्ञेयावरण नष्ट हो जाते हैं, जब सविकल्प बुद्धि की कोटियाँ शान्त हो जाती हैं, जब ग्राहक और ग्राह्य रूपी द्वैत नष्ट हो जाता है, जब अविद्या का प्रविलय हो जाता है, जब सविकल्प बुद्धि विशुद्ध निर्विकल्प प्रज्ञा में परिणत हो जाती है, तब विशुद्धविज्ञानस्वरूप की, स्वप्रकाश अद्वयतत्त्व की, स्वतःसिद्ध बुद्धत्व की, निर्मल सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है। (२) इसी को मुक्ति, मोक्ष, अपवर्ग या निर्वाण कहते हैं।

परार्थैकान्ततत्पर परमकारुणिक दयालु सम्यक्सम्बुद्ध भगवान् बुद्ध ने जो सम्पूर्ण प्राणियों के अनायास बन्धु हैं और प्राणिमात्र की समुन्नति चाहते हैं, बिना किसी भेद भाव के सब लोगों को अपना सदुपदेश दिया। (३) जो सच्चे ब्राह्मण हैं वे भगवान् बुद्ध को श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते हैं। 'वाहितपापत्वाद् ब्राह्मणः' अर्थात् जिसने अपने पाप दूर कर दिये हों वही ब्राह्मण है। और द्विविध नैरात्म्यज्ञान द्वारा ही सब पाप दूर किये जा

---

(१) स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानमात्मज्योतिः स पश्यति।

—वहीं, का० ३२६०

(२) अद्वितीयं शिवद्वारं कुदृष्टिनां भयंकरम्।
सर्वज्ञत्वमतः सिद्धं सर्वावरणमुक्तितः॥

—वहीं, का० ३३२२, ३३३९

(३) तस्माज्जगद्धिताधानदीक्षिताः करुणात्मकाः।
अनिबन्धनबन्धुत्वादाहुः सर्वेषु तत्पदम्॥

—वहीं, का० ३५६९

सकते हैं। अतः सच्चे ब्राह्मण भगवान् बुद्ध के धर्म में ही हैं। (१) बुद्धधर्म में अन्धविश्वास को कोई स्थान नहीं। अपने उपदेशों को युक्ति-युक्त समझने वाले और उन्हें सप्रमाण लोगों के सम्मुख सिद्ध करनेवाले तथा अन्धविश्वासी अबौद्ध-मातंगों का प्रमाण-मद उतार देने वाले निर्भय महात्मा बुद्ध का यह सिंहनाद है—हे भिक्षुओं! जिस प्रकार लोग सोने को अग्नि में तपा कर और अच्छी तरह ठोक पीट कर पूर्ण परीक्षा करने के पश्चात् उसे खरा मानते हैं, उसी प्रकार आप लोग मेरे वचनों को ज्ञानाग्नि में तपा कर, बुद्धि की कसौटी में कस कर, तथा हर प्रकार उनकी पूर्ण परीक्षा करके ही उन्हें ग्रहण करना, केवल मेरे प्रति आदर और श्रद्धा के कारण ही उन्हें सत्य मत मान लेना। (२)

---

(१) ये च वाहितपापत्वाद् ब्राह्मणाः पारमार्थिकाः।
अभ्यस्तामलनैरात्म्यास्ते मुनेरेव शासने ॥—वहीं, का ३५८९

(२) यैः पुनः स्वोक्तिषु स्पष्टं युक्तार्थत्वं विनिश्चितम्।
तत्प्रत्यायनसामर्थ्यमात्मनश्च महात्मभिः ॥
कुतीर्थ्यमत्तमातंगमदग्लानिविधायिनम्।
एवमस्ताखिलत्रासाः सिंहनादं नदन्ति ते ॥—
"तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद् वचो न तु गौरवात् ॥"—वहीं, का
३५८६—८

तृतीय भाग : अद्वैत वेदान्त

पञ्चम अध्याय

शङ्कराचार्य के पूर्व का अद्वैत वेदान्त

भगवती श्रुति समस्त भारतीय दर्शनों की जननी है। "मन्त्रब्राह्मणयो र्वेदनामधेयम्" अर्थात् मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग को वेद कहते हैं। मन्त्रभाग को संहिताभाग भी कहते हैं। यह पद्य में है। ब्राह्मणभाग गद्य में है और इसमें बहुधा यज्ञयागादि की विधि निर्दिष्ट है। ब्राह्मणभाग का अन्तिम भाग आरण्यक कहलाता है। आरण्यकों में अरण्यों के एकान्त में किये गये विश्व की पहेली को सुलझाने वाले विचार हैं। आरण्यक यागादि के विधिनिषेधरूपी विचारों में निवृत्ति एवं शुद्ध दार्शनिक विचारों में प्रवृत्ति के सूचक हैं। आरण्यकों का अन्तिमभाग उपनिषद् भाग है जो वैदिक दर्शन का सार है। मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग का पूर्वभाग वेद का कर्मकाण्ड कहा जाता है, तथा उपनिषद्भाग की संज्ञा ज्ञानकाण्ड है।

उपनिषद् शब्द का अर्थ है "समीप (उप) श्रद्धापूर्वक (नि) बैठना (सद्)" अर्थात् गुरु के समीप ज्ञान प्राप्त करने के लिये भक्ति एवं श्रद्धापूर्वक बैठना। कालान्तर में उपनिषद् शब्द उन गुह्य उपदेशों के लिये प्रयुक्त होने लगा जो इन बैठकों में दिये जाते थे। स्वयं उपनिषद् ही इस शब्द को गुह्य विद्या या रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। अथवा जिससे अविद्या नष्ट हो और ब्रह्म की प्राप्ति हो, उस अध्यात्मविद्या का नाम उपनिषद् है।

उपनिषद् अनुपम शैली द्वारा सरल, सुबोध, हृदयस्पर्शी एवं मार्मिक भाषा में अत्यन्त गम्भीर तत्त्व का विवेचन करते हैं। वेद का अन्तिम भाग

होने से ये 'वेदान्त' कहलाते हैं जिससे यह व्यक्त होता है कि ये वेद का जीवन, रस या सार तत्त्व रूप हैं। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में ऐसी कोई महत्वपूर्ण विचारधारा नहीं जिसका मूल-स्रोत उपनिषद् में उपलब्ध न हो।

छान्दोग्य के रैक्व और जानश्रुति, सत्यकाम जाबाल और उपकोसल, प्रवाहण, उद्दालक आरुणि और श्वेतकेतु, सनत्कुमार और नारद, प्रजापति और इन्द्र; बृहदारण्यक के अजातशत्रु और गार्ग्य, दध्यङ्आथर्वण और अश्विनी-कुमार, गार्गी और मैत्रेयी, याज्ञवल्क्य और जनक; कठ के यम और नचिकेता; तैत्तिरीय के वरुण और भृगु; मुण्डक के अंगिरस और शौनक; एवं प्रश्न के पिप्पलाद—ये उपनिषद् के मुख्य दार्शनिक हैं जिनमें सबसे महान् याज्ञवल्क्य हैं।

दर्शन की खण्डनात्मक और मण्डनात्मक दोनों प्रवृत्तियाँ उपनिषद् में उपलब्ध हैं। खण्डनात्मक प्रवृत्ति का महावाक्य है "नेति नेति" और मण्ड-नात्मक प्रवृत्ति का महावाक्य है "तत्त्वमसि"।

ऋग्वेद के नासदीयसूक्त से प्रकट है कि सविकल्प बुद्धि तत्त्वग्रहण करने में असमर्थ है। बुद्धि जगत् की उत्पत्ति का प्रतिपादन नहीं कर सकती। प्रारंभ में न सत् था न असत्, न जीवन था न मृत्यु, न दिन था न रात्रि। किन्तु बुद्धि बिना कोटियों का आश्रय लिये कार्य ही नहीं कर सकती। अतः तत्त्व को बुद्धि अपनी सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ कोटि 'अस्ति' द्वारा ग्रहण करती है। हमारे लिये तत्त्व 'सत' है। तत्त्व ही एकमात्र सत् है। वह सत्य का सत्य है—"सत्यस्य सत्यम्"। और जो चित् है वही सत् हो सकता है, अतः तत्त्व चिद्रूप है। तत्त्व के लिये तो न प्रकाश है न अन्धकार, किन्तु हमारे लिये तत्त्व प्रकाशों का प्रकाश है—"ज्योतिषां ज्योतिः"। इसके आगे हमारी बुद्धि नहीं जा सकती। "कौन जानता है? कौन कह सकता है कि यह सृष्टि कब, क्यों और कैसे हुई?" नासदीयसूक्त की खण्डनात्मक धारा से अब हम पुरुषसूक्त की मण्डनात्मक धारा की ओर अग्रसर होते हैं। 'पुरुष ही यह सब कुछ है; पुरुष ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान है।' पर-

ब्रह्म ही ईश्वर, जीव और जगत् रूप से प्रतीत होता है। एक को ही विद्वान् अनेक रूपों में देखते हैं—'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।'

उपनिषद् बारम्बार घोषणा करते हैं कि वाणी और बुद्धि की पहुँच तत्त्व तक नहीं है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—मन और वाणी तत्त्व तक न पहुँच कर वापस लौट आती हैं। बृहदारण्यक का कथन है कि द्रष्टा का दर्शन, श्रोता का श्रवण, विज्ञाता का विज्ञान असंभव है। जिस विज्ञाता के द्वारा यह सब कुछ जाना जाता है उस विषयी विज्ञाता को विषय रूप में कैसे जाना जा सकता है ? (१) याज्ञवल्क्य को गार्गी से कहना पड़ता है—गार्गी ! अधिक मत पूछ, अधिक मत पूछ, अन्यथा तेरे शिर का पतन हो जायगा। सब कुछ, हे गार्गी ! इस अद्वय और अक्षर तत्त्व के भीतर और बाहर ओत-प्रोत है।' (२) केन की उक्ति है—जिसको वाणी नहीं बोल सकती, किन्तु जिसके द्वारा वाणी बोल सकती है; जिसको बुद्धि नहीं सोच सकती, किन्तु जिसके द्वारा बुद्धि सोच सकती है; जिसको आँख नहीं देख सकती, किन्तु जिसके द्वारा आँख देख सकती है; जिसको कान नहीं सुन सकते, किन्तु जिसके द्वारा कान सुन सकते हैं; जो स्वयं साँस नहीं लेता किन्तु जिसके कारण साँस लेना संभव है;—केवल उसी को ब्रह्म जानो, इसको नहीं जिसकी लोग बाहर उपासना करते हैं। (३) जो यह कहता है कि 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' वह वास्तव में ब्रह्म को नहीं जानता ; और जो यह कहता है कि 'मैं ब्रह्म को नहीं जान सकता' वह वास्तव में ब्रह्म को जानता है। (४) ब्रह्म बुद्धिगम्य नहीं है। बुद्धि विज्ञाता ब्रह्म को विज्ञेय के रूप में कभी नहीं जान सकती। ब्रह्म आत्मस्वरूप है और उसका केवल विशुद्ध निर्विकल्प ज्ञान द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है। मौन सर्वोच्च दर्शन है। "उपशान्तोऽयमात्मा।"

---

(१) विज्ञातारमरे ! केन विजानीयात्। २।४।१४

(२) ३।६।१; ३।८। ४–८

(३) केन, १।४–८

(४) यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।—केन, २।३

यह आत्मा न तो प्रवचन से जाना जा सकता है न मेधा से, न बहुश्रुत से। (१) विद्वान् को चाहिये कि वह व्यर्थ के शब्दाडम्बर और शास्त्रार्थ में न पड़े क्योंकि ऐसा करना केवल जीभ को थकाना है। आत्मा अतर्क्य, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय और निष्प्रपञ्च है। (२)

तत्त्व अद्वय, अनादि, अनन्त, सविकल्प बुद्धि द्वारा अगम्य, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मस्वरूप है जिसका ज्ञान जन्ममरणचक्र से छुटकारा दिलाता है। बुद्धि इसे नहीं जान सकती अतः सविकल्प बुद्धि अधिक से अधिक इसके बारे में "नेति नेति" कह सकती है। किन्तु "नेति नेति" स्वयं तत्त्व को अभावात्मक या शून्य नहीं कर सकती। "नेति नेति" तत्त्व की अनिर्वचनीयता का बोध कराती है उसकी शून्यता का नहीं। याज्ञवल्क्य का कथन है कि द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं हो सकता। (३) ज्ञाता और ज्ञान में वास्तविक दृष्टि से कोई भेद नहीं। तादात्म्य के अतिरिक्त इनका और कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता। अतः "नेति नेति" का अर्थ है कि तत्त्व बुद्धिग्राह्य न होने के कारण विकल्प-प्रपञ्च द्वारा अनिर्वचनीय है और अनिर्वचनीय होने से विशुद्ध विज्ञानात्मस्वरूप तथा निर्विकल्पज्ञानसाक्षात्कार-योग्य है। यह जो कुछ है वह सब ब्रह्मस्वरूप है। जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। (४) अतः ब्राह्मण को चाहिये कि पाण्डित्य के वाग्जाल को छोड़कर बालक के समान निर्दोष तथा सरल बन जाय और फिर पाण्डित्य तथा बाल्य दोनों को छोड़कर मौन ले ले क्योंकि मौन ही सर्वोच्च दर्शन है। (५)

उद्दालक आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश देते हैं—जिस प्रकार मिट्टी को जान लेने पर मिट्टी के बने हुये सब पदार्थों का ज्ञान हो जाता है

---

(१) कठ, १।२। २३

(२) माण्डूक्य, ७, बृह० ४।४। २१

(३) न द्रष्टुर्दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते—बृह० ४।३।२३

(४) ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। (५) बृह० ३।५।१

क्योंकि घट शराव आदि केवल नामरूप हैं, विकार हैं, सत्य तो मिट्टी ही है ; जैसे सुवर्ण को जान लेने पर सोने के बने हुए सब आभूषणों का ज्ञान हो जाता है क्योंकि आभूषण नाम और रूप मात्र हैं, सत्य तो सुवर्ण ही है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर नामरूपात्मक जगत् के समस्त पदार्थ जान लिये जाते हैं। आत्मा ही परमार्थसत् है और हे श्वेतकेतु ! तू ही यह आत्मा है। (१)

छान्दोग्य के प्रजापति और इन्द्र सम्वाद में स्पष्ट किया गया है कि आत्मा शरीरस्वरूप नहीं है क्योंकि शरीर तो अनित्य है तथा सुखदुःखादि-स्पृष्ट है, एवं आत्मा नित्य है और सुखदुःखादिद्वन्द्वरहित है। शरीर के परिणाम और परिवर्तन के साथ साथ आत्मा में परिणाम और परिवर्तन नहीं होता। आत्मा स्वप्नद्रष्टा भी नहीं है क्योंकि स्वप्न में केवल सुखदुःखरूप क्षणिक विज्ञानधारा की प्रतीति होती है। स्वप्नद्रष्टा खिन्न, संतप्त, रोता हुआ सा प्रतीत होता है। आत्मा सुषुप्ति का द्रष्टा भी नहीं है क्योंकि सुषुप्ति में विषय न होने से, अनुभव करनेवाले विषयी की सत्ता भी शुष्क और रिक्त हो जाती है। वास्तविक आत्मा विशुद्धविज्ञानस्वरूप है। यही विषयी और विषय दोनों रूपों में प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में यह दोनों से अतीत है। माण्डूक्य में भी इसी मत की पुष्टि की गई है। आत्मा ही, व्यष्टि की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तथा समष्टि की विश्व, तैजस और प्राज्ञ रूपी अवस्था-त्रय का द्रष्टा है और इनका द्रष्टा होते हुये भी इनसे अतीत व्यष्टि का तुरीय और समष्टि का अमात्र है। मोह और शोक द्वैत के कारण होते हैं; अद्वैत में मोह और शोक कहाँ ? आत्मानन्द के आगे अन्य सब आनन्द फीके पड़ जाते हैं। आत्मज्ञान से ही जन्ममृत्युचक्र से छुटकारा मिल सकता है; मुक्ति के लिये अन्य कोई मार्ग नहीं है। "नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय।"

आत्मा द्वारा ही यह सब जगत् "आवृत" है, "संवृत" है। जगत् आत्म-तत्त्व का ही अविद्याकृत विवर्त है। वास्तव में अद्वैत है। अद्वैत मधु है, मधु-

---

(१) तत्त्वमसि श्वेतकेतो।—छान्दोग्य ६।८।७

विद्या है। तत्त्व अन्तर्यामी और अतीत दोनों है। तत्त्व सूत्र है जो मणिगणसदृश जगत्पदार्थों को निबद्ध करता है तथा प्रत्येक पदार्थ को जीवन और शक्ति देता है। जगत् शरीर है, तत्त्व आत्मा है। जीव शरीर हैं, तत्त्व उनकी आत्मा है। यही सब में ओतप्रोत है। यही सबका अन्तर्यामी है। यही सबका जीवन है। और यह सब होते हुये भी आत्मा इन सबसे अतीत है, परे है। यही परब्रह्म है। यही सत्यों का सत्य है। यह उपनिषद् है, यह रहस्यविद्या है। वेदों को ईश्वर का निश्वास कहा जाता है, किन्तु वैदिकी विद्या अपरा विद्या कही गई है। नारद सनत्कुमार से कहते हैं—'मुझे समस्त वेदों का ज्ञान है, मुझे अन्य विद्याओं का भी ज्ञान है, किन्तु फिर भी हे प्रभो! मैं केवल मन्त्रवित् हूँ, आत्मवित् नहीं। मैंने आप जैसे महात्मों के मुख से सुना है कि आत्मवित् ही शोक के पार जा सकता है, अतः मुझे आत्मतत्व का उपदेश दीजिये।' अतः आत्मविद्या या रहस्यविद्या ही परा विद्या है; अन्य सब अपरा विद्या है।

सत्य का मुख चमकीले हिरण्मय पात्र से ढका हुआ है। इसकी चकाचौंध से विमुग्ध न होकर जब सत्य का साक्षात्कार कर लिया जाता है तब अविद्या-ग्रन्थि खुल जाती है, सब संशय और विकल्प शान्त हो जाते हैं। अविद्या मृत्यु है; विद्या अमृत है। अविद्या प्रेयस् है; विद्या श्रेयस् है। एक अन्धकार है, दूसरी प्रकाश। एक मिथ्या है, दूसरी सत्य। एक भ्रान्ति है, दूसरी तत्व। आत्मदेव हमें असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर प्रवृत्त करें! मार्ग कठिन अवश्य है। "तलवार की धार पै धायबो है।" कवि इसे निशित और दुरत्यय क्षुरधारा के समान दुर्गम बतलाते हैं। इसके लिये हमें नचिकेता की तरह सांसारिक पदार्थों को ठुकरा देने के लिए कटिबद्ध होना पड़ेगा और मैत्रेयी की तरह यह कहना होगा कि 'उसे लेकर मैं क्या करूँ जो मुझे अमर न बना सके?'—"किमहं तेन कुर्यां येनाहं नामृता स्याम्?"

उपर्युक्त पंक्तियों से यह सुलभतया जाना जा सकता है कि बौद्धदर्शन उपनिषद् का कितना ऋणी है। बौद्ध विज्ञानवाद, अद्वैतवाद, और अनिर्वचनीयवाद, बौद्ध कर्मफलवाद, संसारक्षणभंगवाद तथा बौद्ध संवृतिपरमार्थ-

कल्पना, अविद्या को भवचक्र का आदि कारण मानने की कल्पना, बन्ध-मोक्षकल्पना, अविद्या को बन्ध और विद्या को मोक्ष मानने की कल्पना आदि समस्त मूल सिद्धान्तों को स्वयं भगवान् बुद्ध और उनके अनुयायियों ने उपनिषद् से ग्रहण किया है।

भगवान् बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में उपनिषद् के सिद्धान्तों को सूत्ररूप दिया। महर्षि बादरायण ही इन सिद्धान्तों के सार को सूत्ररूपेण संकलित करने वाले व्यक्ति नहीं थे। उनके पहले भी कुछ विद्वानों ने ऐसा प्रयास किया था। हमें ब्रह्मसूत्र में ऐसे कतिपय विद्वानों के नामों का उल्लेख मिलता है जैसे औडुलोमि, काशकृत्स्न, जैमिनि, कार्ष्णाजिनि, आश्मरथ्य आदि। भगवान् बादरायण का संकलन स्यात् अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ था। भगवान् बादरायण को प्रायः महाभारतकार महर्षि व्यास माना जाता है। गीता महाभारत का एक भाग है।

श्रीमद्भगवद् गीता हिन्दूधर्म का सर्वमान्य उत्कृष्ट ग्रन्थ है जिसे मानव-धर्म का प्रतीक कहना उचित है। गीता को भगवान् श्रीकृष्णरूपी दोग्धा द्वारा अर्जुन को वत्स बना कर उपनिषद्-गायों से दोहा गया अमृतरूपी दुग्ध कहा जाता है। गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति का अद्वितीय समन्वय किया गया है। ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता गीता को सहर्ष मान्य है। ज्ञान के समान पवित्र वस्तु और कोई नहीं है। जिस प्रकार अग्नि इन्धन को भस्म कर देती है उसी प्रकार ज्ञान समस्त कर्मों को भस्म कर देता है। केवल ज्ञानी ही निष्काम बुद्धि से कर्म करने की क्षमता रखता है और केवल ज्ञानी ही सच्चा भक्त हो सकता है। ज्ञानी को भगवान् अपनी आत्मा मानते हैं और अपने भक्तों को बुद्धियोग या ज्ञान देते हैं ताकि वे उन तक पहुँच सकें।

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, और गीता वेदान्त के प्रस्थान-त्रय हैं जिनपर प्रायः प्रत्येक बड़े आचार्य ने भाष्य लिखे हैं।

जिस प्रकार महायान के विभिन्न मत वैपुल्यसूत्रों को आगम या बुद्धवचन मानते हैं और जिस प्रकार आचार्य अश्वघोष ने अपने महायानश्रद्धोत्पाद-शास्त्र में इन सूत्रों का सार एकत्रित किया एवं आचार्य नागार्जुन ने इन पर

अपने महान् शून्यवाद सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार वेदान्ती उपनिषद् को श्रुति मानते हैं और इनके सिद्धान्तों को महर्षि बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में एकत्रित किया तथा आचार्य गौडपाद ने इन पर अपने महान् अद्वैतवेदान्तसम्प्रदाय को प्रतिष्ठित किया।

माण्डूक्यकारिका या गौडपादकारिका जिसे आगमशास्त्र भी कहते हैं अद्वैतवेदान्त का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है। गौडपादाचार्य का दर्शन उपनिषद् के सिद्धान्तों का सर्वश्रेष्ठ और यथार्थ प्रतिपादन है एवं प्रधानतया माण्डूक्य बृहदारण्यक और छान्दोग्य पर निर्भर है। स्यात् आचार्य ने, ब्रह्मसूत्र और गीता का भी आश्रय लिया है। गौडपादाचार्य पर शून्यवाद और विज्ञानवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, यह बात निःसन्देह सत्य है। हम कह सकते हैं कि गौडपादाचार्य का दर्शन जो उपनिषद् पर निर्भर है, नागार्जुन और वसुबन्धु के दर्शन का सुन्दर समन्वय और चरम विकास है।

गौडपादाचार्य शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपादाचार्य के गुरु थे। भगवान् शंकराचार्य स्वयं गौडपादाचार्य को "पूज्याभिपूज्य परमगुरु" कह कर अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम करते हैं। (१) ब्रह्मसूत्रभाष्य में भी वे उन्हें 'वेदान्तसम्प्रदायवित् आचार्य" कह कर उनकी कारिका उद्धृत करते हैं। (२) शंकराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य भी उन्हें "पूज्य गौड" कहते हैं। (३)

महामहोपाध्याय पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने हाल ही में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वास्तव में गौडपादकारिका माण्डूक्योपनिषद् की कारिका नहीं है, अपितु माण्डूक्योपनिषद् इन कारिकाओं पर निर्भर है, तथा माण्डूक्यकारिका के चारों प्रकरण वास्तव में चार भिन्न स्वतन्त्र कृतियाँ

---

(१) यस्तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि।
—माण्डूक्यकारिकाभाष्य, अन्तिमपद्य

(२) वेदान्तसम्प्रदायविद्भिराचार्यैः। —ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।१।६
सम्प्रदायविदो वदन्ति। —वहीं, १।४।१४

(३) एवं गौडैर्द्राविडैर्नः पूज्यैरर्थः प्रभाषितः। —नैष्कर्म्यसिद्धि, ४।४४

हैं जिन्हें माण्डूक्यकारिका या आगमशास्त्र के नाम से एक साथ जोड़ दिया गया है। हमें पं० भट्टाचार्य जैसे विद्वान् के मुख से यह सुन कर आश्चर्य होता है। यदि और कोई यह बात कहता तो हम उसे विक्षिप्तप्रलाप कह कर टाल देते। परन्तु अब हमें इस पर विचार करना आवश्यक हो गया।

पं० भट्टाचार्य ने अपने मत की सिद्धि के लिये जो प्रमाण प्रस्तुत किये हैं वे हमे खोखले लगते हैं। उनके प्रमाणों का आशय यह है (१) :—

(१) मध्वाचार्य केवल आगमप्रकरण को श्रुति मानते हैं और अन्य प्रकरणों को भिन्न कृति या कृतियाँ समझ कर उन पर भाष्य नहीं लिखते ;

(२) माण्डूक्यकारिका माण्डूक्योपनिषद् के कई महत्वपूर्ण और कठिन शब्दों की व्याख्या नहीं करती जैसा कि उसे करना चाहिये ;

(२) माण्डूक्योपनिषद् अन्य उपनिषद् और कारिकाओं पर निर्भर है ;

(४) उपनिषद् और कारिका की तुलना करने पर उपनिषद् के गद्य-स्थल उत्तरकालीन प्रतीत होते हैं।

प्रथम प्रमाण के खण्डनार्थ इतना कथन ही पर्याप्त है कि आचार्य गौडपाद की कारिका अद्वैतवेदान्त का ग्रन्थ है और अद्वैत के आचार्य कारिका को सुसम्बद्ध स्वतन्त्र कृति मानते हैं, श्रुति नहीं। पं० भट्टाचार्य यह नहीं बतलाते कि हम अद्वैत के आचार्य शंकर और सुरेश्वर के विरुद्ध द्वैत के आचार्य मध्व के कथन को इस विषय में क्यों मान्य समझें ?

द्वितीय प्रमाण के खण्डनार्थ यह कथन पर्याप्त है कि माण्डूक्यकारिका माडूक्योपनिषद् पर कारिका है जिसके लिये उस उपनिषद् के प्रत्येक शब्द की विशद व्याख्या करना आवश्यक नहीं।

तृतीय प्रमाण के लिये हमारा उत्तर यह है—हम भी स्वीकार करते हैं कि माण्डूक्य के कुछ स्थल बृहदारण्यक और छान्दोग्य के कुछ स्थलों से मिलते जुलते हैं, परन्तु इन दोनों उपनिषद् के कई स्थल माण्डूक्य के अतिरिक्त अन्य उपनिषद् के कुछ स्थलों से भी मिलते जुलते हैं ; और यदि

---

(१) द्रष्टव्य, दि आगमशास्त्र ऑव गौडपाद, भूमिका, पृ० XLVI

यह मान भी लिया जाय कि माण्डूक्य अन्य उपनिषद् पर निर्भर है तो यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि माण्डूक्य गौडपादकारिका पर भी निर्भर है ?

चतुर्थ प्रमाण के खण्डन में हम कहते हैं कि माण्डूक्योपनिषद् और कारिका की तुलना करने पर हमें कारिका ही उत्तरकालीन प्रतीत होती है। हम यह भी कह देना चाहते हैं कि प्रायः विद्वान् उपनिषद् के गद्यभागों को पद्यभागों से प्राचीन मानते हैं।

पं० भट्टाचार्य अपने दूसरे कथन के समर्थन में, कि कारिका के चारों प्रकरण चार स्वतन्त्र कृतियाँ हैं जो आगमशास्त्र के नाम से बाद में एक साथ जोड़ दी गई हैं, निम्न निःसार प्रमाण देते हैं—(१)

(१) यदि द्वितीय प्रकरण को युक्तिसमर्थित माना गया है तो क्या प्रथम प्रकरण युक्तियुक्त नहीं है ?

(२) द्वितीयप्रकरण में ऐसा कोई स्थल नहीं जो प्रथमप्रकरण के विना स्वतन्त्ररूप से समर्थित न किया जा सके।

(३) तृतीयप्रकरण को भी स्वतन्त्र माननें में कोई आपत्ति नहीं है।

(४) यदि चतुर्थप्रकरण को स्वतन्त्र न मानें तो यह समझना कठिन होगा कि अजातिवाद जैसे सिद्धान्त जो प्रथम और तृतीय प्रकरण में सिद्ध किये जा चुके हैं, फिर चतुर्थप्रकरण में बार बार क्यों दुहराये गये है ?

प्रथम प्रमाण के खण्डन में हम कहते हैं कि यदि द्वितीय प्रकरण युक्ति-समर्थित है तो क्या इसका यह अर्थ है कि अन्य प्रकरणों को युक्तियों से पुष्ट न किया जाय ?

द्वितीय प्रमाण के खण्डनार्थ यह पर्याप्त है कि यदि द्वितीय प्रकरण में ऐसा कोई स्थल नहीं जो प्रथमप्रकरण के बिना न समझा जा सके तो इसका यह अर्थ कैसे हो सकता है कि द्वितीयप्रकरण एक स्वतन्त्र कृति है ? क्या अन्य कई ग्रन्थों के कुछ अध्याय या परिच्छेद स्वतन्त्ररूप से नहीं पढ़े जा सकते ?

---

(१) द्रष्टव्य, वहीं, पृ० LVII

तृतीय प्रमाण अभावात्मक होने से प्रमाण ही नहीं है।

चतुर्थ प्रमाण के खण्डन में यह कहना पर्याप्त है कि पुनरावृत्ति प्रत्येक स्थान में दोष नहीं हो सकती। ग्रन्थकार को अपने मुख्य सिद्धान्तों की पुष्टि और महत्ताप्रदर्शनार्थ उनकी आवृत्ति करनी पड़ती है।

पं० भट्टाचार्य के ग्रन्थ का प्रधान गुण है गौडपादाचार्य और महायान के आचार्यों की समानता का प्रदर्शन। यद्यपि हम कुछ स्थानों में पं० भट्टाचार्य के मत से सहमत नहीं हैं, (१) तथापि साधारणतया इस समानता को हम स्वीकार करते हैं। पं० भट्टाचार्य का यह कथन सर्वथा सत्य है कि उपनिषद् का विज्ञानवाद, जिसे गौडपादाचार्य के पूर्वकालीन महायान के बौद्ध आचार्यों ने अपनी प्रतिभा से विशाल, समुन्नत और समृद्ध किया, आगमशास्त्र के रूप में विकसित हुआ है। (२) परन्तु पं० भट्टाचार्य इस कथन को विकसित नहीं करते। अपितु कुछ स्थानों पर वे इसे भूल से जाते हैं। गौडपादाचार्य और महायान के आचार्यों की समानता बताकर वे प्रायः यह सिद्ध करना चाहते हैं कि गौडपाद महायान के कितने ऋणी हैं। वे यह बतलाना चाहते हैं कि गौडपाद प्रच्छन्नबौद्ध हैं। किन्तु हमारा सिद्धान्त है कि महायान और अद्वैत दोनों ही एक उपनिषत्-सिद्धान्त के विकास की विभिन्न अवस्थायें हैं। गौडपादाचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने की अपेक्षा महायानाचार्यों को प्रच्छन्नवेदान्ती कहना अधिक उपयुक्त होगा। और हमारे मत से तो दोनों ही एक सम्प्रदाय के पोषक होने के कारण एक दूसरे के विरुद्ध न होकर प्रकट बौद्ध और प्रकटवेदान्ती हैं।

आचार्य गौडपाद अजातिवाद के समर्थक हैं। जगत् मिथ्या है, अतः परमार्थतः अनुत्पन्न है; तत्त्व सत्य है, अतः अज है। आचार्य गौडपाद शून्यवाद के अजातिवाद का अनुमोदन करते हैं। कुछ लोग सृष्टि को ईश्वर की विभूति मानते हैं; कुछ उसे स्वप्न और माया के समान बतलाते हैं;

---

(१) उदाहरणार्थ, देखिये ऊपर पृ० ६६

(२) दि आगमशास्त्र ऑव गौडपाद, भूमिका, पृ० cxxxii

कुछ उसे ईश्वर की इच्छा समझते हैं ; अन्य लोग उसे कालसृष्ट कहते हैं ; कुछ अन्य उसे भोग के लिये बतलाते हैं; और कुछ का मत है कि सृष्टि ईश्वर की क्रीडा है। आचार्य के मत में उपर्युक्त सभी मत असत्य हैं। सब कामनाओं के स्वामी आप्तकाम प्रभु को किस वस्तु की स्पृहा हो सकती है ? अतः सृष्टि प्रभु का स्वभावमात्र है। जगत् तत्त्व का प्रतिभास है। अविद्या के कारण तत्व ही जगत् रूप से प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सृष्टि केवल भ्रान्ति है। भेद असत् है ; अभेद ही सत् है। द्वैत माया है ; अद्वैत ही परमार्थ है। वेदान्तनिष्णात विद्वान् इस विश्व को स्वप्नवत्, मायावत्, गन्धर्वनगरवत् मानते हैं।(१) पारमार्थिक दृष्टि से न निरोध है न उत्पत्ति, न बद्ध है न साधक, न मुमुक्षु है और न मुक्त। (२) न एक है न नाना, न आना है न जाना। जिस प्रकार अँधेरे के कारण रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, उसी प्रकार अविद्या के कारण आत्मतत्व में विश्व की भ्रान्ति हो जाती है।

अजाति परमार्थ है। यह सदा एकरस, एकरूप और त्रिकालाबाध है। यहाँ भय, शोक, मोहादि को स्थान नहीं। तत्त्व अद्वय है। कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। किसी भी प्रकार का कहीं भी भेद नहीं है। "नास्ति भेदः कथंचन।" (३, २)। जब उपनिषद्, सृष्टिकार्य को कारण से भिन्न बतला कर मृत्तिका, सुवर्ण, लौह, विस्फुलिंग आदि के दृष्टान्त देते हैं तो इनका यह अर्थ नहीं है कि सृष्टि वास्तविक है। ये दृष्टान्त तो हमें समझाने के साधन हैं, उपाय हैं; वास्तव में किसी प्रकार का भेद नहीं है। जगत् जीव से भिन्न नहीं है; जीव आत्मा से भिन्न नहीं है, आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अद्वय तत्व अज होते हुए भी अविद्या के कारण भेदवत् प्रतीत

---

(१) स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥
(तुलनार्थद्रष्टव्य, ऊपर पृ० १९)—माण्डूक्यकारिका, २,३१

(२) वही, २,३२; तुलनार्थ द्रष्टव्य माध्यमिककारिका, आदिश्लोक

होता है। यदि भेद वास्तविक होता तो अमृत मर्त्य बन जाता। द्वैतवादी अजन्मा के जन्म की सिद्धि करना चाहते हैं। अजन्मा तो अमर है और अमर मरणशील कैसे हो सकता है? स्वभाव का कभी परिवर्तन नहीं हो सकता। प्रकृति या स्वभाव का अन्यथा भाव या परिणाम होना असंभव है। (१) भगवती श्रुतिकहती है—"नेह नानास्ति किंचन" (बृह० ४।४।१९, कठ० २।१।११) अर्थात् यहाँ कोई भेद नहीं है; एवं "अजायमानो बहुधा विजायते" (बृह० ३।५।१९) अर्थात् परमतत्त्व अज होते हुये भी (अविद्यासे) जगत्-प्रपञ्च रूप से जन्मता-सा प्रतीत होता है। "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" अर्थात् जो भेद को मानता है वह सदा जन्म-मृत्युचक्र में फँसा रहता है, वह बार-बार मरता रहता है। "जो जगत् की सृष्टि को मानते हैं, जो संभूति या जगत्-प्रपञ्च के उपासक हैं, वे घोर अन्धकार में जाते हैं" (ईश, १२) यह कह कर श्रुति जगत् की उत्पत्ति का निषेध करती है और यह कह कर कि "उसे कौन उत्पन्न कर सकता है?" (बृह ३।९।२८) श्रुति सृष्टि-कारण का निषेध करती है।

श्रुति से ही क्यों, युक्ति से भी अजातिवाद की सिद्धि होती है। 'सत्' की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जो 'सत्' है वह तो पहले ही "है" और उसकी पुनरुत्पत्ति मानना व्यर्थ है। 'असत्' की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जो 'असत्' है वह वन्ध्यापुत्र या खपुष्प के समान है और वह न माया से उत्पन्न हो सकता है न यथार्थ में। अतः अजातिवाद ही सत्य है। (२)

द्वैतवादी आपस में लड़ते हैं। कुछ कहते हैं कि सत् से उत्पत्ति होती है और कुछ कहते हैं कि असत् से। गौडपादाचार्य कहते हैं कि हम इन द्वैतवादियों से विवाद नहीं करते क्योंकि सत् और असत् उभयपक्ष के ये द्वैतवादी, एक

---

(१) प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति। वहीं, ३, २१; ४, ७
तुलनार्थ द्रष्टव्य, माध्यमिककारिका १३, ४

(२) वहीं, ३, २७-२८-४८ तुलनार्थ देखिये माध्यमिककारिका व वृत्ति पृ० १३-३८

साथ, एक दूसरे के खण्डन द्वारा हमारे अजातिवाद की ही पुष्टि करते हैं। सत्वादी असत् का खण्डन करते हैं और असत्वादी सत् का। और इन दोनों का परस्पर खण्डन एक साथ लिया जाने पर अर्थात् सत् और असत् दोनों के खण्डन से हमारी अजाति सिद्धि होती है। (१) वास्तव में सब धर्म अर्थात् बुद्धिग्राह्य पदार्थ जरामरणनिर्मुक्त हैं। जीवात्मा आत्मस्वरूप होने से अज है और जगत्-प्रपञ्च मिथ्या होने से अनुत्पन्न है। जो जरामरण को मानते हैं वे इस निकृष्टवाद के कारण गिर जाते हैं। (२)

कतिपय विद्वान् (शून्यवादी) अद्वयवाद के समर्थक हैं और वे सत् और असत्, भाव और अभाव, अशून्य और शून्य, उत्पत्ति और निरोध आदि द्वयवादनिरास द्वारा अजातिवाद का प्रतिपादन करते हैं। गौडपादाचार्य स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वे इन अद्वयवादी (माध्यमिक) विद्वानों द्वारा ख्यापित अजातिवाद का पूर्ण अनुमोदन करते हैं। (३)

सांख्य सत्कार्यवादी है। अव्यक्त प्रकृति व्यक्त जगत् के रूप में परिणमित होती है। गौडपादाचार्य भी शून्यवादी और स्वतन्त्रविज्ञानवादी बौद्धों के समान इस मत का खण्डन करते हैं। यदि प्रकृति व्यक्त और अनित्य कार्यजाल के रूप में परिणमित होती है तो वह अव्यक्त और नित्य कारण कैसे हो सकती है ? यदि कार्य सत् है तो उसे भी अव्यक्त और नित्य होना चाहिये। और, यदि कार्य सत् है तो उसकी पुनरुत्पत्ति व्यर्थ है। कारण नित्य अव्यक्त प्रकृति और अनित्य व्यक्त जगत् दोनों नहीं हो सकता। शंकराचार्य अपने भाष्य में स्पष्ट करते हैं कि एक ही मुर्गी का आधा भाग पकाये जाने के लिये और

---

(१) वहीं, ४, ३-४

(२) जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः। जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया॥ ४, १० तुलनार्थ द्रष्टव्य, माध्यमिककारिका ११,३-८

(३) ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम्। ४,५

आधा भाग अंडे देने के लिये नहीं रक्खा जा सकता। (१) और यदि कार्य असत् है तो वन्ध्यापुत्रवत् होने से उसकी उत्पत्ति असंभव है। पुनश्च, कारण और कार्य को युगपत् भी नहीं माना जा सकता अन्यथा गाय के दोनों सींगों को भी कारण-कार्य मानना पड़ेगा। अपि च, जो यह मानते हैं कि कारण कार्य के पहले रहता है और कार्य कारण के पहले, उनके मत में पुत्र को अपने पिता के पहले स्थित मानना पड़ेगा। अतः उपर्युक्त दोषों के कारण सिद्ध है कि कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। (२)

जाति असंभव है क्योंकि—

(१) कारण में कार्योत्पाद की शक्ति नहीं है। उत्पत्तिसामर्थ्य न तो सत् में हो सकता है, न असत् में, न सदसत् में, और न सदसद्भिन्न में। (अशक्तिः)

(२) कार्य आदि और अन्त दोनों में अज्ञात है। कार्य का ज्ञान न आदि में हो सकता है और न अन्त में। और जो आदि तथा अन्त दोनों में मिथ्या है वह मध्य में भी अवश्य ही मिथ्या है—यह अटल सत्य है। (अपरिज्ञानम्)

(३) कारण और कार्य में कोई क्रम सिद्ध नहीं है। पूर्व और अपर दोनों कोटियाँ असिद्ध हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि कारण पहले होता है या कार्य। पूर्वकालभावित्व और आनन्तर्यनियम दोनों असिद्ध हैं। हम नहीं कह सकते कि इनमें कौन कारण है और कौन कार्य। (क्रमकोपः)

अतः उपर्युक्त अशक्ति, अपरिज्ञान और क्रमकोप के कारण जाति सिद्ध नहीं की जा सकती। इस प्रकार बुद्ध महात्माओं ने अजातिवाद का प्रतिपादन किया है। (३) न तो संसार को अनादि और सान्त और न मोक्ष को सादि

---

(१) माण्डूक्यकारिका भाष्य ४, १२

(२) माण्डूक्यकारिका ४, १५-१६

(३) अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथवा पुनः।
एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता॥
तुलनार्थ देखिये ऊपर पृ० ३५ —वहीं, ४, १९

और अनन्त कहा जा सकता है। अज आत्मतत्त्व ही माया के कारण उत्पन्न-सा प्रतीत होता है ; वास्तव में अजाति ही उसका स्वभाव है। संसार न तो आदि में है और न अन्त में रहता है। अतः वह मध्य में भी नहीं हो सकता। तर्क इस बात को सिद्ध करता है कि जो वस्तु भूत और भविष्यत् में नहीं है वह वर्तमान में भी कदापि नहीं हो सकती। (१) सत् की उत्पत्ति न सत् से हो सकती है और न असत् से। इसी प्रकार असत् की उत्पत्ति न सत् से हो सकती है और न असत् से। सत् और असत् दोनों, प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरुद्धस्वभाववाले होने से, एक साथ कभी नहीं रह सकते। और जो सत् और असत् दोनों से भिन्न है वह निश्चय मिथ्या है ही। (२)

गौडपादाचार्य विज्ञानवादियों की भाँति यह मानते हैं कि जगत् की सत्ता विज्ञान-बाह्य नहीं हो सकती। शंकराचार्य भी अपने भाष्य में कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्धों द्वारा किये गये बाह्यार्थवाद के खण्डन का गौडपादाचार्य अनुमोदन करते हैं। (३)

गौडपादाचार्य का कथन है कि साधारण जन उपलंभ या इन्द्रियग्रहण और समाचार या व्यवहार के कारण बाह्य अर्थों की कल्पना करते हैं। ऐसे साधारण जनों के लिये, जो अजातिवाद के नाम से सर्वदा भयभीत रहते हैं, बुद्ध महात्माओं ने, व्यवहार दशा में, जातिवाद का उपदेश दिया है। परन्तु पारमार्थिक दशा में जाति असंभव है। उपलम्भ और समाचार जातिवाद को सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ हैं क्योंकि वे स्वप्न के पदार्थों और मायानिर्मित

---

(१) आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा।—वहीं, २,६;४,३१
तुलनार्थ द्रष्टव्य माध्यमिक कारिका ११,२

(२) नास्त्यसद्धेतुकमसत् सदसद्धेतुकं तथा।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत् कुतः॥—वहीं ४, ४०
तुलनार्थ द्रष्टव्य माध्यमिककारिका १,७

(३) विज्ञानवादिनो बौद्धस्य वचनं बाह्यार्थवादिपक्ष—
प्रतिषेधपरमाचार्येणानुमोदितम्।—माण्डूक्यकारिकाभाष्य ४,२८

हाथी आदि वस्तुओं में भी पाये जाते हैं। मायाहस्ती का भी ग्रहण और व्यवहार होता है। इसी प्रकार जगत् की समस्त वस्तुओं का ग्रहण और व्यवहार होता है। अविद्या के कारण ही जगत् पदार्थों का अस्तित्व है। वास्तव में वे मिथ्या हैं। (१)

सर्वास्तिवादी हीनयानी बौद्ध जिन्हें बाह्यार्थवादी भी कहते हैं बाह्य जगत् के पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि विज्ञान बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखता है। विषयी और विषय अन्योन्यापेक्ष हैं। अन्यथा उनका भेद वृथा हो जायगा। बाह्य विषय के कारण ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है। पुनश्च, बाह्य विषय का उपलम्भ होता है और उससे व्यवहार या समाचार भी किया जाता है। विविध क्लेश और उपक्लेश भी बाह्य अर्थों के कारण ही सिद्ध होते हैं। बाह्य जगत् क्लेशमय है। गौड-पादाचार्य कहते हैं कि उपलम्भ, समाचार, संक्लेशोपलब्धि, तथा विषयी और विषय के अन्योन्यापेक्ष होने से सनिमित्त प्रज्ञप्ति का 'परतन्त्र' अर्थात् बाह्य विषयों पर आश्रित होना—इन कारणों से 'पर' अर्थात् हमसे भिन्न सर्वा-स्तिवादियों के 'तन्त्र' अर्थात् मत में 'अस्तिता' अर्थात् बाह्य पदार्थों का अस्तित्व स्वीकृत किया गया है। (२) विज्ञानवादी बौद्ध सर्वास्तिवाद के खण्डन में कहते हैं कि उपलंभ और समाचार तो स्वप्न दृष्ट पदार्थों और माया निर्मित हस्ती में भी पाये जाते हैं जहाँ बाह्य पदार्थों की सत्ता सर्वास्तिवादी को भी अपेक्षित नहीं है, अतः उपलम्भ और समाचार से बाह्य पदार्थो की सिद्धि नहीं हो सकती। संक्लेश की उपलब्धि भी बाह्य अर्थों के कारण नहीं

---

(१) उपलम्भात् समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम्।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा॥ का० ४,४२।
उपालम्भात् समाचारान् मायाहस्ती यथोच्यते।
उपलम्भात् समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते॥ का० ४, ४४।

(२) प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता॥ का० ४,२४

है। क्लेश और उपक्लेश मानसिक होते हैं। इनका कारण अविद्याजन्य अहंकार है, बाह्य पदार्थ नहीं। अब रही बात विज्ञप्ति के सनिमित्त होने की, सो हम भी विज्ञप्ति को निर्निमित्त नहीं मानते। किन्तु हमारे मत में विज्ञप्ति का निमित्त स्वयं विज्ञप्ति ही है। विज्ञप्ति स्वबीज से ही उत्पन्न होती है; विषयी और विषय को तो हम भी अन्योन्यापेक्ष मानते हैं। हम 'विषयत्व' का खण्डन नहीं करते। विषयी को विषय की प्रतीति 'विषयत्व' के रूप में ही होती है। ज्ञाता ज्ञेय को 'ज्ञेय' के रूप में ही जानता है। किन्तु हम यह मानते हैं कि विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, जीव और बाह्य जगत् का यह सारा खेल विज्ञप्ति के चक्र में ही हो रहा है। हम तथाकथित बाह्य अर्थों के 'विषयत्व' को विज्ञानबाह्य नहीं मानते। परस्परापेक्ष होने से विषयी और विषय दोनों मिथ्या हैं और केवल विज्ञप्तिमात्र ही, जिसकी सत्ता पर यह सब खेल हो रहे हैं, सत्य है।

गौडपादाचार्य इस विषय में विज्ञानवादियों से पूर्णतया सहमत हैं। बाह्य जगत् विज्ञान-बाह्य नहीं हो सकता। जीव और जगत् अन्योन्यापेक्ष होने से मिथ्या हैं। विशुद्ध विज्ञान ही तत्त्व है। स्वप्नावस्था और जागरितावस्था बराबर हैं। अपनी अपनी दशा में दोनों समान रूप से सत्य हैं और अपनी दशा से ऊपर की दशा में दोनों समानरूप से मिथ्या हैं। स्वप्न का पानी स्वप्न की प्यास और जगत् का पानी जाग्रत् की प्यास बुझाने में समर्थ हैं। किन्तु स्वप्न का पानी जाग्रत् की प्यास और जगत् का पानी आध्यात्मिक प्यास नहीं बुझा सकते। विज्ञानवाद के परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न को वेदान्त प्रतिभास, व्यवहार और परमार्थ कहता है। परिकल्पित या प्रतिभास और परतन्त्र या व्यवहार अपने अपने क्षेत्र में सत् और अपने से ऊँचे क्षेत्र में असत् हैं। परिनिष्पन्न या परमार्थ से ऊँचा अन्य कोई क्षेत्र नहीं, अतः यह नितान्त सत् है। वास्तव में यह विभाग भी व्यावहारिक है क्योंकि बुद्धिकृत है; तत्त्व केवल अद्वय परमार्थ है। विशुद्धविज्ञानस्वरूप स्वयंप्रकाश आत्मदेव वास्तव में अद्वय होते हुए भी अपनी ही मायाशक्ति से अपने आपकी नाना रूपों में कल्पना कर लेते हैं। ये आत्मदेव ही भेद के कल्पयिता और

ज्ञाता हैं। ये ही समस्त विषयों के विषयी हैं। प्रत्येक वस्तु, चाहे वह ज्ञात हो चाहे अज्ञात, साक्षिचैतन्य का विषय है। यह वेदान्त का निश्चय है। (१) अद्वय आत्मदेव का ज्ञान होते ही विषयी जीव (जिसमें विषयित्व या ज्ञातृत्व सत्य साक्षिचैतन्य का अंश है और जीवत्व मिथ्या माया शक्ति का) और जगत्-विषय का द्वैत रज्जुसर्प के समान विलीन हो जाता है। (२) आत्मदेव अपनी ही माया से अपने आप ही संमोहित से हो जाते हैं। (३) विज्ञानात्म तत्त्व ही विषयी और विषय, अस्मत् और युष्मत्, जीव और जगत् के रूप में प्रतीत होता है। न जीव सत् है न बाह्य जगत्। न जीवात्मा या चित्त की उत्पत्ति है न जगत्-पदार्थ या चित्तदृश्य की। जो लोग इनकी उत्पत्ति देखना चाहते हैं वे आकाश में पक्षियों के चरण-चिन्ह खोजना चाहते हैं। (४) वास्तव में चित्त निर्विषय है नित्य है, असंग है। यह अनिर्वचनीय है क्योंकि धाणी और बुद्धि इसे ग्रहण नहीं कर सकतीं। इसलिये इसे 'अज' कहना भी बुद्धि का कार्य है और बुद्धि की कल्पना होने से केवल व्यवहार दशा में सत्य है। परमार्थतः तो इसे 'अज' भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह अनिर्वचनीय है। इसका केवल विशुद्ध निर्विल्प ज्ञान द्वारा साक्षात्कार किया जाता है। (५)

शून्यवादी और विज्ञानवादी दोनों जगत् को मिथ्या मानते हैं। शून्यवादी उसे सदसदनिर्वचनीय होने से मिथ्या मानते हैं और विज्ञानवादी उसे

---

(१) कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥—का० २,१२

(२) वहीं, २।१७-१८

(३) मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम्—का० २,१६

(४) तस्मान् न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ।।४।२८

(५) अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः। का० ४,७४
तुलनार्थ द्रष्टव्य ऊपर पृ० ८६,८७,६३,१२७,१२८

विज्ञान-बाह्य न होने से मिथ्या मानते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से शून्यवादी के लिये जगत् और तत्व में कोई अन्तर नहीं, तथा विज्ञानवादी के लिये जगत् और विज्ञान में कोई अन्तर नहीं। दोनों ही कट्टर अद्वैती हैं। दोनों एक दूसरे के पोषक हैं। शून्यवादी इस पर जोर देते हैं कि समस्त बुद्धिजन्य प्रपञ्च माया या शून्य है; विज्ञानवादी इस पर ज़ोर देते हैं कि प्रपञ्चशून्य तत्त्व विज्ञान-मात्र है। गौडपादाचार्य दोनों से पूर्णतया सहमत हैं और दोनों की सराहना तथा अनुमोदन करते हैं। दोनों का गौडपादाचार्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

शंकराचार्य विज्ञानवाद का खण्डन करते हैं। वे स्वप्न और जाग्रत् को समान नहीं मानते। वे जगत् की व्यावहारिक सत्यता पर विशेष महत्व देते हैं। यहाँ शंकराचार्य का गौडपादाचार्य से भी कुछ भेद है और शंकराचार्य का मत प्रौढ़ और विकसित है—ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। परन्तु यह भेद वास्तविक नहीं है; यह भेद केवल दृष्टिकोण का भेद है। गौडपादाचार्य और विज्ञानवादी जगत् को विज्ञान-बाह्य न बताकर उसकी *पारमार्थिक असत्यता* पर विशेष आग्रह देते हैं; शंकराचार्य जगत् को सदसदनिर्वचनीय होने से मिथ्या बताकर उसकी *व्यावहारिक सत्यता* पर विशेष आग्रह देते हैं। वास्तव में पारमार्थिक मिथ्यात्व और व्यावहारिक सत्यत्व एक ही बात है। फिर भी जगत् के व्यावहारिक सत्यत्व का प्रतिपादन, व्यवहार दशा में, अधिक श्लाघ्य और सराहनीय है। यह शंकराचार्य की महत्ता है। शंकराचार्य जगत् को विज्ञान-बाह्य न मानकर भी उसके मिथ्यात्व का प्रतिपादन इसलिये करना रुचिकर नहीं समझते कि वह विज्ञान-बाह्य नहीं है। वे जगत् का मिथ्यात्व, शून्यवादी के समान, उसके सदसदनिर्वचनीयत्व द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं। यहाँ शंकराचार्य का विज्ञानवादी से कुछ मतभेद है किन्तु गौडपादाचार्य से नहीं क्योंकि आचार्य इस बात में शून्यवादी से भी पूर्ण सहमत हैं। गौडपादाचार्य कहते हैं कि जगत् अचिन्त्य या अनिर्वचनीय है क्योंकि न सत् है, न असत्, न दोनों और न दोनों से भिन्न। अतः मिथ्या है। अलातचक्र का भ्रम अलात के घूमने से होता है; जगत् का भ्रम अविद्या के उपप्लव से होता है। अलात के स्थिर होने पर चक्र की

भ्रान्ति नहीं होती ; अविद्या विलीन होकर स्थिर विद्या की प्राप्ति होते ही जगत् का समस्त द्वैत विलीन हो जाता है। जगत्-प्रपञ्च अलातचक्र के समान सदसदनिर्वचनीय होने से मिथ्या है। (१)

अब हम गौडपादाचार्य के मौलिक सिद्धान्त वैशारद्य, अस्पर्शयोग या अमनीभाव का विवेचन करते हैं। इस सिद्धान्त का वर्णन भी हमें महायान में मिलता है। आर्यदेव की उक्ति है—"नह्यस्पर्शवतो नाम योगः स्पर्शवता सह।" (चतुःशतक, ३२१) अर्थात् बुद्धिगाह्य समस्त पदार्थ अविद्यादुष्ट होने के कारण 'स्पर्शवान्' हैं ; तत्त्व प्रपञ्चोपशम और शिव होने के कारण 'अस्पर्शवान्' है; अतः अस्पर्शवान् का स्पर्शवान् के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। महायानसूत्र जैसे दशभूमिक, प्रज्ञापारमिता और समाधिराज, तथा विज्ञानवाद, सविकल्प बुद्धि को निर्विकल्प ज्ञान में, मन को अमनीभाव में परिणत करने के साधनों का विशद उल्लेख करते हैं। इन सबका बीज उपनिषद् में है। गौडपादाचार्य ने इस उपनिषद् दर्शित बीज का अपने अस्पर्शयोग या अमनीभाव में मौलिक विकास किया है।

बृहदारण्यक, छान्दोग्य और माण्डूक्य को अपने सिद्धान्त की आधारभूमि बनाकर गौडपादाचार्य उस पर अस्पर्शयोग का प्रासाद खड़ा करते हैं। आत्मदेव प्रभु, अमात्र, तुरीय, अद्वैत, ईशान, ब्रह्म आदि नामों से निर्दिष्ट हैं। ये बुद्धि द्वारा अनिर्वचनीय हैं। निर्विकल्पविशुद्धज्ञान या अस्पर्शयोग या वैशारद्य या अमनीभाव से इनका साक्षात्कार होता है। एक आत्मतत्त्व ही व्यष्टि में तुरीय और समष्टि में अमात्र हैं। तुरीय स्वयं को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रूप में प्रकट करता है और अमात्र स्वयं को विश्व, तैजस और प्राज्ञ रूप में व्यक्त करता है। प्रणव या ओंकार इनका संकेत है। वास्तव में संकेत और संकेतित में कोई अन्तर नहीं। प्रणव ही अभय ब्रह्म है। यही कारण और कार्य, सगुण और निर्गुण, अपर और पर सभी है। बहिष्प्रज्ञ होने पर यह विश्व कहलाता है ; अन्तःप्रज्ञ होने पर तैजस ;

---

(१) वहीं, ४।४७–५२

और घनप्रज्ञ होने पर प्राज्ञ। इनका बीज क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म, और आनन्द है। जाग्रत् और विश्व, स्वप्न और तैजस कारण-कार्य रूप हैं। सुषुप्ति और प्राज्ञ केवल कारणरूप हैं। तुरीय और अमात्र न कारण हैं न कार्य। यद्यपि प्राज्ञ और अमात्र दोनों में द्वैताभाव है, तथापि प्राज्ञ में सुषुप्तिरूप में अविद्या बीजरूप से वर्तमान रहती है और अमात्र में अविद्या का लेश भी नहीं रह सकता। विश्व में और तैजस में, स्वप्न या अन्यथाग्रहण या विक्षेप रहता है और निद्रा या अग्रहण या लय भी रहता है। प्राज्ञ में केवल निद्रा या लय है। तुरीय या अमात्र में न स्वप्न है न निद्रा, न विक्षेप है न लय, न अन्यथा ग्रहण है न अग्रहण। अनादि मायाशक्ति के कारण चिरप्रसुप्त जीवात्मा जब विशुद्धज्ञान द्वारा जगाया जाता है तब उसे अज, अनिद्र, अस्वप्न, अद्वैत आत्मदेव का साक्षात्कार होता है। (१) द्वैत और प्रपञ्च को लात मार कर अनन्त और अखण्ड आनन्दरूप प्रणवब्रह्म का आलिंगन करनेवाला व्यक्ति ही मुनि कहाने का पात्र है। राग, भय और क्रोध से अस्पृष्ट, वेदतत्वदर्शी, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त मुनिगण ही इस निर्विकल्प प्रपञ्चशून्य अद्वय आत्मतत्व का साक्षात्कार कर सकते हैं। (२)

आत्मतत्व आकाशवत् है; जीवात्मा घटाकाशवत् है। जब घट की उपाधि टूट जाती है, तब घटाकाश महाकाशस्वरूप दीख जाता है; इसी प्रकार अविद्या के विद्या द्वारा नष्ट हो जाने पर भिन्न भिन्न और अवछिन्न जीवात्मा आत्मतत्त्वस्परूप दीख जाते हैं। यदि एक घट का आकाश मलिन हो तो अन्य घटों के आकाश मलिन नहीं होते, इसी प्रकार एक जीव के दुःखी या सुखी होने पर अन्य जीव दुःखी और सुखी नहीं होते। जिस प्रकार घटाकाशों में नामरूप भेद है, उसी प्रकार जीवों में भी नामरूप भेद है।

---

(१) अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥ का० १, १६।

(२) वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः। निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥ का० २, ३५।

जिस प्रकार घटाकाश महाकाश का न तो भेद है, न परिणाम है और न अंश है, उसी प्रकार जीव आत्मतत्त्व का न तो भेद है, न परिणाम है और न अंश है। जिस प्रकार घटाकाश सदैव महाकाशरूप था, है और रहेगा, उसी प्रकार समस्त जीव सदैव आत्मतत्त्व रूप थे, हैं और रहेंगे। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ; विश्व, तैजस और प्राज्ञ; आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ;—सब में एक आत्मदेव का ही प्रकाश है। (१)

जिस प्रकार महायानियों के अनुसार भगवान् बुद्ध ने अपने उपायकौशल्य के कारण अपने शिष्यों की शक्ति के अनुसार उन्हें भिन्न भिन्न उपदेश दिए-श्रावकों और प्रत्येकबुद्धों को शुभकर्म. उपासना और चित्तशुद्धि का उपदेश दिया तथा महायानी बोधसत्त्वों को विशुद्ध ज्ञान का उपदेश दिया, उसी प्रकार गौडपादाचार्य के अनुसार दयालु भगवान् वेद ने हीन और मध्यम दृष्टि के पुरुषों के लिए कर्म और उपासना का उपदेश दिया है तथा उत्कृष्ट दृष्टि के पुरुषों के लिये ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया है। (२) अद्वैत में भय, राग, मोह और ईर्ष्या कहाँ ? अद्वैत में न भाषा है, न वाणी है और न बुद्धि ही वहाँ तक पहुँच सकती है। द्वैतवादी लोग ही अपने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करने के लिये आपस में लड़ते हैं और एक दूसरे का विरोध करते हैं; अद्वैती किसी का विरोध नहीं करता। (३) द्वैतवादियों के लिए द्वैत वास्तविक है इसलिये वे एक दूसरे से लड़ते हैं ; अद्वैतवादी के लिये द्वैत काल्पनिक है इसलिये वह किसी से नहीं लड़ता। द्वैतवादियों के लिये व्यवहार और परमार्थ दोनों दशाओं में द्वैत है; अद्वैतवादी के लिये व्यवहार में द्वैत और परमार्थ में अद्वैत है। अतः अद्वैत का किसी से विरोध नहीं

---

(१) वही, ३।३-१२

(२) आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥—का ३, १६

(३) स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ॥—का ३, १७,

है। "नेति नेति" यह सिद्ध करके कि तत्त्व बुद्धिग्राह्य नहीं, अद्वैत और अज आत्म तत्त्व का अग्राह्यभाव से प्रतिपादन करता है। द्वैत अविद्याकृत है। जब अहंकार नष्ट हो जाता है, जब अविद्या का पर्दा हट जाता है, जब मन का अमनीभाव हो जाता है, जब बुद्धि की समस्त कोटियाँ और धारणायें शान्त हो जाती हैं, जब जगत्-प्रपञ्च विलीन हो जाता है, जब सविकल्प और सापेक्ष बुद्धि निर्विकल्प निरपेक्ष और स्वतःसिद्ध विशुद्ध स्वयंप्रकाश विज्ञानात्मतत्त्व में परिणत हो जाती है, तब द्वैत कहां रह सकता है? यह स्थिति ही सम्पूर्ण विकल्प, चिन्ता और प्रपञ्च से रहित, प्रशान्त स्वयंज्योति अचल और अभय समाधि है जिसे अस्पर्शयोग कहते हैं। बड़े बड़े योगी भी यहाँ थर्रा उठते हैं क्योंकि वे अभयस्थल में भी भय की आशंका से काँप जाते हैं। (१) किन्तु जब अविद्या की आवरण और विक्षेप दोनों शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, जब चित्त न निद्रा में रहता है और न स्वप्न में, जब समस्त विकल्प, प्रतिभास और व्यवहार शान्त हो जाते हैं, तब चित्त परिनिष्पन्न परमार्थ ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। (२) तब एक अनिर्वचनीय सुखदुःखद्वन्द्वातीत परमानन्द की प्राप्ति होती है जिसे निर्वाण कहते हैं। यह साम्य, अज और अद्वयनिर्वाण सम्यक् सम्बुद्ध महात्माओं की स्वानुभूति का विषय है। (३) अविद्याग्रस्त प्राणी केवल बुद्धिजन्य कोटिचतुष्टय के आवरण को देखता है। बुद्धि सदा सत्, असत्, सदसत् और सदसद्भिन्न इन चार कोटियों में लिप्त रहती है। अस्ति, नास्ति,

---

(१) सर्वाभिलापविगतःसर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तःसकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः॥
अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दशःसर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥—का ३।३७,३९

(२) यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥—का ३,४६।

(३) स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्।
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम्॥—का ३, ४७ और ४,८०

उभय, और नोभय; चल, स्थिर, उभय, और नोभय आदि कोटिचतुष्टय से रहित आत्मतत्त्व स्वानुभूति का विषय है। भगवान् आत्मदेव सर्वदा और सर्वथा इन चार कोटियों से अस्पृष्ट हैं। बुद्धि की धारणायें और विकल्प चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व का स्पर्श भी नहीं कर सकते। जो निर्विकल्प विशुद्ध ज्ञान द्वारा आत्मदेव का साक्षात्कार करता है वह स्वयं सर्वज्ञ ब्रह्म हो जाता है। (१) ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी के परे लोकोत्तर विशुद्ध ज्ञान जगमगा रहा है। समस्त धर्म अर्थात् बुद्धिग्राह्य पदार्थ—जीव भी और बाह्य जगत् भी—स्वभाव से अत्यन्त निर्वृत, आदि शान्त, अनुत्पन्न, आदि विशुद्ध हैं और अज, साम्य तथा विशारद आत्मतत्त्व से नितान्त अभिन्न हैं। संसार और निर्वाण में सुसूक्ष्म अन्तर भी नहीं है। जो संसार है वही निर्वाण है। जो बन्ध है वही मोक्ष है। जो जगत् है वही तत्त्व है। ऐसा क्यों है? क्योंकि अद्वय तत्त्व ही तो अपनी अविद्याशक्ति के कारण जीव और जगत् रूप में प्रतिभासित होता है। पारमार्थिक दृष्टि से अद्वैत ही तत्त्व है। (२) भेद और द्वैत में लिप्त रहने वाले कृपण और दीन पुरुष कभी वैशारद्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। भेद के कारण ही वे तत्त्व से भ्रष्ट हो जाते हैं, आत्मपद से च्युत हो जाते हैं। (३) दुर्दर्श, अतिगंभीर, अज, साम्य और विशारद अद्वय आत्मतत्त्व की हम यथाशक्ति वन्दना करते हैं। (४)

---

(१) कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥—का ४,८४

(२) आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः।
सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम्॥—का ४,९३
तुलनार्थ द्रष्टव्य, रत्नमेघसूत्र, माध्यमिकवृत्ति पृ०२२५ पर उदधृत

(३) वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा।
भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्मात् ते कृपणाः स्मृताः॥—का ४,९४

(४) वहीं ४, १००

हम ऊपर स्पष्ट बतला चुके हैं कि गौडपादाचार्य का शून्यवाद और विज्ञानवाद से किस प्रकार मतैक्य है। हम आचार्य गौडपाद के दर्शन को आचार्य नागार्जुन और वसुबन्धु के दर्शनों का एक सुन्दर और सर्वोत्कृष्ट समन्वय कह सकते हैं। गौडपादाचार्य भगवान् बुद्ध को श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते हैं। वे कहते हैं—जो समस्त धर्मों को अर्थात् बुद्धिग्राह्य जीव और जगत् रूपी पदार्थों को स्वभावशून्य बतलाते हैं, जो ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी को विशुद्ध विज्ञान पर आश्रित बतलाते हैं, जो विषयी जीव और बाह्य जगत्-विषय को अन्योन्यापेक्ष होने से गगनोपम और मिथ्या कह कर विज्ञानान्तर्गत बतलाते हैं, जो केवल निर्विकल्प शुद्ध ज्ञान की सत्ता स्वीकार करके यह मानते हैं कि यह ज्ञान ही ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में प्रतिभासित होता है क्योंकि साक्षिचैतन्य रूप से यह ज्ञान ही ज्ञाता कहलाता है और पर-ब्रह्मरूप से यह ज्ञान ही ज्ञेय कहलाता है, जो विशुद्ध विज्ञानरूप अनिर्वचनीय अद्वय आत्मतत्त्व का सम्यक् सम्बोधि द्वारा साक्षात्कार करते हैं—ऐसे सम्बुद्ध पुरुषश्रेष्ठ की हम बन्दना करते हैं। (१) शंकराचार्य अपने भाष्य में कहते हैं कि ये पुरुषश्रेष्ठ अद्वैतदर्शन सम्प्रदाय के आदि आचार्य पुरुषोत्तम नारायण हैं। (२) गौडपादाचार्य का अद्वैतसम्प्रदाय के आदि आचार्य को नमस्कार करना उचित ही है। किन्तु इस कारिका (४, १) की भाषा और भाव से निःसन्देह भगवान् बुद्ध के प्रति भी नमस्कार की ध्वनि प्रकट होती है।

गौडपादाचार्य अपनी कारिकाओं में अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्दों का, जो महायान दर्शन के ग्रन्थों में अधिकतर प्रयुक्त हुये हैं, बहुधा प्रयोग करते

---

(१) ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्॥ का० ४, १

(२) अद्वैत दर्शनसम्प्रदायकर्तुः नमस्कारार्थः श्लोकः।
नारायणाख्यस्तं पुरुषोत्तमम्। का० भा० ४, उपोद्घात

हैं। (१) आचार्य की भाषा भी अनेक स्थलों पर आचार्य नागार्जुन की माध्यमिककारिका की भाषा से साम्य रखती है। आचार्य के भाव भी अनेक स्थलों पर शून्यवादी और विज्ञानवादी आचार्यों के भावों से मिलते हैं। आचार्य स्पष्ट रूप से शून्यवाद और विज्ञानवाद का यत्र तत्र अनुमोदन करते हैं। स्वयं शंकराचार्य को भी—जो बौद्धों को प्रकट रूप से अत्यन्तहीन समझते थे—स्वीकार करना पड़ा है कि बाह्यार्थवाद के खण्डनार्थ प्रयुक्त विज्ञानवादी बौद्ध के वचनों का आचार्य गौडपाद अनुमोदन करते हैं। (२) अतः यह कथन कि गौडपादाचार्य पर महायान का कोई प्रभाव नहीं पड़ा दुःसाहस मात्र है। साथ ही साथ यह कथन भी कि गौडपादाचार्य प्रच्छन्नबौद्ध थे उतना ही दुःसाहस है। जो प्रकटरूप से महायान बौद्ध मत का यत्र तत्र अनुमोदन करता है, वह प्रच्छन्न बौद्ध कैसे? जो तार स्वर से सिंहनाद करता है कि अपने आपको बौद्ध कहनेवाले महायानी और स्वयं भगवान् बुद्ध उपनिषद् के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे हैं और इसलिये प्रच्छन्न नहीं प्रकट-वेदान्ती हैं, उसे प्रच्छन्न बौद्ध कहना किसी महासाहसिक का ही कार्य हो सकता है। शब्द और भाषा किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं हैं। उन पर सबका समान अधिकार है। संस्कृत भाषा के दार्शनिक शब्दों का प्रत्येक दार्शनिक, प्रचलित मुद्राओं के समान, स्वच्छन्द व्यवहार कर सकता है। गौडपादाचार्य यदि उन शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका प्रयोग महायान के आचार्यों ने भी किया था तो यह कोई अपराध नहीं है। ऐसा करने से ही वे प्रच्छन्नबौद्ध नहीं कहलाये जा सकते। एक ही भाषा में, संस्कृत भाषा में, और दार्शनिक भाषा में, और फिर उस दर्शन के प्रतिपादन में जिसका विकास महायानी और गौडपाद दोनों कर रहे

---

(१) उदाहरणार्थ, धर्म, जरा-मरण, द्विपदांवर, बुद्ध, सम्बुद्ध, नायक, प्रज्ञप्ति, संक्लेश, निर्वाण, परतन्त्र, चित्त, अलातिशान्ति, अद्वय, संवृति, परमार्थ आदि।

(२) देखिये ऊपर पृ० १४८

हैं, शब्दों और अर्थों का, भाषा और भावों का साम्य स्वाभाविक है। गौडपादाचार्य स्पष्ट कहते हैं कि उनका और महायानी आचार्यों का दर्शन भगवती श्रुति पर आधारित है, कि उनका दर्शन उपनिषद् पर नितान्त निर्भर है और उपनिषद का सार है, वेदान्त का निश्चय है, कि स्वयं बुद्धदेव ने इस दर्शन को उपनिषद् से लिया है तथा इसका प्रतिपादन मौन द्वारा किया है, भाषण द्वारा नहीं, और उपनिषत् सिद्धान्त होने से इसे बुद्ध का मौलिक मत नहीं माना जा सकता। (१)

---

(१) नैतद् बुद्धेन भाषितम्। का० ४, ६६

षष्ठ अध्याय

शङ्कराचार्य का अद्वैत वेदान्त

भगवान् श्री शंकराचार्य का दर्शन अपने प्रतिपाद्य ब्रह्म के समान पूर्वापरकोटिवर्ज्य और पूर्ण है। इसीलिये आचार्य को भगवान् शंकर का अवतार माना जाता है। विश्व के दार्शनिकों में शंकराचार्य का स्थान सर्वोच्च है। प्रसिद्ध उक्ति है कि महाशक्तिशाली वेदान्तकेसरी के सिंहनाद को सुन कर अन्य दर्शन जम्बुकों के समान वन में छिप जाते हैं। (१)

शंकराचार्य के मतानुसार तत्त्व आत्मा या ब्रह्म है जो स्वरूप-ज्ञान या ज्ञान-स्वरूप है। यह पर, निर्विकल्प, निर्विशेष और निर्गुण है। अपनी माया या अविद्या (मूलाविद्या) शक्ति से समन्वित होते ही यह ब्रह्म अपर, सविकल्प, सविशेष और सगुण बन जाता है। इसे ही ईश्वर कहते हैं। यही विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। यही विषयी जीव और जगत्-विषय रूप में प्रतीत होता है।

जीवात्मा विषयी और विषय की ग्रन्थि है, ब्रह्म और अविद्या का मिश्रण है। जीव का चैतन्य, ब्रह्म का है और जीव का जीवत्व, अविद्या का है। जीव का द्रष्टृत्व या विषयित्व, साक्षिचैतन्य रूप आत्मतत्त्व या ब्रह्म का है और जीव का विषयत्व अविद्याजन्य अन्तःकरण के कारण है। जीव के समान ईश्वर भी ब्रह्म और अविद्या का मिश्रण है। किन्तु उनमें अन्तर यह है कि जीव अविद्या के वश में है और ईश्वर अविद्या को अपने वश में रखता है;

---

(१) तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्तकेसरी॥

जीव में कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों हैं, ईश्वर में केवल कर्तृत्व है। ईश्वर स्वयं जीव और जगत् के रूप में प्रतीत होता है। अन्तःकरण विषयी और विषय को जोड़नेवाली शृंखला है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण उस 'अर्थ' का स्वरूप बन जाता है। इसे 'वृत्ति' कहते हैं। जब इस वृत्ति पर साक्षिचैतन्य का प्रकाश पड़ता है तब विज्ञान उत्पन्न होता है। जागरितावस्था में अन्तःकरण को इन्द्रियों से सहायता मिलती है; स्वप्नावस्था में अन्तःकरण अकेला काम करता है; सुषुप्ति में अन्तःकरण अपने कारण अविद्या में विलीन हो जाता है। सुषुप्ति में अन्तःकरण के अभाव में भी जीवत्व बना रहता है क्योंकि साक्षी अविद्या द्वारा आलिंगित रहता है, क्योंकि अन्तःकरण के कारण (अविद्या) का नाश नहीं होता। मोक्ष में विद्या द्वारा अविद्या नष्ट हो जाती है और केवल साक्षिचैतन्य जो स्वयं आत्मतत्त्व या ब्रह्मस्वरूप है अपनी नित्य ज्योति में चमकता रहता है।

माया या अविद्या अत्यन्त असत् या निरी भ्रान्ति नहीं है। यह केवल अग्रहण या अज्ञान भी नहीं है। यह भावात्मक और शक्तिरूप अन्यथा-ग्रहण भी है। यह सत् और असत् का मिश्रण है; सत्य और अनृत का मिथुन है। इसीलिये यह सदसदनिर्वचनीय या तत्त्वान्यत्वानिर्वचनीय कही जाती है, सर्वथा अवाच्य नहीं। माया 'सत्' नहीं हो सकती क्योंकि 'सत्' का अर्थ है त्रिकालाबाध सत्ता और केवल ब्रह्म या आत्मतत्त्व ही ऐसी सत्ता है। माया 'असत्' भी नहीं हो सकती क्योंकि 'असत्' का अर्थ है अत्यन्ताभाव जिसमें वन्ध्यापुत्र, शशशृंग, खपुष्प आदि की गणना है। अत्यन्त असत् को 'तुच्छ' भी कहते हैं। माया या अविद्या 'सत्' नहीं है क्योंकि ज्ञान से इसका बाध हो जाता है; और यह 'असत्' भी नहीं है क्योंकि व्यवहार में इसकी प्रतीति और उपलब्धि होती है। अतः सदसदनिर्वचनीय होने के कारण यह 'मिथ्या' कही जाती है। यह 'रज्जुसर्प' के समान है। 'शुक्ति-रजतवत्' है। इसीलिये इसे 'अध्यास' भी कहते हैं। यह माया 'वास्तव में जो वह नहीं है' उसमें (अतस्मिन्) 'वह है' ऐसी बुद्धि (तद्बुद्धिः) है। शुक्ति को रजत और रज्जु को सर्प मान बैठना अध्यास है क्योंकि शुक्ति

या रज्जु रूपी अधिष्ठान में अज्ञान से रजत या सर्प का आरोप किया जाता है। यह भ्रान्ति है, अज्ञान है, और ज्ञान से या प्रमा से दूर हो जाता है। शुक्ति और रजत, रज्जु और सर्प में न भेद है न अभेद; इनका तादात्म्य के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध निश्चित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार ब्रह्म या आत्मा रूपी अधिष्ठान में अविद्या से जीवजगदादि प्रपञ्चजाल का अध्यास होता हैं जो विद्या से दूर हो जाता है। ब्रह्म और प्रपञ्च का तादात्म्य के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं।

शंकराचार्य माया के पारमार्थिक मिथ्यात्व की अपेक्षा उसके व्यावहारिक सत्यत्व पर विशेष आग्रह प्रकट करते हैं और यह उनकी महत्ता और महनी-यता का द्योतक है। वे स्वप्न और जाग्रत् को समान नहीं मानते। स्वप्न और जाग्रत् में उतना ही अन्तर है जितना जाग्रत् और सम्यक् सम्बोधि में। अपने अपने स्थान में सब सत्य हैं। तत्व-प्रतिबोध के पूर्व जगत् के लौकिक और वैदिक सब कार्य सत्य हैं। स्वप्न जीवसृष्ट और व्यक्तिगत हैं; जगत् ईश्वर-सृष्ट और समष्टिगत है। जीव अविद्या के वशीभूत है और भेद को सत्य मान लेता है तथा स्वयं को कर्ता और भोक्ता समझता है; जीव पर अविद्या की आवरण और विक्षेप दोनों शक्तियों का आधिपत्य है। अविद्या जीव और ब्रह्म कीं एकता को आवृत किये रहती है तथा नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि भी करती हैं। ईश्वर माया के वश में नहीं है। ईश्वर पर माया का कोई आवरण नहीं है। ईश्वर माया की विक्षेप शक्ति से काम लेते हैं और प्रपञ्च की सृष्टि करते हैं। मायायुक्त ब्रह्म ही ईश्वर है। वास्तव में पर ब्रह्म ही माया या अविद्या का आश्रय और विषय दोनों है। जब ज्ञान द्वारा—केवल ज्ञान द्वारा ही—जीव आत्मैक्यस्वरूप अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है तो वह यहीं और अभी, अत्रैव और अधुनैव, मुक्त हो जाता है। इसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। शरीरत्याग के बाद विदेहमुक्ति होती है। ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। कर्म और उपासना सत्त्वशुद्धि के साधन और ज्ञानप्राप्ति में सहायक हैं।

उपर्युक्त वर्णन शंकराचार्य के दर्शन का सार है। बौद्धमत का शांकर दर्शन पर पर्याप्त प्रभाव है। शांकर वेदान्त में महायान के महत्वपूर्ण मुख्य

तत्व पूर्णतया सुरक्षित हैं। महायान सम्प्रदाय के अन्तर्गत मतत्रयी के आचार्यों ने तथा अद्वैत सम्प्रदाय के प्रथम विदित आचार्य गौडपाद ने भगवती श्रुति के जिन मुख्य सिद्धान्तों का अपने दर्शन में प्रतिपादन, पुष्टि और विकास किया था, वे सब सिद्धान्त शंकराचार्य के दर्शन में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचे हैं। गौडपादाचार्य की कारिका में प्रायः प्रचलित बौद्ध दार्शनिक शब्द प्रचुरतया उपलब्ध होते हैं। शंकराचार्य की कृतियों में भी; अधिकतर उपनिषद्-भाष्यों में; ऐसे बहुत से शब्द प्राप्त होते हैं। आचार्य गौडपाद बौद्ध दर्शन को स्नेह, श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते हैं; भगवान् बुद्ध के लिये वे बहुधा आदर-सूचक बहुवचन का प्रयोग करते हैं। किन्तु आचार्य शंकर बुद्ध और बौद्धों के लिये घृणास्पद एवं अनादर सूचक कटु और कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं। बुद्ध और बौद्धों के नाम से ही उन्हें चिढ़ है। ऐसा क्यों है? इसे हम इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में बतलायेंगे। यह जानना अत्यन्त आवश्यक और रोचक है कि आचार्य शंकर वास्तव में महायान के सुप्रसिद्ध शून्यवाद और विज्ञानवाद का खण्डन नहीं करते। बौद्धमत के विषय में आचार्य का कथन है कि बौद्धों के तीन प्रसिद्ध मत हैं—सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद। सर्वास्तिवाद हीनयान का प्रमुख मत है और इसमें वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों मतों का समावेश है। हीनयान के इस प्रमुख मत की स्वयं महायान के आचार्यों ने भी बड़ी कठोर आलोचना की है और इसकी बुरी तरह धज्जियाँ उड़ाई हैं। आचार्य शंकर का सर्वास्तिवाद का खण्डन असाधारण या नवीन नहीं है। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा आचार्य ने इस मत को पूर्वपक्ष में ठीक ठीक बतलाया है और उनका इस मत का खण्डन युक्तियुक्त एवं मान्य है। किन्तु यह हीनयान का खण्डन है, महायान का नहीं; और स्वयं महायानी भी इसका पर्याप्त खण्डन कर चुके हैं। अतः यह कोई नयी बात नहीं है। शून्यवाद को शंकराचार्य साफ़ टाल देते हैं। शून्य का अर्थ वे प्रचलित अत्यन्ताभाव लेते हैं और शून्यवाद को "सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध" कहकर उसे खण्डन के अयोग्य बतलाकर सफ़ाई से टाल देते हैं। और असली विज्ञानवाद का तो शंकराचार्य उल्लेख

तक नहीं करते। "विज्ञानवाद" के नाम से जिस मत का आचार्य ने उल्लेख और खण्डन किया है वह वास्तविक विज्ञानवाद नहीं है, वह आचार्य असंग और वसुबन्धु का विज्ञानवाद नहीं है, वह तो स्वतन्त्रविज्ञानवाद है, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित का स्वतन्त्रविज्ञानवाद है। इस मत में भी अधिकांशरूप से आचार्य ने क्षणिकवाद का खण्डन किया है, विज्ञान के क्षणिकत्व का खण्डन किया है। आचार्य असंग और वसुबन्धु के सिद्धान्तों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इनका प्रासंगिक वर्णन भी नहीं मिलता। इनका कोई वाक्य उद्धृत नहीं किया गया। किन्तु "विज्ञानवाद" के नाम से हमें स्वतन्त्र-विज्ञानवाद के सिद्धान्तों का ठीक ठीक वर्णन मिलता है। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की कारिकायें उद्धृत की गई हैं। शान्तरक्षित के आक्षेपों का उत्तर दिया गया है। हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि कुछ स्वतन्त्रविज्ञान-वादी शंकराचार्य के निकटपूर्व के थे और कुछ उनके समकालीन। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि स्वतन्त्रविज्ञानवादी अपने आपको "विज्ञानवादी" और आचार्य असंग और वसुबन्धु और दिङ्नाग के शिष्य कहते थे। दिङ्नाग तो वसुबन्धु के साक्षात् शिष्य थे ही और वे ही स्वतन्त्र-विज्ञानवाद के जन्म-दाता थे। शान्तरक्षित भी अपने आपको वसुबन्धु और दिङ्नाग के चरणचिह्नों पर चलनेवाले कहते हैं। इन सब कारणों से शायद शंकराचार्य स्वतन्त्र-विज्ञानवाद को ही असली विज्ञानवाद समझ बैठे। या आचार्य को असंग और वसुबन्धु की कृतियाँ न मिल सकीं और या फिर उन्हें स्वतन्त्रविज्ञानवाद को "विज्ञानवाद" कह कर असली विज्ञानवाद को शून्यवाद की तरह टाल देने का अच्छा बहाना मिल गया। यहाँ यह कथन भी आवश्यक है कि उन सिद्धान्तों के निराकरण में जिनमें स्वतन्त्रविज्ञानवाद और विज्ञानवाद का मतैक्य है और जिनको स्वन्त्रविज्ञानवाद ने विज्ञानवाद से लिया है, शंकराचार्य का खण्डन विज्ञानवाद पर भी लागू होता है। परन्तु यहाँ इस खण्डन में कोई महत्व नहीं रहता क्योंकि वास्तव में यह खण्डन नहीं कहा जा सकता; यह केवल दृष्टिकोण और आग्रह का भेद है। शंकराचार्य का दृष्टिकोण यहाँ पर विज्ञानवादियों के और गौडपादाचार्य के दृष्टिकोण से कुछ भिन्न है। किन्तु

भेद है केवल दृष्टिकोण का ही, सिद्धान्त का नहीं। यह निःसन्देह सत्य है कि शंकराचार्य इस दृष्टिकोण में विज्ञानवादी आचार्यों और गौडपादाचार्य से आगे बढ़ गये हैं। हम इन सब बातों का स्पष्टीकरण इसी अध्याय में तत् तत् स्थल पर करते रहेंगे।

हम अब शंकराचार्य द्वारा किये गये अन्य दार्शनिक मतों के खण्डन का विवेचन करते हैं।

सांख्य के प्रकृतिपरिणामवाद का खण्डन :—

हम स्वतन्त्रविज्ञानवादिकृत सांख्यखण्डन का ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।(१) शंकराचार्य, स्वतन्त्रविज्ञानवादी के विरुद्ध, सांख्य से सहमत हैं कि विश्वरूपता का कारण नित्य, अपरिच्छन्न और एकरूप चैतन्य हो सकता है। शंकराचार्य जड प्रकृति को ऐसा कारण मानने के विरुद्ध हैं। उनके मत में चेतन ब्रह्म ही ऐसा कारण होने में समर्थ है। अनित्य नित्य की, परिच्छन्न अपरिच्छन्न की, नाना एक की, और कार्य और कारण की अपेक्षा रखता ही है। किन्तु अचेतन प्रकृति कारण बनने में नितान्त असमर्थ है। (२) ईंट, पत्थर और चूना स्वयं मिलकर मकान नहीं बना सकते। वे भी चेतन कारीगर की अपेक्षा रखते हैं। आन्तरिक और बाह्य जगत् के वैचित्र्य की, उसके सौन्दर्य की, उसकी सुघड़ बनावट की, उसके वैश्वरूप्य की रचना जड़ प्रकृति नहीं कर सकती। और आदि प्रवृत्ति अर्थात् त्रिगुण की साम्यावस्थान-प्रच्युति भी अचेतन प्रधान द्वारा संभव नहीं है। मृत्तिका अपने आप ही, बिना कुलाल-प्रयत्न के, घर नहीं बन सकती। अश्वादि के बिना रथादि नहीं चल सकते। सांख्य को भी आदि प्रवृत्ति के लिये पुरुषसान्निध्य अपेक्षित है। केवल प्रधान अपनी साम्यावस्था की प्रच्युति नहीं कर सकती। प्रकृतिपरिणाम का कारण पुरुषसान्निध्य है। किन्तु जब सांख्य अपनी प्रकृति को अनपेक्ष नहीं रख सकता और प्रकृति परिणाम के लिये पुरुषसन्निधिमात्र को कारण मानने

---

(१) ऊपर पृ० ११४

(२) शारीरकभाष्य २।२।१; छान्दोग्यभाष्य ६।२।३—४

के लिये बाध्य होता है, तो वह स्पष्ट रूप से चेतन ब्रह्म को ही कारण क्यों नहीं मान लेता ? सांख्य का यह कथन भी कि जिस प्रकार वत्सविवृद्धिनिमित्त अचेतन क्षीर की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार पुरुषार्थसिद्धि के निमित्त अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति होती है, मिथ्या है क्योंकि क्षीर की प्रवृत्ति चेतन धेनु, चेतन वत्स और धेनु की स्नेहेच्छा के कारण होती है, अतः चेतनापेक्षत्व सिद्ध है। पुनश्च, प्रधान को स्वतन्त्र मानने से पुरुष के साथ उसका कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। पुरुष उदासीन है, वह प्रकृति का न तो प्रवर्तक है और न निवर्तक। अतः प्रकृति कभी परिणमित हो और कभी न हो। और यदि प्रकृति में ही प्रवृत्ति भी मान ली जाय तो भी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि यह प्रवृत्ति पुरुषार्थसिद्धि के लिये होती है। प्रधान स्वयं अचेतन है अतः उसका कोई औत्सुक्य नहीं, कोई अर्थ साध्य नहीं। पुरुष स्वयं उदासीन और निष्कल एवं निर्मल है अतः उसका भी कोई अर्थ साध्य नहीं। फिर पुरुषार्थ-सिद्धि के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति कैसी ? इस दोष से बचने के लिये सांख्य कहता है कि पंग्वन्धन्याय द्वारा प्रकृति पुरुष मिलकर पुरुषार्थ सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं। जिस प्रकार पंगु अन्ध के कन्धे पर बैठकर उसे मार्ग दिखाता रहे तो दोनों ही अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकते हैं; अकेला पंगु चलने में असमर्थ है, अकेला अन्ध मार्ग नहीं देख सकता, इसी प्रकार पुरुष पंगु और प्रकृति अन्ध है, किन्तु दोनों मिलकर पुरुषार्थ प्राप्त कर सकते हैं। पुरुष निष्क्रिय और प्रकृति जड है, किन्तु पुरुष के बताये हुये मार्ग से प्रकृति पुरुष को पुरुषार्थ तक पहुँचा सकती है। जिस प्रकार चुम्बक लोह को खींच लेता है उसी प्रकार पुरुष प्रकृति को खींचकर उसे पुरुषार्थ सिद्धि में प्रवृत्त करता है। शंकराचार्य इसके खण्डन में कहते हैं कि सांख्य के दृष्टान्त दुष्ट हैं। पंगु और अन्ध दोनों ही चेतन और सक्रिय प्राणी हैं। किन्तु प्रकृति अचेतन और पुरुष निष्क्रिय माना गया है। अतः इनका संयोग असंभव है। पुनश्च, यदि पुरुषसन्निधिमात्र, अयस्कान्त के लोह को आकृष्ट करने के समान, प्रकृति को प्रवृत्त करती है, तो पुरुष के सर्वदा प्रकृति के समीप विद्यमान रहने के कारण प्रकृति को

निरन्तर गतिशील रहना चाहिये। तब प्रकृति की सहज साम्यावस्था असिद्ध हो जायगी। सृष्टि का आदि और अन्त भी असिद्ध होगा। पुरुष का मोक्ष भी असंभव होगा क्योंकि प्रकृति का परिणाम बन्द न हो सकेगा।

पुनश्च, प्रकृति और पुरुष का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रकृति जड़ है और पुरुष निष्क्रिय है; प्रकृति अचेतन है और पुरुष चेतन है; प्रकृति सक्रिय है और पुरुष उदासीन है। दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं। सांख्य दोनों को स्वतन्त्र और सिद्ध पदार्थ मानता है। ऐसी दशा में प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरुद्ध धर्मवाले दो स्वतन्त्र पदार्थों का मेल कैसा ? न तो ये दोनों स्वयं मिल सकते हैं और न इनका मेल करानेवाले किसी तृतीय पदार्थ की सत्ता सांख्य को स्वीकार है। सांख्य ने पुरुष और प्रकृति के, विषयी और विषय के, चेतन और जड के बीच में जो खाई खोद दी है उसे पाट देने में सांख्य सर्वथा असमर्थ है। और पुरुषबहुत्व का प्रतिपादन करके तो सांख्य पुरुष के स्थल में भी असंख्य गड्ढे खोद देता है। सांख्य को चाहिये कि वह, विषयी और विषय दोनों में व्याप्त रह कर उनको सार्थक करते हुये भी वास्तव में उन दोनों से अतीत, एक विशुद्ध चेतन ब्रह्म की सत्ता नतमस्तक होकर स्वीकार करे।

स्वतन्त्रविज्ञानवादियों के समान शंकराचार्य भी प्रधान को कर्ता और पुरुष को भोक्ता मानने के विरुद्ध हैं। प्रकृति में कर्तृत्व है और पुरुष में भोक्तृत्व मान कर सांख्य ने कर्मफलवाद को ठुकरा दिया है। कर्म तो करे प्रकृति और अच्छे बुरे फल भोगे बिचारा पुरुष। यह कहाँ का न्याय ? और यह कथन भी कितना असंगत है कि प्रकृति नाना प्रकार के व्यञ्जन बनाना तो जानती है किन्तु उनका भोग करना नहीं जानती।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्रकृति को विश्व का कारण नहीं माना जा सकता। जगत् प्रकृति का परिणाम सिद्ध नहीं हो सकता। अचेतन में परिणाम नहीं हो सकता। कारण तो सर्वज्ञ, सर्वगत, साक्षी और चेतन ब्रह्म या आत्मतत्त्व ही हो सकता है। समस्त वेदान्त इसी का प्रतिपादन

करते हैं। कठ आदि उपनिषद् में प्रयुक्त 'महत्', 'अव्यक्त' आदि शब्द सांख्य के 'महत्' और 'अव्यक्त' आदि का बोध नहीं कराते। ये शब्द नाम-रूपात्मक कार्य जगत् के लिये व्यवहृत हुये हैं और अपने कारण ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं माने गये हैं। सांख्य और योग को विद्वानों ने श्रेयस्कर माना है, किन्तु ये द्वैतवादी हैं और श्रुति-सम्मत नहीं हैं। श्रुति में 'सांख्य' का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में और 'योग' का प्रयोग कर्म के अर्थ में हुआ है। सांख्य और योग के वे सिद्धान्त जिनका विरोध अद्वैत से नहीं है, हमें भी मान्य हैं। शंकराचार्य सांख्य को 'प्रधानमल्ल' मानते हैं और कहते हैं कि सांख्यमत-निरास द्वारा अन्यमत-निरास स्वतः सिद्ध हो जाता है क्योंकि सांख्य ही वेदान्त का 'प्रधानमल्ल' है। (१)।

सांख्य के दोष दिखाये जा चुके हैं। सांख्य को चाहिये कि प्रकृति के बजाय माया की सत्ता स्वीकार करे, प्रकृतिपरिणामवाद के बजाय ब्रह्म-विवर्तवाद माने, सत्कार्यवाद के बजाय सत्कारणवाद माने, पुरुष के बजाय जीव की सत्ता स्वीकार करे, अभावात्मक कैवल्य के स्थान में आनन्दात्मक मोक्ष को अपना आदर्श बनावे, असंख्य पंगु और उदासीन पुरुषों की अनन्त पंक्ति प्रतिष्ठित करने के बजाय जीवत्व को काल्पनिक समझे, और पुरुष और प्रकृति को परस्पर विरुद्धस्वभाववाले दो स्वतन्त्र पदार्थ मानकर उनके बीच में कभी न पट सकनेवाली खाई खोदने के बजाय विषयी और विषय दोनों रूपों में प्रतीत होनेवाले और फिर भी उनसे अतीत विशुद्ध अद्वय साक्षि चैतन्य की ही स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करे।

असत्कार्यवाद-खण्डन :— शंकराचार्य सत्कार्यवाद को मानते हैं किन्तु उनका तात्पर्य सांख्य से भिन्न है। वास्तव में सत्कार्यवाद को वे सत्कारणवाद के अर्थ में स्वीकार करते हैं। उनका सिद्धान्त विवर्तवाद के नाम से प्रसिद्ध है। सत्कार्यवाद परिणामवाद की ओर ले जाता है और सत्कारणवाद विवर्तवाद की ओर। परिणामवाद विवर्तवाद की पूर्वभूमि ही है। सत्य परिणाम को 'परिणाम' कहते हैं और मिथ्या परिणाम को 'विवर्त'। दूध

(१) शारीरक भाष्य १।४।२८

का दही में बदल जाना परिणाम कहलाता है और जल का बुलबुले के रूप में प्रतीत होना विवर्त। सत्कारणवाद का अर्थ है कि केवल कारण ही सत् है। कार्य कारणरूप से अवश्य विद्यमान रहता है, किन्तु वास्तव में कार्य कारण से भिन्न वस्तु नहीं है। कारण ही सत् है, कार्य उसका आभास मात्र है।

शंकराचार्य, शून्यवादी, विज्ञानवादी एवं स्वतन्त्रविज्ञानवादी बौद्धों के समान, सांख्य के विरुद्ध यह मानते हैं कि यदि कार्य को 'सत्' माना जाय तो वह पहले ही विद्यमान पदार्थ है और उसकी पुनरुत्पत्ति वृथा हो जायगी, और न्याय-वैशेषिक के विरुद्ध यह भी मानते हैं कि यदि कार्य को 'असत्' माना जाय तो वह शशशृंग और वन्ध्यापुत्र के समान तुच्छ होना चाहिये और तब उसकी उत्पत्ति असम्भव हो जायगी। हम पहले कह चुके हैं कि स्वतन्त्र-विज्ञानवादी को असत्कार्यवादी कहना उचित नहीं है क्योंकि वह 'असत्' की उत्पत्ति नहीं मानता। (१) उसके लिये तो अर्थ क्रिया सामर्थ्य ही सत्ता और सत्ता ही व्यापार या कार्योत्पाद है। शंकराचार्य शून्यवादी के समान, स्वतन्त्रविज्ञानवादी के विरुद्ध यह मानते हैं कि कार्योत्पाद को सत्य नहीं माना जा सकता, सत्ता ही व्यापार नहीं हो सकती तथा वास्तव में क्षणिकत्व एवं उत्पत्ति, स्थिति और लय सब मिथ्या हैं। उपर्युक्त स्पष्टीकरण के के पश्चात् अब हम आचार्यकृत असत्कार्यवाद खण्डन को प्रस्तुत करते हैं।

शंकराचार्य का कथन है कि कार्य कदापि और कथमपि कारण से भिन्न और स्वतन्त्र नहीं रह सकता। उत्पत्ति के पूर्व और पश्चात्—कभी भी कार्य की अनपेक्ष सत्ता नहीं हो सकती। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि कार्य कारणरूप से विद्यमान नहीं रहता। कार्य 'सत्' है, किन्तु कारणरूप से ही। या यों कहिये कि कार्य की कारण से भिन्न कोई सत्ता नहीं अतः कारण ही 'सत्' है, कार्य उसका आभास मात्र है। यद्यपि कार्य और कारण का तादात्म्य के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि कार्य को ही कारण पर आश्रित माना जाता है, कारण को कार्य पर निर्भर नहीं।

दूध से दही, मिट्टी से घड़ा, और सोने से आभूषण बनते हैं। मिट्टी से

दही और दूध से घड़ा नहीं बन सकता। यदि कार्य 'असत्' हो, तो ऐसा होना चाहिये। यदि यह कहा जाय कि कारण में कोई 'अतिशय' होता है जिससे नियत कारण ही नियत कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, तो प्रश्न है कि 'अतिशय' का अर्थ कारण का 'पूर्वकालभावित्व' है अथवा 'नियतकार्योत्पादसामर्थ्य' ? यदि प्रथम है, तो असत्कार्यवाद समाप्त हो जाता है क्योंकि कार्य की सत्ता कारणरूप से पूर्वकाल में स्वीकार कर ली गई है; और यदि द्वितीय है, तो यह सामर्थ्य न तो कारण से भिन्न है (क्योंकि यदि इस सामर्थ्य को कारण से भिन्न माना जाय तो फिर यह सामर्थ्य ही वास्तविक कारण होगा, कारण कारण नहीं हो सकेगा) और न 'असत्' ही है क्योंकि इसे अन्यतर मानते ही उत्पत्ति असंभव हो जायगी।

कार्य और कारण का तादात्म्य के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध निर्धारित नहीं किया जा सकता। यह सम्बन्ध संयोग नहीं है। यह समवाय भी नहीं है क्योंकि कार्य-कारण से सम्बन्धित होने के लिये इस समवाय को अन्य समवाय की अपेक्षा होगी और इस दूसरे समवाय को तीसरे समवाय की। इस प्रकार अनवस्था दोष आयगा। अन्यथा समवाय स्वयं असिद्ध रहेगा क्योंकि कार्य-कारण से सम्बन्धित हुये बिना समवाय त्रिशंकु की तरह आकाश में नहीं लटक सकता।

पुनः, असत्कार्यवाद के अनुसार कार्य और कारण का परस्पर कोई भी सम्बन्ध निश्चित नहीं हो सकता क्योंकि सम्बन्ध दो 'सत्' पदार्थों का ही हो सकता है, 'सत्' और 'असत्' का या 'असत्' और 'असत्' का नहीं। 'असत्' कार्य बन्ध्यापुत्रवत् है। यह कोई नहीं कहता कि किसी वन्ध्या का पुत्र राजा था, है, या होगा।

फिर, यह कथन भी कि कार्य का प्रादुर्भाव कारण का उपमर्दन करके होता है मिथ्या प्रलाप है। (१) कारण का कभी नाश नहीं होता। दही बन

---

(१) 'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' इस सूत्र के आधार पर कहा जाता है कि बौद्ध नष्ट कारण से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। किन्तु यह मत महायान

कर दूध नष्ट नहीं हो जाता है। अंकुर बन कर बीज नष्ट नहीं होता है। कार्य और कारण भिन्न भिन्न सत्तावाले नहीं माने जा सकते। कार्य कारण का ही आभास है और उसकी सत्ता कारण से भिन्न नहीं हो सकती। सौ वर्षों के दीर्घ और कठिन परिश्रम द्वारा भी कोई व्यक्ति ऐसे कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता जो 'असत्' हो या जिसकी सत्ता कारण से भिन्न हो। (२)

न्याय–वैशेषिक-परमाणु-कारणवाद-खण्डन :—

न्यायवैशेषिक का मत है कि पृथिवी, अप्, तेजस् और वायु, ये चार द्रव्य या महाभूत अपने अमूर्तरूप में अर्थात् कारणरूप में नित्य और परमाणु-रूप हैं। पाँचवाँ महाभूत आकाश स्वयं परमाणुरूप न होते हुये भी नित्य है और परमाणुओं को परस्पर सम्बद्ध किये रहता है। ग्रीक दार्शनिक डेमॉक्रिटस के मत में परमाणुओं में केवल गुणभेद या संख्याभेद है, वे निरन्तर गतिशील हैं तथा जीवों की भी रचना करते हैं। वैशेषिक मत में परमाणुओं में गुणभेद या संख्याभेद के अतिरिक्त द्रव्यभेद या जातिभेद भी है, वे स्वभाव से स्थिर हैं तथा जीवों से भिन्न हैं। जीवों के अदृष्ट से प्रेरित होकर ईश्वर परमाणुओं में गति का संचार करते हैं। इस गति या मूल परिस्पन्द द्वारा सर्वप्रथम दो परमाणु मिल कर एक 'द्व्यणुक' बन जाते हैं। तीन द्व्यणुक मिल कर एक 'त्र्यणुक' बनाते हैं। चार द्व्यणुक (द्वे द्वे इति पठितव्यम्) मिलकर एक 'चतुरणुक' बनाते हैं। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है और

सम्मत नहीं है। शून्यवादी और विज्ञानवादी के लिये तो कार्यकारणजाल सांवृतिक या परतन्त्र होने से विशेष महत्व नहीं रखता। स्वतन्त्रविज्ञानवादी भी अनष्ट और शक्त कारण से ही कार्योत्पत्ति मानते हैं। शान्तरक्षित की उक्ति है—"तस्मादनष्टात् तद्धेतोः प्रथम क्षणभाविनः। कार्य मुत्पद्यते शक्तात् द्वितीयक्षण एव तु।" कोई भी महायानी बौद्ध असत्कार्यवादी नहीं है। देखिये ऊपर पृ० ११५

(२) शारीरिकभाष्य २।१।७, ९, १८; गीताभाष्य १८।४८ ; छान्दोग्य-भाष्य ६।२।१-२; बृहदारण्यकभाष्य १।२।१

जगत् के स्थल पदार्थों की सृष्टि होती है। परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म और परिमंडल होता है। द्वयणुक अणु और ह्रस्व होता है। त्र्यणुक आदि महत् और दीर्घ होते हैं। जगत् के स्थूल पदार्थ कूड़ा करकट के ढेरों की तरह समूह मात्र नहीं हैं अपितु अंशी और अंश के समुदाय हैं। अंशी और उसके विभिन्न अंश समवाय सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध हैं। न्याय-वैशेषिक के मतानुसार कारण अपने गुणों को कार्य में अवश्य प्रकट करता है जैसे श्वेत तन्तु श्वेत पट बनाते हैं और कृष्ण तन्तु कृष्णपट। अतः चेतन ब्रह्म अचेतन जगत् का कर्ता नहीं हो सकता। परमाणुओं को ही जगत् का कारण मानना पड़ेगा।

इसके खण्डन में शंकराचार्य कहते हैं कि कारण के लिये अपने सब गुण कार्य में प्रकट करना आवश्यक नहीं है। न्यायवैशेषिक के मतानुसार भी अत्यन्त सूक्ष्म और परिमण्डल परमाणु अणु और ह्रस्व द्वयणुक को तथा अणु और ह्रस्व द्वयणुक महत् और दीर्घ त्र्यणुक को उत्पन्न करता है। जब ऐसा है तो न्याय वैशेषिक को चेतन ब्रह्म द्वारा अचेतन जगत् की उत्पत्ति में आपत्ति क्यों होना चाहिये ?

पुनश्च, क्या परमाणु स्वरूपतः चल या स्थिर या उभय या उभयाभाव रूप हैं ? यदि चल हैं, तो सृष्टि शाश्वत हो जायगी। यदि स्थिर हैं, तो सृष्टि की उत्पत्ति ही नहीं होगी। एक ही वस्तु को चल और स्थिर दोनों मानना असंगत होगा। और यदि परमाणु स्वरूपतः न चल हैं न स्थिर, तो उनमें गति या परिस्पन्द बाहर से आना चाहिये। यह बाह्य कारण या तो दृष्ट है या अदृष्ट। यदि दृष्ट है तो असंभव है क्योंकि सृष्टि के पूर्व दृष्ट पदार्थ की कल्पना कैसे हो सकती है। यदि अदृष्ट है, तो यह परमाणु के समीप है या दूर। यदि समीप है तो सृष्टि शाश्वत होना चाहिये क्योंकि सृष्टि का कारण सदा सन्निकट रहता है। यदि दूर है, तो सृष्टि असंभव होगी। इन सब दोषों से सिद्ध है कि परमाणुओं से सृष्टि नहीं हो सकती। (१)

न्यायवैशेषिक पदार्थखण्डन :—न्याय-वैशेषिक मत छ पदार्थों की सत्ता

(१) शारीरकभाष्य २।२।११,१४

स्वीकार करता है। उत्तरकालीन कतिपय नैयायिकों ने अभाव को सप्तम पदार्थ माना है। शंकराचार्य कहते हैं कि यह मत विरोधयुक्त है क्योंकि एक ओर तो पदार्थों को एक दूसरे से पृथक् और स्वतन्त्र माना गया है तथा दूसरी ओर गुण, कर्म आदि को द्रव्याश्रित बतलाया गया है। इस विरोध को दूर करने के लिये कहा गया है कि द्रव्य और गुण अयुतसिद्ध हैं और समवाय सम्बन्ध से जुड़े रहते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं। प्रश्न होता है कि यह समवाय-सम्बन्ध दिगाश्रित है या कालाश्रित या स्वयंसिद्ध? यदि दिगाश्रित है तो यह वैशेषिक सिद्धान्त कि द्रव्य द्रव्यों को और गुण गुणों को उत्पन्न करते हैं मिथ्या हो जायगा। यदि कालाश्रित है तो गोशृङ्गों को भी अयुतसिद्ध मानना पड़ेगा। यदि स्वयंसिद्ध है तो द्रव्य और गुण का अन्तर असिद्ध हो जायगा।

आचार्य नागार्जुन, धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित के समान शंकर भी अंशी और अंश के अन्तर को ठुकराते हैं। अंशी न तो अंशों का समूह मात्र है और न उनसे भिन्न है। इसमें अनवस्था दोष आना भी अनिवार्य है। अंशी सब अंशों में नहीं रह सकता क्योंकि हम सब अंशों को नहीं देख सकते और अंशी को देखते हैं। अंशी प्रत्येक अंश में भी नहीं रह सकता क्योंकि जब वह एक अंश में रहता है तो दूसरे अंश में कैसे रह सकेगा और यदि एक ही अंश में रहेगा तो अंशी कैसे कहला सकेगा? और यदि प्रत्येक अंश में अंशी रहें तो प्रत्येक अंश अंश न रह कर अंशी बन जायगा। अतः अंशी और अंश की व्यवस्था कोरी कल्पना है। आचार्य धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित के लिये अंश सत्य हैं और अंशी असत्य, किन्तु आचार्य नागार्जुन और शंकर के लिये अंश और अंशी दोनों सापेक्ष होने से मिथ्या हैं। (१)

वैशेषिक आत्मा को स्वतः अचिद्रूप तथा मनःसंयोग के कारण चिद्रूप मानते हैं। इस मत की हेयता यो स्पष्ट ही है। शंकराचार्य का शान्तरक्षित के साथ मतैक्य है कि ज्ञान अपनी सिद्धि के लिये ज्ञाता की आवश्यकता नहीं

---

(१) शारीरिक भाष्य २।२।१७-१८

रखता और न इच्छा, वेदना, विचार आदि जिनके संयोग से आत्मा में चेतनता मानी गई है, अपनी स्थिति के लिये, बदरफलों के कुण्ड को आश्रय बनाने के समान, आत्मा को आश्रय बनाने की अपेक्षा रखते हैं। प्रथम तो निर्विकल्पक एवं असंग आत्मा का किसी के साथ तात्विक संयोग हो ही नहीं सकता, और यदि मान भी लिया जाय तो भी आत्मा को इच्छा वेदना विचारादि का आश्रय नहीं माना जा सकता। या तो सुख, दुःख, इच्छा, वेदना आदि स्वयं आत्मरूप होकर नित्य हो जायँगे अन्यथा आत्मा स्वयं सुख दुःखादि की भाँति अनित्य बन जायगा। निर्लेप, निर्विकल्प, निर्विशेष, निःसंग आत्मा को सुखदुःखादि का आश्रय मानना या उसे अंशवान् समझना या उसे अनित्य जानना भूल है। (१)

कर्म असंभव है और उसके साथ सृष्टि भी। अदृष्ट परमाणुओं में गति का संचार नहीं कर सकता। कर्म न तो परमाणुओं में संभव है और न आत्माओं में। अतः सृष्टि और लय दोनों असंभव हैं। (२)

सामान्य या जाति भी निरी कल्पना है। 'गोत्व' कोई पदार्थ नहीं है। हम 'गो' नामधारी व्यक्तियों को तो देखते हैं किन्तु 'गोत्व'रूपी सामान्य को नहीं देखते। यदि 'गोत्व' 'गो' के समस्त अवयवों में व्याप्त रहता है तो फिर गाय के सींग या पूँछ से भी दूध निकलना चाहिये। (३)

समवाय सम्बन्ध भी असंभव है। समवाय सम्बन्ध को पदार्थ और संयोग सम्बन्ध को गुण माना गया है, किन्तु है यह कोरी कल्पना। समवाय को नित्य और अयुतसिद्ध सम्बन्ध माना गया है जो अंश और अंशी को, गुण और द्रव्य को, सामान्य और विशेष को, क्रिया और कर्ता को सम्बन्धित करता है। शंकराचार्य, चन्द्रकीर्ति, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित, ज़ीनो और ब्रेडले के समान

---

(१) केनपदभाष्य २।४; माण्डूक्यकारिकाभाष्य ३।५; बृहदारण्यक भाष्य १।४।७

(२) शारीरकाष्य २।२।१२

(३) वहीं २।१।१८

कहते हैं कि समवाय सम्बन्ध में अनवस्था दोष आना अनिवार्य है। समवाय जिन दोस्तुवों को समवेत करता है उनसे भिन्न माना जायगा, और भिन्न मानते ही समवाय को इन दो वस्तुओं से समवेत होने के लिये एक दूसरे समवाय की आवश्यकता होगी और इस दूसरे समवाय की और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा। और यदि समवाय को समवायी से भिन्न न मानकर उसका स्वरूप ही मान जाय तो फिर संयोग सम्बन्ध को भी संयुक्त-वस्तु-स्वरूप मानना पड़ेगा। तब संयोग को गुण और समवाय को पदार्थ मानना पड़ेगा। तब संयोग को गुण और समवाय को पदार्थ माननेवाली व्यवस्था टूट जायगी। शंकराचार्य का कथन है कि सम्बन्ध, चाहे संयोग हो चाहे समवाय, अवश्य ही दोषदुष्ट है। मान लीजिये कि 'क' और 'ख' दो वस्तुयें हैं और 'स' उनका सम्बन्ध है। अब निम्न दोष अनिवार्य रूप से आ जायँगे :—

(१) यदि 'स' 'क' में रहता है तो 'ख' में नहीं रह सकता ;

(२) यदि 'स' 'ख' में रहता है तो 'क' में नहीं रह सकता ;

(३) एक ही 'स' 'क' और 'ख' दोनों में नहीं रह सकता है ;

(४) और यदि 'स' 'क' और 'ख' दोनों से भिन्न है तो वह स्वयं एक अलग पदार्थ है और उसे 'क' और 'ख' से सम्बन्धित होने के लिए एक दूसरे सम्बन्ध की अपेक्षा होगी और इस दूसरे सम्बन्ध को तीसरे सम्बन्ध की और इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। (१)

अतः संयोग और समवाय की भेद कल्पना असत् है। एक ही वस्तु सम्बन्ध भेद से अनेक कही जाती है। देवदत्त को हम ब्राह्मण, पण्डित, सुशील, पुत्र, भ्राता, पिता, प्रपिता, जामाता आदि कह सकते हैं।

अतः सिद्ध हुआ कि न्यायवैशेषिक के पदार्थ केवल कल्पना हैं और यदि हम कल्पना करने बैठें तो छ के बजाय सैकड़ों और सहस्रों पदार्थों की कल्पना कर सकते हैं। (२)

---

(१) शारीरक भाष्य २।२।१३

(२) वहीं, २।२।१७

केवलाधिष्ठात्रीश्वरकारणवादखण्डन :—कतिपय योगी एवं वैशेषिक तथा कुछ अन्य विद्वान् ईश्वर को केवल निमित्तकारण मानते हैं क्योंकि उनके मत में ईश्वर, प्रकृति और जीवों का अधिष्ठाता मात्र है। शंकराचार्य इस मत को वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्मैकत्व का प्रतिपक्षरूप होने से अयुक्त समझते हैं। यदि ईश्वर केवल अधिष्ठाता है और इच्छानुसार जीवों को हीन, मध्यम तथा उत्तम बनाता है एवं सुख दुःख की व्यवस्था भी मनमानी करता है तो निश्चित ही ईश्वर को भी साधारण पुरुषों के समान रागद्वेषादिदोषदुष्ट मानना पड़ेगा तथा ईश्वर का अनीश्वरत्व सिद्ध होगा। (१) जीवों के कर्म और ईश्वर दत्त फल को अनादि परम्परास्वरूप मानने से भी काम नहीं चलेगा क्योंकि यह परम्परा अन्धपरम्परा के समान होगी।

अपिच, ईश्वर को जगत् और जीवों का अधिष्ठाता मानने के लिये पहले ईश्वर का जगत् और जीवों से सम्बन्ध सिद्ध करना आवश्यक है और यह सम्बन्ध किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह सम्बन्ध संयोग नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों ही व्यापक और निरवयव माने गये हैं। यह सम्बन्ध समवाय भी नहीं हो सकता क्योंकि यह निश्चित करना असंभव है कि इनमें कौन आश्रय है और कौन आश्रयी। अद्वैती के लिये यह समस्या उपस्थित नहीं होती क्योंकि वह कार्य-कारण का तादात्म्य सम्बन्ध मानता है।

पुनश्च, यदि मुक्त जीव के लिये प्रकृति का खेल बन्द हो जाता है तो प्रकृति व्यापक नहीं कही जा सकती, वह अन्तवती हो जायगी और तब ईश्वरीय साम्राज्य को भी सान्त मानना पड़ेगा। व्यापक पदार्थ एक ही हो सकता है दो या तीन नहीं। ईश्वर, जगत् और जीव इन तीनों को व्यापक मानने पर ये तीनों ही एक दूसरे को परिच्छिन्न करके अपने व्यापकत्व को नष्ट कर देंगे। और यदि जगत् और जीव को व्यापक मान भी लिया जाय

---

(१) ऐसे आक्षेप शान्तरक्षित ने भी किये हैं। देखिये ऊपर पृ० ११७

तो व्यापक पदार्थों के अधिष्ठाता की कल्पना करना कितनी मूर्खतापूर्ण बात है। ऐसा ईश्वर न तो सर्वज्ञ हो सकता है और न सर्वशक्तिमान्। (१)

ब्रह्म-परिणामवाद-खण्डन :—शंकराचार्य ब्रह्मकारणवाद को मानते हैं किन्तु उनका सिद्धान्त ब्रह्म-विवर्त-वाद के नाम से प्रसिद्ध है। वे ब्रह्म-परिणामवाद के विरुद्ध हैं। जगत् का आदि कारण ब्रह्म ही है, किन्तु जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है, परिणाम नहीं। पारमार्थिक दृष्टि से जगत् न तो ब्रह्म द्वारा सचमुच सृष्ट हुआ है और न वह ब्रह्म का वास्तविक परिणाम ही है। स्वमायाशक्तियुत ब्रह्म अधिष्ठान मात्र है जिस पर जगत् का अध्यास किया जाता है। जब ज्ञान का प्रकाश होता है तथा जीवब्रह्मैक्य की अनुभूति हो जाती है तब जगत् और उसके समस्त व्यावहारिक प्रपञ्च भी लुप्त हो जाते हैं। तात्विकी अन्यथा-प्रथा अर्थात् वास्तविक परिवर्तन को परिणाम या विकार कहते हैं जैसे मृत्तिका का परिणाम है घट, सुवर्ण का परिणाम है स्वर्णकटक, दूध का परिणाम है दही। अतत्त्वतः अन्यथा-प्रथा का नाम है विवर्त, जैसे जल के विवर्त हैं तरङ्ग, बुद्बुद, फेन आदि। परिणाम और विवर्त परस्परविरुद्ध नहीं हैं। विवर्त परिणाम की अगली सीढ़ी है। इसीलिये सर्वज्ञात्ममुनि ने परिणामवाद को विवर्तवाद की पूर्वभूमि कहा है। (२) जगत् को ब्रह्म का वास्तविक परिणाम कैसे माना जाय जबकि जगत् की सत्ता केवल व्यावहारिक है और अविद्या पर टिकी हुई है। यह दर्शनशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जिस वस्तु की सत्ता आदि में और अन्त में नहीं है उसकी सत्ता मध्य में भी नहीं हो सकती। (३)

---

(१) शारीरक भाष्य : २।२।३७,३८,४१

(२) विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवादः।

(३) नैवाग्रं नावरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत् ?—नागार्जुन
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा।—गौडपाद
न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान् मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।—भागवत

शंकराचार्य कहते हैं कि अनेक कर्ता और भोक्ता रूप जीवों से युक्त; देश, काल, निमित्त, क्रिया, फल आदि से नियत; नामरूपात्मक इस जगत्-प्रपञ्च के जन्म, स्थिति और भङ्ग का कारण सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही इसका उपादान-कारण एवं निमित्त-कारण है। (१) किन्तु यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है, परिणाम नहीं। जगत् को ब्रह्म का परिणाम कहने वाले श्रुति के वाक्य वास्तविक परिणाम का प्रतिपादन करने के लिये नहीं हैं क्योंकि निराकार ब्रह्म का कोई वास्तविक परिणाम नहीं हो सकता। ये वाक्य विवर्त का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि विवर्तवाद ही सर्वव्यवहारातीत ब्रह्मात्मभाव का पोषक है और विवर्तवाद ही "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" इस श्रुति में संकेतित अभय-स्थल पर पहुँचा सकता है। (२)

शान्तरक्षित आदि द्वारा प्रेरित आक्षेपों का शंकराचार्य खण्डन करते हैं यद्यपि वे आक्षेपकर्ताओं का नाम नहीं लेते। शंकर कहते हैं कि कुछ लोग इस उपनिषद् मत का, कि जिस प्रकार मकड़ी जाले की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है, उसी प्रकार ब्रह्म भी इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है निरास करते हुये कहते हैं मकड़ी तो छोटे छोटे कीड़-मकोड़ों को खाने की लालसा से उत्पन्न लार द्वारा जाला बुनती है किन्तु ब्रह्म के लिये जगज्जाल बुनने के लिये ऐसी कौन-सी आन्तरिक इच्छा और ऐसे कौन से बाह्य साधन हो सकते हैं? (३) और फिर यदि ईश्वर जगत् को उत्पन्न करता है तो उस पर वैषम्य और नैर्घृण्य के दोष लगेंगे क्योंकि वह स्वेच्छा से कुछ लोगों

(१) शारीरकभाष्य १।१।२

(२) वहीं २।१।२७

(३) वहीं २।१। २५ ; देखिये शान्तरक्षित के आक्षेप, ऊपर पृ० ११७

को सुखी और कुछ लोगों को दुखी बनाता है। (१) शंकराचार्य इन आक्षेपों के उत्तर में कहते हैं कि वास्तव में ब्रह्म जगत् की सृष्टि नहीं करता; जगत् तो ब्रह्म का विवर्त है और ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है। मायायुत ब्रह्म अर्थात् सगुण ब्रह्म या ईश्वर पर अविद्या द्वारा जगत् अध्यस्त है। व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म जगत् का कारण है ही। ज्ञान स्वरूप होने के कारण ईश्वर को अपनी मायाशक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं है। ईश्वर पर वैषम्य और नैर्घृण्य दोष भी नहीं लग सकते क्योंकि जगत्-वैषम्य कर्मजन्य है एवं पारमार्थिक नहीं है। परमार्थतः जगत् की कोई उत्पत्ति, स्थिति या लय नहीं। आप्तकाम ब्रह्म की कोई स्पृहा नहीं। शङ्कराचार्य स्पष्ट कहते हैं कि यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि सृष्टि का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ परमार्थ-विषयक नहीं हैं, केवल व्यवहार का बोध करानेवाली हैं और इसलिये जब जब हम जगत् की उत्पत्ति, स्थिति या लय की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य वास्तविक उत्पत्ति, स्थिति या लय से कदापि नहीं है क्योंकि हम जगत् को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं परिणाम नहीं। जगत् की सत्ता अविद्या पर आश्रित है। विद्या द्वारा अविद्या के नष्ट होते ही प्रेरिता ईश्वर, भोक्ता जीव और भोग्य जगत् तीनों ही परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। (२)

जैनमतखण्डन :—जैन स्याद्वाद के अनुयायी हैं। स्याद्वाद को सप्त-भङ्गीनय भी कहते हैं। इसकी संज्ञा अनेकान्तवाद भी है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। हमारा ज्ञान आंशिक होता है और दर्शनों के पारस्परिक विरोध का मूल कारण किसी भी वस्तु के आंशिक धर्म को उसका समस्त धर्म मान लेना है। स्याद्वाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु (१) "संभवतः है" (स्यात् अस्ति), (२) "संभवतः नहीं है" (स्यात् नास्ति), (३) "संभवतः है भी और नहीं भी है" (स्यात् अस्ति

---

(१) वहीं २।१।३४-३५; देखिये ऊपर पृ० ११६

(२) वहीं २।१।३३; २।३।६; ३।२।१३

च नास्ति च), (४) "संभवतः अनिर्वचनीय है" (स्यात् अवक्तव्यम्), (५) "संभवतः है और अनिर्वचनीय है" (स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च), (६) "संभवतः नहीं है और अनिर्वचनीय है" (स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च), (७) "संभवतः है भी और नहीं भी है और अनिर्वचनीय भी है" (स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च)। जैनमतानुसार एकत्व भी सत्य है और नानात्व भी सत्य है, नित्यत्व भी सत्य है और अनित्यत्व भी सत्य है। प्रत्येक वस्तु 'द्रव्य' रूप से एक और नित्य है तथा 'पर्याय' रूप से नाना और अनित्य है।

धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित के समान शंकराचार्य भी जैनमत का प्रबल खण्डन करते हैं। एकत्व और नानात्व, नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों एक ही वस्तु में एक साथ, प्रकाश और अन्धकार के समान कदापि नहीं रह सकते। एक ही वस्तु एक साथ शीत और उष्ण नहीं हो सकती। स्याद्वाद के अनुसार स्वयं स्याद्वाद सिद्धान्त भी संभवतः असत्य है। इसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता। शंकराचार्य के अनुसार यह सिद्धान्त विक्षिप्त पुरुष के प्रलाप के समान है। (१) जैन किसी वस्तु को 'संभवतः अनिर्वचनीय अर्थात् अवक्तव्य' मानते हैं और साथ ही साथ उसका निर्वचन भी करते हैं। यह सत्य है कि हमारा व्यावहारिक ज्ञान आंशिक होता है, किन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है कि आंशिक ज्ञान पूर्ण ज्ञान की ओर इंगित करता है और हमें व्यवहार से परमार्थ में जाने को प्रवृत्त करता है। स्याद्वाद व्यवहार तक ही सीमित रहता है और परमार्थ की ओर उसका कोई ध्यान नहीं और व्यवहार में भी स्याद्वाद विक्षिप्त प्रलाप के समान है क्योंकि व्यावहारिक तर्क इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि एक वस्तु एक साथ विरुद्धधर्मान्वित हो। स्याद्वाद प्रत्येक वस्तु को संभवतः सत्, असत्, सदसत् और सदसद्विलक्षण होने से अवक्तव्य मानता है। किन्तु वास्तव में प्रत्येक व्यावहारिक वस्तु न तो सत् है, न असत् है और न सद-

---

(१) वहीं २।२।३३

सत् है। सत्, असत् और सदसत् से विलक्षण होने के कारण प्रत्येक वस्तु तत्त्व और अन्यत्व से अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय होने के कारण मिथ्या हैं। मिथ्या होने से माया है। माया ब्रह्म की शक्ति है। इसलिये केवल विशुद्ध विज्ञानघन ब्रह्म ही तत्त्व सिद्ध होता है :—

बौद्धमतखण्डन :—

(क) **सर्वास्तिवाद-खण्डन :—**सर्वास्तिवाद हीनयान का सबसे अधिक महत्वपूर्ण मत है। सर्वास्तिवाद दो मतों में विभक्त है, वैभाषिक मत और सौत्रान्तिक मत। अभिधर्मज्ञानप्रस्थान की 'विभाषा' नामक टीका पर विशेष महत्व देने के कारण प्रथम का नाम वैभाषिक मत और सूत्रान्तों पर विशेष महत्व देने के कारण द्वितीय का नाम सौत्रान्तिक मत है। वैभाषिक मत को हम अप्रौढ़ वस्तुवाद (naive realism) कह सकते हैं क्योंकि यूरोपीय दार्शनिक देकार्त (Descartes) की भाँति वह चेतन और अचेतन, आन्तरिक और बाह्य, विज्ञानात्मक और भौतिक जगत् की पृथक्, स्वतन्त्र और साक्षात् सत्ता स्वीकार करता है। सौत्रान्तिक मत को हम तार्किक वस्तुवाद (Critical realism) कह सकते हैं क्योंकि यूरोपीय दार्शनिक लॉक (Locke) के समान वह इस बात को मानता है कि आन्तरिक वासनाओं द्वारा बाह्य पदार्थों की सत्ता का अनुमान किया जाता है जैसे पुष्टि से भोजन का और भाषा से देश का अनुमान किया जाता है। वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों मत ही वस्तुवादी हैं और दोनों ही आन्तरिक जगत् को क्षणिक विज्ञानों का सन्तान मात्र और बाह्य जगत् को क्षणिक परमाणुओं का संघात मात्र मानते हैं। शंकराचार्य दोनों मतों को 'सर्वास्तित्ववाद' के नाम से ग्रहण करते हैं।

शंकराचार्य का कथन है कि आन्तरिक एवं बाह्य दोनों समुदाय, जिन्हें बौद्धमत 'सन्तान' और 'संघात' कहता है, कभी बन ही नहीं सकते। न तो जड़ और क्षणिक परमाणु और न क्षणिक विज्ञान किसी समुदाय को बना सकते हैं। बौद्धदर्शन में किसी चेतन भोक्ता या नियन्ता की जो इन समुदायों को बना सके, सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। क्षणिक विज्ञान को

समुदाय बनाने के लिये प्रथम क्षण में स्वयं उत्पन्न होना पड़ेगा और द्वितीय क्षण में समुदाय रूप में परिणत होना पड़ेगा। किन्तु ऐसा होने पर कम से कम दो क्षणों तक विज्ञान की स्थिति मानी जायगी और तब विज्ञान क्षणिक नहीं कहा जा सकेगा। समुदाय बनाने में प्रतीत्यसमुत्पाद भी किसी प्रकार सहायक नहीं हो सकता क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पादचक्र में प्रत्येक पूर्व अंग केवल अपर अंग का ही कारण है, सम्पूर्ण चक्र का नहीं। क्षणिक अचेतन परमाणु भी कोई संघात नहीं बना सकते। जब न्याय-वैशेषिक के नित्य परमाणु ही परस्पर संहत नहीं हो सकते तो बौद्धों के अनित्य परमाणुओं की तो बात ही क्या।

पुनश्च, बौद्धों का यह सिद्धान्त भी कि सत् की उत्पत्ति असत् से होती है अयथार्थ है। असत्कार्यवाद के लिये दर्शन में कोई स्थान नहीं। अन्यथा कोई भी वस्तु किसी भी वस्तु से उत्पन्न हो जाना चाहिये। असत् शशशृङ्गवत् है और शशशृङ्ग से किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब स्वयं बौद्ध ही परमाणुओं से बाह्य पदार्थों की और स्कन्धों से आन्तर जगत् की उत्पत्ति मानते हैं तब आश्चर्य है कि वे इस प्रकार के व्यर्थ विरोधों को अपने दर्शन में क्यों जन्म देते हैं। (१)

(ख) क्षणभङ्गवाद-खण्डन :—शंकराचार्य का आक्षेप है कि प्रतीत्य-समुत्पादचक्र में पूर्व अंग को अपर अंग का भी कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि क्षणभङ्गवाद के अनुसार अपर अंग की उत्पत्ति के समय पूर्व अंग विनष्ट हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि पूर्व अंग परिनिष्पन्न अर्थात् पूर्णतया परिपक्व होने पर ही समर्थ होने के कारण अपर अंग का कारण बनता है तो निश्चय ही पूर्व अंग का द्वितीय क्षण से सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा और तब क्षणिकवाद निरस्त हो जायगा। और यदि (स्वतन्त्रविज्ञानवाद की भाँति) पूर्व अंग की स्थिति मात्र को ही कारणसामर्थ्य माना जाय (भाव एवास्य व्यापारः) अर्थात् कारण की सत्ता मात्र को ही उत्पाद-

---

(१) वहीं २।२।२६।

शक्तिरूप माना जाय (सत्तैव व्यापृतिः) तो भी क्षणिकवाद की सिद्धि होना असंभव है क्योंकि कारण के स्वभाव को ग्रहण किये बिना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता और यह स्वीकार करना कि कारण स्वभावरूप से कार्य में विद्यमान रहता है क्षणिकवाद को ठुकरा देना है।

पुनश्च, क्या उत्पाद और विनाश वस्तु के स्वरूप हैं, अथवा अवस्थान्तर हैं, अथवा कोई अन्य वस्तु हैं ? यदि इन्हें वस्तु का स्वरूप मान लिया जाय तो वस्तुस्वरूप होने से उत्पाद और विनाश एक दूसरे के पर्याय बन जायगें। यदि उत्पाद को आदि, वस्तु को मध्य और विनाश को अन्त माना जाय तो एक वस्तु का कम से कम आदि, मध्य और अन्त रूपी तीन क्षणों से सम्बन्ध मानना पड़ेगा और तब तीन क्षण तक स्थित रहने वाली वस्तु क्षणिक नहीं कही जा सकेगी। यदि उत्पाद और विनाश को अत्यन्त भिन्न माना जाय तो वस्तु को उत्पाद और विनाश से भिन्न होने के कारण नित्य मानना पड़ेगा। अतः सिद्ध है कि क्षणभंगवाद दूषित है।

और भी, बौद्ध विनाश को अहेतुक मानते हैं। किन्तु यदि अविद्या का नाश विद्या से माना जाय, तो विनाश अहेतुक नहीं हो सकता और यदि अविद्या का नाश अहेतुक है तो फिर दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत् के उपदेश की क्या आवश्यकता है ? और बौद्धमत के अनुसार तो बन्ध और मोक्ष संभव ही नहीं हो सकते क्योंकि जब आत्मा क्षणिक विज्ञानरूप है तो किसका बन्ध और किसका मोक्ष ?

पुनः, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा क्षणभंगवाद पर मार्मिक प्रहार करती हैं। बिना नित्य ज्ञाता के ज्ञान, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा संभव नहीं। भूत को वर्तमान में स्मरण करनेवाला ज्ञाता किस प्रकार अनित्य हो सकता है ? एकता को समानता मान लेने से भी काम नहीं चल सकता क्योंकि समानता को भी ज्ञाता की आवश्यकता है। 'यह वही घट है जिससे मैंने कल पानी पिया था'—ऐसी स्मृति क्षणिक विज्ञान को नहीं हो सकती। क्षणिकवादी का यह कथन कि एकता भ्रान्ति है और वह समानता के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अयथार्थ है। और यदि यह भी मान लिया जाय कि वास्तव में एकता का

अर्थ समानता है तथा 'यह घट वह नहीं है जिससे मैंने कल पानी पिया था, किन्तु उस घट के समान घट है' तो भी क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि समानता भी एक ऐसे नित्य ज्ञाता की अपेक्षा रखती है जो दो वस्तुओं को समान कह सके। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त विज्ञानों को अपनी ही आत्मा के विज्ञान अनुभव करने वाले बौद्ध को क्षणभंगवाद की पुष्टि में आत्मा को क्षणिक और विनाशशील विज्ञान बतलाने में तनिक भी लज्जा नहीं आती ? प्रत्येक वस्तु की सत्ता पर सन्देह किया जा सकता है किन्तु सन्देह करने वाले 'आत्मा' की सत्ता पर सन्देह भी नहीं किया जा सकता क्योंकि सन्देह स्वयं आत्मा की सत्ता पर आश्रित है। जब दार्शनिक इस अटल सिद्धान्त को भूल जाते हैं या भूल जाने का बहाना करते हैं तो वे अपने पक्ष की सिद्धि और परपक्ष का खण्डन करने में भले ही जी चाहे जितनी वाग्-विडम्बना कर लें किन्तु वास्तव में न तो दूसरे लोग उससे सन्तुष्ट होते हैं और वे स्वयं ही उसे यथार्थ समझते हैं। (१)

(ग) 'विज्ञानवाद"-खण्डन—(अर्थात् स्वतन्त्रविज्ञानवादखण्डन) जहाँ जहाँ शंकराचार्य ने "विज्ञानवाद" का उल्लेख और खण्डन किया है, वह वास्तव में स्वतन्त्रविज्ञानवाद का उल्लेख और खण्डन है। यह वाद केवल क्षणिक विज्ञानों की सत्ता स्वीकार करता है। इन लोगों का मत है कि भगवान् बुद्ध ने हीनयानियों के लिये ही बाह्यार्थ की सत्ता का उपदेश किया है, किन्तु महायानियों के लिये उनकी देन उनका सर्वोच्च सिद्धान्त क्षणिक विज्ञानवाद है। शंकराचार्य दिङ्नाग की "आलम्बनपरीक्षा" का आश्रय लेते हुये इस मत को पूर्वपक्षरूप में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :—

यदि बाह्य अर्थ हैं तो या तो वे परमाणुरूप हैं या संघातरूप हैं। किन्तु

---

(१) वहीं २।२।२०-२५

उत्तमादुच्छ्वासादतीताश्च प्रतिपत्तीराजन्मन आत्मैककर्तृकाः प्रतिसंधानः कथं क्षणभंगवादी वैनाशिको नापत्रपेत।...उपलब्धरि तु सन्देहोऽपि न कदाचिद् भवति।२।२।२५।

दोनों ही विकल्प असिद्ध होते हैं। परमाणु दृष्टिगत नहीं होते और परमाणु-संघात न तो परमाणुरूप सिद्ध किये जा सकते हैं और न परमाणुभिन्न। अतः विज्ञान ही बाह्य अर्थों के रूप में, घट, पट, मठ आदि के रूप में प्रतीत होते हैं। सहोपलम्भनियम अर्थात् आन्तर विज्ञान और बाह्य अर्थ की एक साथ उपलब्धि इस बात का प्रबल प्रमाण है कि विज्ञान ही अर्थ का रूप लेता है। जागरित और स्वप्न अवस्थाओं में कोई भेद नहीं। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में, इन्द्रजाल में, मरीचिका में, ख-पुष्पादि में, विज्ञान ही विषयी और विषय दोनों रूपों में प्रतीत होते हैं, ठीक उसी प्रकार जागरितावस्था में भी विज्ञान ही दोनों रूपों में भासित होते हैं। विज्ञानानेकत्व या विज्ञानबहुत्व का कारण अनादि वासनाभेद है, बाह्यार्थभेद नहीं। अनादि संसार-चक्र में विज्ञान और वासना, बीज और अंकुर के समान एक दूसरे का कारण और कार्य बनती रहती हैं।

अब इस मत का प्रबल खण्डन प्रारम्भ होता है। शंकराचार्य का आक्षेप है कि यह मत वस्तुवाद का अनुचित अपलाप करने वाला अप्रौढ़ मनोविज्ञानवाद है (Crude Subjective Idealism) और ऊपर से तुर्रा यह कि विज्ञानों को क्षणिक माना गया है। शंकराचार्य के अनुसार बाह्यार्थवाद का अनुचित अपलाप नहीं किया जा सकता। अनुभूत होने के कारण बाह्यार्थों की सत्ता अस्वीकृत नहीं हो सकती। सहोपलम्भ-नियम केवल यही सिद्ध करता है कि आन्तर विज्ञान और बाह्य अर्थ की अनुभूति युगपत् होती है। किन्तु इस नियम से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि आन्तर विज्ञान और बाह्य अर्थ एक हैं। अर्थों का अर्थात् बाह्य पदार्थों का विज्ञानाश्रित होना विज्ञानस्वरूप होना नहीं है। विज्ञान-ग्राह्य होना विज्ञानांश बनना नहीं है। स्वयं बाह्य पदार्थों का अनुभव करते हुये भी बाह्य पदार्थों की सत्ता का अपलाप करना बौद्ध प्रतिपक्षी का अनर्गल प्रलाप मात्र है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि कोई भोजन करता हुआ तथा भोजन करने से होने वाली तृप्ति का अनुभव करता हुआ भी यह कहे कि वह न तो भोजन कर रहा है और न तृप्त हो रहा है। अर्थ और ज्ञान का भेद सिद्ध

है। 'श्वेत गाय' और 'कपिला गाय' में 'श्वेतत्व' और कपिलत्व' भिन्न हैं, किन्तु 'गोत्व' वही है। इसी प्रकार 'घट विज्ञान' और 'पट विज्ञान' में 'घट' और 'पट' भिन्न हैं, किन्तु विज्ञान वही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अर्थों के भिन्न होते हुये भी विज्ञान एक रहता है। अतः अर्थ और विज्ञान का भेद स्पष्ट है। (१)

प्रतिपक्षी कहता है कि वह पदार्थों की उपलब्धि का निराकरण नहीं करता, उसका कथन तो केवल इतना ही है कि पदार्थों की उपलब्धि विज्ञान-बाह्य नहीं है। शंकराचार्य का आक्षेप है कि अनुभव में प्रत्यक्ष ही बाह्य पदार्थों की उपलब्धि होती है। स्वयं बौद्ध भी मन ही मन इसे स्वीकार करता है। शंकराचार्य दिङ्नाग की कारिका के पूर्वार्द्ध को उद्धृत करते हैं—"अन्तर्ज्ञेय रूप की ही बहिर्वत् प्रतीति होती है"। (१) उनका आक्षेप है कि यदि बाह्य पदार्थ नहीं हैं तो यह क्यों कहा जाता है कि "बहिर्वत्" प्रतीति होती है? 'आन्तर विज्ञान ही ऐसा भासित होता है मानों वह बाह्य पदार्थ हो'—यह कथन ही इस बात को सिद्ध करता है कि बाह्य पदार्थ हैं, अन्यथा 'बहिर्वत्' कहने की क्या आवश्यकता? यह तो कोई नहीं कहता कि 'विष्णुमित्र वन्ध्यापुत्रवत् प्रतीत होता है'। सत्ता के बिना समानता नहीं हो सकती, विधि के बिना विकल्प नहीं हो सकता, प्रमा के बिना शङ्का नहीं हो सकती। संभव और असंभव, प्रमाण की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति पर निर्भर हैं न कि प्रमाणप्रवृत्ति और प्रमाणाप्रवृत्ति संभव और असंभव पर। वह वस्तु संभव है जो प्रमाण द्वारा सिद्ध हो सके और वह वस्तु असंभव है जो प्रमाण द्वारा सिद्ध न की जा सके। (२) बाह्य पदार्थ समस्त प्रमाणों द्वारा सिद्ध हैं अतः उनका अपलाप नहीं हो सकता। (३)

---

(१) 'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते' (आलम्बनपरीक्षा) २।२।२८

(२) न हि विष्णुमित्रो बन्ध्यापुत्रवदभासत इति कश्चिदाचक्षीत। प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवावधार्येते न पुनः संभवासंभवपूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती। २।२।२८

(३) वहीं

शङ्कराचार्य धर्मकीर्ति की कारिका उद्धृत करते हैं जिसमें कहा गया है कि "अद्वय विज्ञानात्मतत्व ही अविद्यादुष्टदृष्टि वाले लोगों को ऐसा प्रतीत होता है मानों वह ग्राह्यसंवित्ति और ग्राहकसंवित्ति रूपी द्वैतयुक्त हो"। (१) जिस दृष्टिकोण से शंकराचार्य आचार्य दिङ्नाग की कारिका का कि "अन्तर्ज्ञेयरूप ही बहिर्वत् प्रतीत होता है" खण्डन करते हैं, उसी दृष्टिकोण से वे आचार्य धर्मकीर्ति की उपर्युक्त कारिका का भी खण्डन करते हैं। उन्हें दिङ्नाग का "बहिर्वत्" और धर्मकीर्ति का "भेदवानिव" रुचिकर नहीं है। उन्हें 'वत्', 'इव', 'मानों' इन शब्दों के प्रयोग पर घोर आपत्ति है। यहां पर शंकराचार्य का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक वस्तुवाद (Psychological Realism) का है। इस दृष्टिकोण से न तो बाह्य पदार्थों का, अनुभवसिद्ध एवं सर्वप्रमाण-सिद्ध होने के कारण, अपलाप किया जा सकता है और न उनका विज्ञान-ग्राह्य होना उनके विज्ञानांश होने का प्रमाण हो सकता है। क्योंकि सत्ता के बिना समानता नहीं हो सकती इसलिये 'वत्', 'इव' 'मानों' आदि शब्द बाह्य पदार्थों की सत्ता को ही सिद्ध करते हैं। अतः उनके विचार से 'बहिर्वत्' के स्थान में 'बहिरेव' और 'भेदवानिव' के स्थान में केवल 'भेदवान्' कहना चाहिये। 'विज्ञानतत्व ही बाह्य पदार्थों के रूप में भासित होता है'—यह कथन निर्दोष है। (२)

शंकराचार्य इससे सहमत हैं कि विशुद्धविज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व ही अविद्या के कारण युष्मत्-अस्मत्-प्रत्यय-गोचर, ग्राह्य-ग्राहक-द्वैत-युक्त, विषय-विषयि-भेदवान् जगत् प्रपञ्च रूप में भासित होता है। वे व्यक्ति-

---

(१) "अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥"
(प्रमाणवार्तिक ३, ३५४) उपदेशसाहस्री में उद्धृत
१८. १४२

(२) बहिरेवावभासत इति युक्तमभ्युपगन्तुं न तु बहिर्वदवभासत इति।
—शारीरकभाष्य २।२।२८

गत मनो-विज्ञानवाद (Subjective Idealism) के विरुद्ध हैं और व्यवहार दशा में आन्तर ज्ञाता और बाह्य ज्ञेय, 'अस्मत्' और 'युष्मत्', 'मैं' और 'तुम', विषयी और विषय, ग्राहक विज्ञान और ग्राह्य पदार्थ दोनों की पृथक् सत्ता के प्रबल पोषक हैं।

शंकराचार्य जागरितावस्था और स्वप्नावस्था को समान नहीं मानते। स्वप्नदृष्ट पदार्थ जागरितावस्था में बाधित हो जाते हैं, किन्तु जागरितावस्था में उपलब्ध पदार्थों का व्यवहार दशा में बाध नहीं होता। स्वप्न व्यष्टिगत होते हैं; जागरितावस्था समष्टिगत है। स्वप्नावस्था जीवाश्रित है; जागरितावस्था ईश्वराश्रित है। स्वप्नों की स्मृति होती है; जागरितावस्था में प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। अतः दोनों अवस्थायें विज्ञानाश्रित होने के कारण ही समान नहीं मानी जा सकतीं। व्यवहारदशा में, स्वप्न और जाग्रत् के अन्तर को प्रत्यक्ष अनभव करते हुये भी, यह कहना कि जागरितावस्था की उपलब्धि स्वप्नावस्था की उपलब्धि के समान उपलब्धि के होने कारण मिथ्या है, अयुक्त होगा। (१)

पुनश्च, बौद्धों का यह कथन, कि विज्ञानबहुत्व का कारण वासनाबहुत्व है न कि बाह्यार्थबहुत्व अर्थात् विज्ञानों का भेद वासनाओं के भेद के कारण होता है बाह्य पदार्थों के भेद के कारण नहीं, असत्य है क्योंकि यदि बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार नहीं की जायगी तो वासनाओं की उत्पत्ति ही न हो सकेगी। और वासनाओं को अनादि मानने से भी काम नहीं चलेगा क्योंकि अनादि वासनापरम्परा अन्ध-परम्परा के समान अनवस्था को जन्म देगी तथा जगत् के समग्र व्यवहार को नष्ट कर देगी। और फिर वासनाओं को, जो मानसिक विकाररूप हैं, रहने के लिये कोई स्थान भी तो चाहिये। बौद्धमत में वासनाओं के लिये कोई अधिकरण नहीं है। आलयविज्ञान भी प्रवृत्तिविज्ञान के समान, क्षणिक होने के कारण

---

(१) न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवत् इत्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता।—वहीं २।२।२९

वासनाओं का अधिकरण नहीं बन सकता। (१) अतः विज्ञानभेद बाह्यार्थ-भेद पर निर्भर है और बाह्य पदार्थों की सत्ता को सिद्ध करता है।

शंकराचार्य कहते हैं कि उनका सर्वास्तिवाद के क्षणिकवाद का खण्डन विज्ञानवाद के क्षणिकवाद पर भी पूर्णतया लागू है। (२) क्षणिक विज्ञान अपने आपको नहीं जान सकते। क्षणिक विज्ञान अपना ही ज्ञान करने में सर्वथा असमर्थ हैं। क्षणिक विज्ञान बिखरे हुये मोतियों की भाँति उपयोगहीन निरर्थक समूहमात्र हैं। उन्हें उपयुक्त और सार्थक बनने के लिये नित्य साक्षिचैतन्यरूप अन्तर्यामी सूत्रात्मा की नितान्त अपेक्षा है। नित्य साक्षि-चैतन्य के बिना बौद्धों की विज्ञानभेदप्रतिज्ञा, क्षणिकत्वप्रतिज्ञा, स्वलक्षण-सामान्यलक्षणप्रतिज्ञा, ग्राह्यग्राहकप्रतिज्ञा, अविद्योपप्लवप्रतिज्ञा, सदसद्धर्म-प्रतिज्ञा, बन्धमोक्षप्रतिज्ञा आदि आदि सब प्रतिज्ञायें नष्ट हो जाती हैं। (३)

पुनश्च, बौद्धों का यह कथन, कि क्षणिक विज्ञान स्वप्रकाश होने के कारण, दीपक के समान, अपने आपको प्रकाशित करता है, उतना ही हास्यास्पद है जितना यह कथन कि अग्नि अपने आपको जलाती है। इसके उत्तर में विज्ञानवादी कहता है कि विज्ञान को स्वप्रकाश न मानने पर अनर्थ हो जायगा। यदि विज्ञान को अपने ज्ञान के लिये किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा हो तो इस दूसरी वस्तु को भी अपने ज्ञान के लिये किसी तीसरी वस्तु की अपेक्षा होगी और इस प्रकार अनवस्थादोष आ जायगा। इस अन-वस्थादोष से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि विज्ञान को दीपक के समान स्वप्रकाश माना जाय। इसके उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि उपयोगहीन निरर्थक विज्ञानसमूह को एकत्रित करके उसे उपयुक्त और सार्थक बनानेवाले नित्य साक्षिचैतन्यरूप आत्मा को ही दीपक के समान स्वप्रकाश कहलाये जाने का अधिकार है, क्षणिक विज्ञान को नहीं।

---

(१) वहीं २।२।३१
(२) वहीं
(३) वहीं २।२।२८

साक्षिचैतन्य ही क्षणिक विज्ञानों का ग्रहीता एवं ज्ञाता है। इस ज्ञाता के आगे क्षणिक विज्ञान ज्ञेय मात्र है। वास्तव में नित्य आत्मा ही समस्त वस्तुओं का ज्ञाता है। क्षणिक विज्ञान भी अन्य घटपदादि ज्ञेय पदार्थों के समान, नित्य आत्मा के लिये, एक ज्ञेय पदार्थ है। यह नित्य आत्मा स्वप्रकाश और स्वयंसिद्ध है। इसे अपने प्रकाश और ज्ञान के लिये किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है। अतः अनवस्था दोष नहीं आ सकता। इस स्वयंसिद्ध साक्षी का कदापि निराकरण नहीं हो सकता। (१) हमारा साक्षी बौद्धों के विज्ञान से भिन्न है क्योंकि बौद्धों के विज्ञान क्षणिक हैं, हमारा साक्षी नित्य है; बौद्धों के विज्ञान निरर्थक और उपयोगहीन बिखरे मोती हैं, हमारा साक्षी उन्हें एकत्रित करके उन्हें सार्थक और उपयुक्त बनाता है, सूत्ररूप से उनमें अन्तर्यामी होकर उनका हार बनाता है; बौद्धों के विज्ञान ज्ञेय हैं, हमारा साक्षी ज्ञाता है, बौद्धों के विज्ञान अनेक हैं, हमारा साक्षी एक, अद्वय है; बौद्धों के विज्ञान ज्ञातृसापेक्ष हैं, हमारा साक्षी स्वप्रकाश और स्वयंसिद्ध है। अतः हमारा नित्य, स्वप्रकाश तथा स्वयंसिद्ध साक्षिचैतन्य न तो तथाकथित स्वप्रकाश और स्वयंसिद्ध प्रच्छन्न बौद्धविज्ञान है और न वह बौद्धविज्ञान का रूपान्तर या संशोधित संस्करण ही है। (२) इस द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं हो सकता; इस ज्ञाता के ज्ञान का निराकरण नहीं हो सकता; इस स्वयंप्रकाश और स्वयंसिद्ध साक्षी का खण्डन नहीं हो सकता क्योंकि यही तो सम्पूर्ण खण्डन-मण्डन का आधार है। जिस प्रकार मृतक मनुष्य में फिर प्राण नहीं लाये जा सकते उसी प्रकार

---

(१) स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्।—वहीं

(२) साक्षिणोऽवगन्तुः स्वयंसिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रथते विज्ञानमित्येष एव मम पक्षस्त्वया वाचोयुक्त्यन्तरेण आश्रित इति चेत् न, विज्ञानस्योत्पत्ति-प्रध्वंसानेकत्वादिविशेषवत्वाभ्युपगमात्।—वहीं,

सैकड़ों बौद्ध मिलकर भी इस स्वयंसिद्ध साक्षी को असिद्ध या अन्यथासिद्ध नहीं कर सकते। (१)

शंकराचार्य कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार स्वप्रकाश चिद्रूप विज्ञान ही स्वाकार और विषयाकार दोनों रूपों में प्रतीत होता है। क्षणिक एवं विशुद्ध स्वच्छीभूत विज्ञान विषयी और विषय, ग्राहक और ग्राह्य, आन्तर और बाह्य, ज्ञाता और ज्ञेय रूपी द्वैत में भासित होता हुआ भी अपने निज वास्तविक स्वरूप में ग्राह्यग्राहकद्वैतविनिर्मुक्त अद्वय है। (२) क्षणिकत्वदोषदुष्ट होने से शंकराचार्य इन सब कल्पनाओं को वैदिक कल्याण-मार्ग में बाधक समझते हैं। (३) पहले कहा जा चुका है कि बिना साक्षि-चैतन्य के क्षणिक विज्ञान का कोई अर्थ और उपयोग नहीं। साक्षि-चैतन्य आत्मतत्व विज्ञानों का ग्रहीता है, विज्ञान उसके ज्ञेय हैं, और वह स्वप्रकाश और स्वयंसिद्ध है तथा क्षणिक विज्ञानों से भिन्न ज्योतिःस्वरूप है। (४) विज्ञानों को सूत्रबद्ध करके उपयुक्त एवं सार्थक बनाने वाले इस साक्षिचैतन्य के लिये घट-पटादि अन्य ज्ञेय पदार्थों के समान विज्ञान भी ज्ञेय पदार्थ हैं (५) यदि क्षणिक विज्ञान को ही तत्त्व मान लिया जाय तो विज्ञान के घटपटादिवत् ज्ञेय हो जाने के कारण ज्ञाता और ज्ञेय का भेद लुप्त हो जायगा। इतना

---

(१) न हि तत् सिद्धं मृतमिवोज्जीवयितुं पुनरन्यथाकर्तुं शक्यते वैनाशिकशतैरपि।—प्रश्नभाष्य ६, २

द्रष्टव्य: बृहदारण्यकभाष्य ४।३।१०; ४।४।२५; मुण्डकभाष्य १।१।६; केनपदभाष्य २, ४।

(२) बृहदारण्यकभाष्य ४।३।७

(३) सर्वा एताः कल्पनाः......श्रेयोमार्गस्य प्रतिपक्षभूता वैदिकस्य।
—वहीं

(४) विज्ञानस्य ग्रहीता स आत्मा ज्योतिरन्तरं विज्ञानात्।—वहीं

(५) विज्ञानं घटः पट इत्येवमादीनां......पर्यायशब्दत्वं प्राप्नोति।
—वहीं

ही नहीं, ज्ञातृ-ज्ञेयभेद के लुप्त होते ही साधन और साध्य, कर्म और फल, बन्ध और मोक्ष, आदि समस्त व्यवहार-लोप-प्रसङ्ग आ जायगा। कृतविप्रणाश, अकृताभ्यागम, उपदेशशास्त्रानर्थक्य आदि दोष उपस्थित हो जायगें। (१) साक्षिचैतन्य ही स्वप्रकाश और चिद्रूप हो सकता है, क्षणिक विज्ञान नहीं। अतः स्वयंसिद्ध साक्षी की, जो नित्य और विशुद्धविज्ञान रूप है तथा क्षणिक विज्ञानों का ज्ञाता है, सत्ता अवश्यमेव स्वीकार करनी पड़ेगी। (२)

अब यह देखना कठिन न होगा कि "विज्ञानवाद" के नाम से शंकराचार्य जिस वाद का उल्लेख, स्पष्टीकरण और खण्डन करते हैं वह वाद वास्तव में लंकावतार, असङ्ग और वसुबन्धु का विज्ञानवाद नहीं है, किन्तु दिङ्नाग धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और कमलशील का स्वतंत्र-विज्ञानवाद या सौत्रान्तिक-योगाचार मत है। शंकराचार्य की कृतियों में हमें कहीं भी लंकावतारसूत्र तथा असंग और वसुबंधु के ग्रन्थों में से कोई उद्धरण या उनके सिद्धान्तों का उल्लेख तक नहीं मिलता; किन्तु शंकराचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की कारिका उद्धृत करते हैं, शान्तरक्षित के आक्षेपों को प्रस्तुत करते हैं और उसका खण्डन करते हैं यद्यपि वे किसी का नाम नहीं लेते। (३) यह भी स्पष्ट है कि पूर्वपक्ष में "विज्ञानवाद" के नाम से वर्णित मत वास्तव में स्वतंत्र-विज्ञानवाद के मूल सिद्धान्तों का स्पष्ट और सत्य उल्लेख है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि स्वतन्त्रविज्ञानवादी शंकराचार्य के निकटपूर्व-वर्ती थे। ये सब बातें हमारे विचार को पुष्ट करती हैं कि शंकरकृत विज्ञान-वादखण्डन वास्तव में स्वतन्त्रविज्ञानवादखण्डन है; लंकावतार, असंग और वसुबन्धु का वास्तविक विज्ञानवाद इस खण्डन से निरस्त नहीं होता।

ऐसे आक्षेप जैनों ने भी किये हैं। उदाहरणार्थ देखिये—

(१) कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभंगदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभंगमिच्छन् अहो महासाहसिकः परस्ते॥
—हेमचन्द्र: अन्ययोगव्यवच्छेदिका, १८

(२) शारीरकभाष्य २।२।२८; बृहदारण्यकभाष्य ४।३।७

(३) देखिये ऊपर पृ० १७६, १८५-८

(घ) विज्ञानवाद और गौडपादाचार्य के सिद्धान्तों का संशोधन तथा विकास —

हम ऊपर बता चुके हैं कि शंकराचार्यकृत "विज्ञानवाद" का खण्डन, वास्तविक विज्ञानवाद का नहीं अपितु स्वतन्त्रविज्ञानवाद का खण्डन है। किन्तु जिन सिद्धान्तों में विज्ञानवाद का स्वतन्त्रविज्ञानवाद से मतैक्य है उन सिद्धान्तों में तथा उन उन अंशों में विज्ञानवाद पर भी यह खण्डन लागू है। परन्तु यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यहाँ पर शंकराचार्य के खण्डन का विशेष प्रभाव और महत्व नहीं रहता क्योंकि किसी न किसी रूप में स्वयं शंकराचार्य भी उन सिद्धान्तों से सहमत हैं।

दिङ्नागाचार्य की "आलम्बनपरीक्षा", जिसका शंकराचार्य खण्डन करते हैं, पूर्णतया मौलिक या स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। उसके सिद्धान्त प्रायः आचार्य वसुबन्धु के ग्रन्थों पर अवलम्बित हैं। वसुबन्धु ने विंशतिका और विंशतिकावृत्ति में वैशेषिक और वैभाषिक मतों के परमाणुवाद का प्रखर खण्डन किया है। हम यह भी जानते हैं कि आचार्य वसुबन्धु तथाकथित बाह्य पदार्थों को विज्ञानपरिणाममात्र कहते हैं और जागरितावस्था एवं स्वप्नावस्था को समान कोटि में रखते हैं। (१) हमें यह भी विदित है कि गौडपादाचार्य और आचार्य वसुबन्धु का कई अंशों में दृढ़ मतैक्य है। (२) अतः शंकराचार्य के आक्षेपों का आचार्य वसुबन्धु और गौडपाद पर भी आंशिक रूप में लागू हो जाना स्वाभाविक है। परन्तु यहाँ शंकराचार्य के आक्षेपों का विशेष प्रभाव नहीं रह जाता क्योंकि, प्रथम तो आचार्य वसुबन्धु और गौडपाद पदार्थो के 'बाह्यत्व" का खण्डन नहीं करते केवल उनके **विज्ञान-बाह्यत्व** का खण्डन करते हैं, और द्वितीय, वे विज्ञान को **नित्य** मानते हैं, क्षणिक नहीं। उनका मत 'व्यक्तिगत मनोविज्ञानवाद' (Subjective Idealism) नहीं है, किन्तु समष्टिगत विशुद्धविज्ञानवाद (Absolute

---

(१) देखिये ऊपर पृ० ८४

(२) ऊपर पृ० १४३-८

Idealism) है। (१) जब विशुद्ध और नित्य विज्ञानमात्र को ही अद्वय तत्व माना जाता है तथा जीव और जगत् को इस स्वप्रकाश एवं स्वतःसिद्ध विज्ञान का अविद्याजन्य आभास स्वीकार कर लिया जाता है तो शंकराचार्य के आक्षेप शिथिल हो जाते हैं क्योंकि स्वयं शंकराचार्य को ये सिद्धान्त सर्वथा मान्य हैं। शंकराचार्य का खण्डन क्षणिकविज्ञानवाद के लिये है। उनका मनोवैज्ञानिक वस्तुवाद (Psychological Realism) भी आचार्य वसुबन्धु के "परतन्त्र" और आचार्य गौडपाद के "व्यवहार" के विरुद्ध नहीं पड़ता है।

एक ओर आचार्य वसुबन्धु तथा गौडपाद और दूसरी ओर आचार्य शंकर के सिद्धान्तों में जो यह ऊपरी भेद दिखाई देता है वह भेद वास्तविक नहीं है, दिखावटी है; तात्विक नहीं है, सांवृतिक है; मौलिक नहीं है, बाह्य है; द्रव्यगत नहीं है, पर्यायगत है। यह भेद केवल आग्रह का या दृष्टिकोण का भेद है। वसुबन्धु और गौडपाद को, परिकल्पित और परतन्त्र का, प्रातिभासिक और व्यावहारिक का भेद सर्वथा मान्य है, यह ऊपर कहा जा चुका है। इन दोनों दृष्टिकोणों का साम्य केवल **जगत् के पारमार्थिक मिथ्यात्व के साग्रह प्रतिपादनार्थ** किया गया है। शंकराचार्य को यह बात अमान्य नहीं है, किन्तु उनका विशेष आग्रह—और इसमें उनकी महत्ता है—**जगत् के व्यावहारिक सत्यत्व के प्रतिपादन** पर है। अतः उक्त भेद केवल आग्रह का ही भेद है क्योंकि जो "पारमार्थिक मिथ्यात्व" है वही 'व्यावहारिक सत्यत्व' है। शंकराचार्य को 'विज्ञानबाह्य न होने के कारण तथाकथित बाह्य जगत् मिथ्या है' इस युक्ति द्वारा बाह्य जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन रुचिकर नहीं है। उनके लिये बाह्य जगत् सत्-असत्-और सदसत्-अनिर्वचनीय होने के कारण मिथ्या है। हम बतला चुके हैं कि इस सदसत्सदसदनिर्वचनीयमायावाद के बीज शून्यवाद और गौडपाद में प्रचुर

(१) वहीं, पृ० ६२-६६

मात्रा में उपलब्ध हैं। (१) शांकर वेदान्त ने वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्र को ब्रह्मन् या आत्मन् में, आलयविज्ञान को ईश्वर में, मनोविज्ञान को जीव में, विषयविज्ञप्ति को जगत् में और परिणाम को विवर्त में परिवर्तित कर दिया है। शंकराचार्य ने आचार्य नागार्जुन, वसुबन्धु और गौडपाद के सिद्धान्तों को परिमार्जित करके चरम विकास पर पहुँचा दिया है। उपनिषत् के बिखरे हुए तन्तुओं को, जिन्हें अनेक शून्यवादी, विज्ञानवादी और वेदान्तवादी आचार्यों ने एकत्रित, परिवर्द्धित और परिमार्जित कर पट के रूप में बुनने का श्लाध्य प्रयत्न किया, उन्हें पूर्णतया विशुद्ध, परिष्कृत तथा शोभनीय बना कर चिरकाल तक जिज्ञासुओं की आध्यात्मिक नग्नता और बर्बरता ढँकने के लिये सत्य, शिव और सुन्दर, शाश्वत अद्वैत वेदान्तपट के रूप में बुन देने में शंकराचार्य की विशाल विद्वत्ता, महनीय महत्ता और कमनीय कीर्ति है।

(ङ) शून्यवाद-खण्डन :—शंकराचार्य 'शून्य' शब्द को प्रचलित 'नितान्त असत्' के अर्थ में लेते हैं और शून्यवाद को कोरा असत्वाद कह कर घृणा के साथ तिरस्कृत कर देते हैं। शून्यवाद, उनके मत में, स्वतस्तिरस्कृत है। जब तक शून्यवादी किसी 'तत्व' की सत्ता स्वीकार न कर ले तब तक उसका समस्त व्यवहार का अपलाप कर देना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। (२) किन्तु शंकराचार्य इस बात को भूल जाते हैं या यह बात उन्हें विदित नहीं थी कि शून्यवादी 'तत्व' की सत्ता स्वीकार करता है। (३)

(च) बौद्धमत का सामान्यतः खण्डन :—शंकराचार्य का कथन है कि ज्यों ज्यों हम बौद्धमत की सूक्ष्म परीक्षा करते हैं त्यों त्यों ही वह सिकता-

---

(१) देखिये ऊपर पृ० १५२

(२) न ह्ययं सर्वप्रमाणप्रसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत्तत्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुम्।—शारीरक भाष्य २।२।३१

(३) माध्यमिककारिका १८,९

कूप के समान गिरता जाता है। उसकी कोई दृढ़ आधारशिला नहीं है। अतः उसमें न तो सत्य है और न वह व्यवहार के ही योग्य है। बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन तीन परस्पर विरुद्ध मतों का उपदेश करके बुद्ध ने अपनी स्वाभाविक 'असम्बद्धप्रलापता' का परिचय दिया है ताकि उनके शिष्य इस असमंजस द्वारा मोह में फँसे रहें। अतः श्रेयस्काम पुरुषों द्वारा यह बौद्ध सिद्धान्त सर्वथा अनादरणीय है। (१)

स्पष्ट है कि शंकराचार्य में बौद्धमत के प्रति प्रबल घृणा और द्वेष है। वे केवल बौद्धों के प्रति ही नहीं अपितु भगवान् बुद्ध के प्रति भी कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं। गौडपादाचार्य के भाव लुप्त हो गये हैं।

अब शंकरकृत बौद्धमतखण्डन के विषय में भी कुछ विचार प्रकट कर देना आवश्यक है। स्पष्ट किया जा चुका है कि शंकराचार्य शून्यवाद का कोई खण्डन नहीं करते। वे उसे केवल सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध स्वतस्तिरस्कृत असत्वाद कह कर टाल देते हैं। (२) 'शून्य' शब्द का प्रचलित अर्थ इसमें उन्हें पूर्ण सहयोग देता है। जब वे कहते हैं कि शून्यवादी तत्व की सत्ता स्वीकार किये बिना व्यवहार का अपलाप नहीं कर सकता, तब वे इस बात को मान लेते हैं कि शून्यवाद में किसी 'तत्व' की सत्ता स्वीकृत नहीं है। किन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। हमारे शून्यवाद के वर्णन से सिद्ध है कि शून्यवादी को 'तत्व' की सत्ता मुक्तकण्ठ से मान्य है। स्वयं आचार्य नागार्जुन ने 'तत्व' का लक्षण करते हुए कहा है कि परमार्थ-स्वरूप तत्व अपरप्रत्यय, शान्त, निष्प्रपञ्च, निर्विकल्प और अनानार्थ है।(३)

---

(१) सर्वथाप्यनादरणीयोयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैः। शारीरकभाष्य २।२।३२

(२) शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते।—वहीं २।२।३१

(३) अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्वस्य लक्षणम्॥
—माध्यमिककारिका, १८,९

अतः सिद्ध है कि या तो शंकराचार्य को शून्यवाद के सिद्धान्त ज्ञात न थे और या उन्होंने शून्यवाद को अपने वेदान्त की पूर्वभूमि होने के कारण अखण्ड्य समझकर 'शून्य' शब्द के भ्रान्त किन्तु प्रचलित अर्थ से लाभ उठाकर उसे बड़ी सफाई से टाल दिया है। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि शंकराचार्य ने, जैसा हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं, असंग और वसुबन्धु के वास्तविक विज्ञानवाद का भी कोई खण्डन नहीं किया है। जहाँ तक बाह्यार्थ-वाद या सर्वास्तिवाद के खण्डन का प्रश्न है, हम जानते हैं कि हीनयान के इस सम्प्रदाय का महायान के आचार्यों ने भी प्रखर खण्डन किया है। अतः शंकराचार्य का खण्डन, उचित होते हुये भी, नूतन नहीं है। इस-लिये सिद्ध है कि शंकराचार्य का खण्डन वास्तव में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित के स्वतन्त्रविज्ञानवाद के प्रति, विशेषतः उनके व्यक्तिगत तथा क्षणिक विज्ञान के प्रति है एवं यह खण्डन पूर्णतया सार्थक, युक्त और समीचीन है।

अब हम शंकराचार्य के परमतखण्डन से उनके स्वमतमण्डन की ओर अग्रसर होते हैं।

माया और ब्रह्म :—शंकराचार्य अपने शारीरकभाष्य के प्रारंभ में कहते हैं कि जीव और जगत्, विषयी और विषय, प्रकाश और अन्धकार के समान, परस्पर अत्यन्तविरुद्ध धर्मवाले हैं। विषयी चेतन है; विषय जड है। एक 'अस्मत्' है; दूसरा 'युष्मत्' है। अतः चिदात्मक द्रष्टा और जडरूप दृश्य का एक दूसरे पर आरोप नहीं किया जा सकता और न उनके परस्पर विरुद्ध धर्मों का ही एक दूसरे पर आरोप हो सकता है। तथापि अत्यन्त भिन्न विषयी और विषय का एवं उनके परस्पर भिन्न धर्मों का एक दूसरे पर अध्यास करना स्वाभाविक व साधारण लोकव्यवहार है। "मैं" और "तुम", विषयी और विषय, चेतन और जड, द्रष्टा और दृश्य का एवं उनके परस्पर विरुद्ध धर्मों का एक दूसरे पर आरोप अर्थात् सत्य और अनृत का मिश्रण जिस पर "यह मैं हूँ" "यह मेरा है" कहने वाला लोकव्यवहार टिका हुआ है, अध्यास, भ्रम, भ्रान्ति, माया, अविद्या आदि नामों से निर्दिष्ट किया जाता है। एक

वस्तु का, अपना स्वरूप छिपाकर, किसी दूसरी वस्तु के रूप में प्रतीत होना अध्यास कहलाता है जैसे शुक्ति का रजत के रूप में या रज्जु का सर्प के रूप में प्रतीत होना। इसी को पंडित लोग अविद्या कहते हैं। विवेक द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान लेने का नाम विद्या है। विषयत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक अनर्थों व समस्त सांसारिक व्यवहारों के मूल कारण इस अध्यास या अविद्या को आत्मैक्यविद्या द्वारा नष्ट कर देने के लिये वेदान्तशास्त्र प्रारंभ होते हैं। (१)

शंकराचार्य जगत् की किसी स्वतन्त्र प्रागवस्था को उसके कारणरूप से ग्रहण नहीं करते। ऐसा करना सांख्य के प्रधानकारणवाद को स्वीकार करना हो जायगा, किन्तु आचार्य को जगत् की परमेश्वराधीन प्रागवस्था स्वीकृत है। इसी को मूलाविद्या या मायाशक्ति कहते हैं। इसी से ईश्वर का स्रष्टृत्व सिद्ध होता है। इसी से जीवत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बन्ध, मोक्ष, आदि समस्त सांसारिक व्यवहार सिद्ध होते हैं। यह ईश्वराधीन और अव्यक्त है। यह बीज शक्ति रूप है। इसी को महासुप्ति कहते हैं क्योंकि संसारी जीव अपने स्वरूप को भूल कर इसी गाढ़ निद्रा में सोते रहते हैं। तत्व और अन्यत्व, सत् और असत् द्वारा अनिर्वचनीय होने से इसी को माया कहते हैं। अज्ञान होने के कारण यही अविद्या कहलाती है। यही द्वैत और नाना का मूलमंत्र है। इसी को प्रपञ्चमयी और मोहमयी भी कहते हैं। यही नामरूप-मय जगत् की जननी है। सदसदनिर्वचनीय होने के कारण यह अपने समस्त कार्यजाल सहित वास्तव में मिथ्या है। ईश्वर अपनी इस बीज शक्ति से स्वयं परिच्छिन्न होकर अनेक द्रष्टा जीवों और अनेक दृश्य पदार्थों के रूप में भासित होता है, जिस प्रकार कि महाकाश उपाधिभेद के कारण घटाकाश, मठाकाश आदि रूपों में प्रतीत होता है। जब आत्मैक्यविद्या का प्रादुर्भाव होता है तो अविद्या अपने कार्यजाल सहित विलीन हो जाती है। (२)

---

(१) शारीरकभाष्य १।१, उपोद्घात

(२) वहीं १।४।३, १।४।१०; २।१।१४

माया या अविद्या केवल अज्ञानरूप ही नहीं है, अपितु मिथ्याज्ञानरूप या मिथ्याचाररूप भी है। यह अभावात्मक ही नहीं; अपितु भावात्मक भी है। यह शक्तिरूप है। यह अनन्त को सान्त और अपरिछिन्न को परिछिन्न बना देती है। यह अद्वैत आत्मतत्व को द्वैत और नानारूप प्रपञ्च की भाँति प्रतीत कराती है। यह अभेद में भेद दिखाती है। फिर भी यह आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व का सत्य धर्म नहीं कही जा सकती क्योंकि यह विद्या द्वारा विलीन हो जाती है। 'अविद्या क्या है ?' 'क्यों है ?', 'किसकी है ?', 'इसका आश्रय क्या है ?', 'इसका विषय क्या है ?' आदि प्रश्न निरर्थक हैं, क्योंकि यदि अविद्या जान ली जाय तो ये प्रश्न भी स्वभावतः जान लिये जायँगे और यदि अविद्या नहीं जानी जा सके तो ये प्रश्न भी हल नहीं हो सकते। वास्तव में ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों है। (१) अविद्या तामस प्रत्यय है क्योंकि इसका स्वभाव वस्तुस्वरूप को आवृत करना है। आवरणशक्ति के अतिरिक्त यह विक्षेप शक्ति भी है क्योंकि यह अद्वैत तत्व को आवृत करके उसे प्रपञ्चात्मक जगत् के रूप में प्रतीत भी कराती है। यह तीन रूप लेती है— अग्रहण या आवरण, मिथ्याग्रहण या विपरीतग्रहण या विक्षेप, और संशय। किन्तु वास्तव में यह तत्व का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती। अविद्या के लिये वस्तुतत्व को विकृत या मलीन कर देना उतना ही असंभव है जितना मृगमरीचिका के लिये मरुभूमि को पंकिल बना देना। (२)

द्रष्टा जीव और दृश्य जगत् के रूप में प्रतीत होने वाले विश्व प्रपंच को शंकराचार्य कभी कभी गौडपादाचार्य और महायान के आचार्यों के समान असत् बताते हैं। शंकराचार्य के ग्रन्थों में विश्वप्रपंच को निर्दिष्ट करने के लिये मृगमरीचिका, रज्जुसर्प, शुक्ति-रजत, आकाशतलमलिनता, गन्धर्वनगर, माया, कदलीगर्भ, स्वप्न, जलबुद्बुद, फेन, अलातचक्र, मायानिर्मितहस्ती, द्विचन्द्रदर्शन, तैमिरिकदृष्टिसृष्टमशकमक्षिकादि, केशोण्डूक, इन्द्रजाल, आदि

---

(१) गीता भाष्य १३।२

(२) वहीं

शब्द भी उपलब्ध होते हैं। (१) हम जानते हैं कि ये शब्द महायानी आचार्यों ने और गौडापादाचार्य ने प्रचुरतया प्रयुक्त किये हैं। किन्तु फिर भी, जैसा हम पहले कह चुके हैं, ये शब्द संस्कृत भाषा की देन हैं, केवल बौद्ध दर्शन ने ही इन शब्दों के प्रयोग का ठेका नहीं ले रक्खा है। परन्तु इन शब्दों के प्रयोग से शंकराचार्य पर बौद्धदर्शन का प्रभाव पड़ना निःसन्देह सिद्ध होता है। शंकराचार्य की कृतियों में ऐसे भी स्थल मिलते हैं जिनको यदि महायान के ग्रन्थों में रख दिया जाय तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ लीजिये—आवागमनचक्र को जन्म देनेवाले, अव्यक्तादि और स्थावरान्त, व्याकृत और अव्याकृत रूप, बीज और अंकुर के समान एक दूसरे को जन्म देनेवाले, अनेक अनर्थों की जड़, कदलीगर्भके समान असार, माया—मरीचिका-गन्धर्वनगर-स्वप्न-जलबुद्‌बुद-फेन के समान असत्, प्रतिक्षण ध्वंस होनेवाले, अविद्याजन्य, रागद्वेषकामक्रोधादिदुष्टकर्मयुक्त, पापपुण्ययुक्त, द्रष्टा विषयी और दृश्य विषय के रूप में प्रतीत होनेवाले इन समस्त सांसारिक व्यवहारों को बहुत पीछे छोड़कर ब्राह्मण को निर्वेद की ओर बढ़ना चाहिये।'' (२) अन्य उदाहरण लीजिये—''संसार अनादि और अनन्त है तथा दुःखस्वरूप होने के कारण त्याज्य है; इसकी जननी अविद्या है और यह (प्रतिक्षण-परिवर्तनशील) नदी स्रोत के समान चलता रहता है।''(२)

---

(१) कठभाष्य १।३।१३; २।२।११; २।३।१; बृहदारण्यकभाष्य ४,४,६; मुण्डकभाष्य २।१।१०; १।२; प्रश्नभाष्य ६।४; गीताभाष्य १३।२६; २७, १५।३,४, शारीरकभाष्य २।१।६,१३,१४।

(१) लोकान् संसारगतिभूतान्...बीजांकुरवदितरेतरोत्पत्तिनिमित्तान् अनेकानर्थशतसहस्रसंकुलान् कदलीगर्भवदसारान् मायामरीच्युदकगन्धर्वनगराकारस्वप्नजलबुद्‌बुदफेनसमान् प्रतिक्षणप्रध्वंसान् पृष्ठतः कृत्वाऽविद्याकामदोषप्रवर्तितकर्मचितान् धर्माधर्मनिर्वर्तितान्...ब्राह्मणो निर्वेदमायात्।

—मुण्डकभाष्य १।२।१२

(२) संसारोऽनादिरनन्तो दुःखस्वरूपत्वात् हातव्यः...
नदीस्रोतोवदव्यवच्छेदरूपसम्बन्धः।—वहीं, १।२ उपोद्‌घात

"जिस प्रकार तैमिरिक पुरुष दृष्टिदोष के कारण मच्छर मक्खी जैसे काले काले पदार्थों को अपनी आँखों के सामने उड़ता हुआ देखता है या एक चन्द्रमा को दो चन्द्रमा देखता है, और जिस प्रकार स्वप्न देखने वाला पुरुष स्वप्न में अनेक पदार्थों की सृष्टि कर लेता है, उसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थ अविद्या-दोष के कारण दिखाई देते हैं।" (१) और भी, "जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक से माया की सृष्टि होती है, उसी प्रकार पुरुष से संसारमाया की उत्पत्ति होती है।" (२) "जिस प्रकार स्वयं प्रसारित माया से मायावी तीनों कालों में लिप्त नहीं हो सकता क्योंकि उसकी माया की कोई सत्ता नहीं, उसी प्रकार परमात्मा भी तीनों कालों में संसारमाया से लिप्त नहीं हो सकता।"(३)

हम देख चुके हैं कि महायानी आचार्य और गौडपादाचार्य का तात्पर्य संसार को नितान्त असत् सिद्ध करना नहीं है, तब मनोवैज्ञानिक वस्तुवाद के पोषक शङ्कराचार्य की तो बात ही क्या! उन आचार्यों के समान शङ्कराचार्य भी उपरिनिर्दिष्ट शब्दों का प्रयोग केवल संसार के पारमार्थिक मिथ्यात्व के प्रतिपादनार्थ करते हैं न कि संसार को नितान्त असत् सिद्ध करने के लिये। जब तक हम व्यावहारिक तल पर हैं तब तक संसार की सत्ता स्वीकार करनी ही होगी। संसार के व्यावहारिक मिथ्यात्व का

---

(१) एवमेताः कलाः प्राणिनामविद्यादिदोषबीजापेक्षया सृष्टाः तैमिरिकदृष्टिसृष्टा इव द्विचन्द्रमशकमक्षिकाद्याः स्वप्नदृक्सृष्टा इव च सर्वपदार्थाः।

—प्रश्नभाष्य ६।४

(२) पुरुषात् संसारमायावृक्षप्रवृत्तिः प्रसृता...ऐन्द्रजालिकाद् इव माया।

गीताभाष्य १५।४

(३) यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात् एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यते।

—शारीरकभाष्य २।१।९

प्रतिपादन असंभव है। व्यवहार में हमारा अकाट्य तर्क हमें विश्व की सत्ता बलात् स्वीकार कराता है। संसार को नितान्त असत् कहना तो बहुत दूर की बात है, शंकराचार्य तो भ्रान्ति, भ्रम और नितान्त असत् तक को किसी न किसी प्रकार की 'सत्ता' देते हैं। इस 'सत्ता' का नाम 'प्रातिभासिक सत्ता' है। तत्व स्वयं व्यवहार और प्रतिभास के रूपों में प्रतीत होता है। अतः बिना 'तत्व' के व्यवहार और प्रतिभास असंभव हैं। बिना 'सत्' के 'असत्' असंभव है। 'निषेध' अपने पूर्व 'विधि' की अपेक्षा रखता है। 'वन्ध्यापुत्र' या 'शशश्रृंग' की सत्ता व्यावहारिक जगत् में न सही, कम से कम हमारे कल्पना जगत् में तो है, और यदि 'वन्ध्या' और 'पुत्र', तथा 'शश' और 'शृंग' ये वस्तुयें पृथक पृथक् हमारे व्यावहारिक जगत् में न होतीं तो हमारे लिए 'वन्ध्यापुत्र' और 'शशशृंग' की कल्पना भी असंभव हो जाती। इसी तरह स्वप्नदृष्ट पदार्थ स्वप्नद्रष्टाके लिये सत्य हैं, स्वप्न समाप्त होकर जब जागरितावस्था प्रारंभ हो जाती है तभी उनकी असत्यता प्रतीत होती है। स्वप्न-जल स्वप्न की प्यास बुझाने में पूर्णतया समर्थ है यद्यपि वह व्यावहारिक-जगत् की प्यास नहीं बुझा सकता। जब तक रज्जु में सर्प की भ्रान्ति विद्यमान है तब तक वह रज्जु भी ठीक सर्प के समान भ्रान्त पुरुष को भयभीत करने में पूर्ण समर्थ है। स्वप्नदृष्ट सिंह की गर्जना से नींद खुल जाती है, दिल धड़क उठता है और रोमांच हो जाते हैं। स्वप्नावस्था से जागरितावस्था में और सर्प की भ्रान्ति से रज्जु के बोध में आकर भले ही हम अपनी मूर्खता पर हँस लें, परन्तु जब तक स्वप्न या भ्रान्ति बनी हुई है तब तक तो स्वप्नदृष्ट सिंह और रज्जु-सर्प भी हमें भयभीत कर देने के लिये पर्याप्त हैं। इसी प्रकार जब तक हम इस व्यावहारिक जगत् से ऊपर नहीं उठ जाते तब तक इसकी सत्ता स्वीकार करनी होगी। जब विद्या द्वारा अविद्या नष्ट हो जायगी तब अविद्या का कार्यभूत व्यावहारिक जगत् भी उड़ जायगा। जिस प्रकार वीचि, बुद्बुद, फेन आदि जल से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार जीव और दृश्य जगत् रूपी यह संसार भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। नानात्व अविद्याजन्य है ; तत्व अद्वय है।

प्रतिपक्षी का आक्षेप है कि असत् माया सत् ब्रह्म का व्यावहारिक जगत् के रूप में किस प्रकार भास करा सकती है, और असत् जीव असत् साधनों द्वारा क्योंकर सत् आत्मैक्य की प्राप्ति कर सकते हैं? जगत्, जीव और शास्त्र के मिथ्या होने पर ब्रह्मात्मैक्य की प्राप्ति भी मिथ्या हुई और उसका प्रतिपादन करने वाला सिद्धान्त भी मिथ्या हुआ। शंकराचार्य का उत्तर है कि कीचड़ में फंसा हुआ व्यक्ति कीचड़ का सहारा लेकर ही बाहर निकल सकता है, शरीर के भीतर चुभे हुये एक कांटे को निकालने के लिये दूसरे कांटे की आवश्यकता होगी; और अनेक ऐसे उदाहरण हैं जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि कभी कभी मिथ्या वस्तुएं भी सत् का बोध करा देती है जैसे दर्पण में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब स्वयं असत् होते हुये भी सत् बिम्ब का ठीक ठीक बोध करा देता है, स्वप्नदृष्ट सिंह की गर्जना असत् होते हुये भी स्वप्नद्रष्टा को भयभीत कर देती है और उसका स्वप्न भंग कर देती है, स्वप्नकृत सहवास असत् होने पर भी वास्तविक स्खलन कर देता है। (१) प्रतिपक्षी का आक्षेप व्यर्थ है क्योंकि हमें ब्रह्मात्मैक्यप्राप्ति न होने तक जगत् प्रपंच का व्यावहारिक सत्यत्व अभीष्ट है। जब तक ब्रह्मात्मैक्यज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक समस्त वैदिक और लौकिक व्यवहार सत्य हैं। (२)

प्रतिपक्षी पुनः आक्षेप करता है कि मिथ्या माया सत् ब्रह्म को असत् जगत् के रूप में प्रतीत करा दे, यह असंभव है। यदि जगत् असत् है तो वेदान्तशास्त्र जैसे असत् साधन सत् ब्रह्म का बोध नहीं करा सकते, और यदि जगत् सत् है तो माया नहीं हो सकता। या तो स्पष्ट स्वीकार करना चाहिये कि जगत् सत् है; अन्यथा ऐसा दर्शन, जो अपनी दयनीय असहायता प्रकट करते हुये केवल यही कह सके कि मिथ्या जीव मिथ्या जगत् में मिथ्या साधनों द्वारा मिथ्या मोक्ष प्राप्त करने का मिथ्या प्रयत्न कर

---

(१) शारीरकभाष्य २।१।१४; शतश्लोकी ३६, प्रबोधसुधाकर ९९—१०२

(२) प्राग् ब्रह्मात्मताप्रतिबोधात् उपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यावहारः। शरीर कभाष्य, २।१।१४

रहे हैं, स्वयं मिथ्या है। मिथ्या प्रयत्नों से सत् पदार्थ कभी प्राप्त नहीं हो सकता। क्या कभी किसी ने कहीं भी रज्जु-सर्प के काटे हुये को मरते देखा है? या कभी किसी ने कहीं भी मृगमरीचिका में स्नान किया है या उससे अपनी प्यास बुझाई है? (१)

शंकराचार्य का उत्तर है कि प्रतिपक्षी का आक्षेप उसकी अविद्या के कारण है। यदि कोई व्यक्ति अपने आपको किसी भयंकर विषैले सर्प से काटे जाने की कल्पना करले (यद्यपि उसको किसी विषहीन सर्प ने काटा हो) और यदि उसकी कल्पना अत्युत्कट हो तो कोई आश्चर्य नहीं यदि उसे मनोवैज्ञानिक सन्ताप के कारण जीवन तक से हाथ धो लेना पड़े। हम ऊपर बतला चुके हैं कि बहुधा असत् पदार्थों से सत् पदार्थं का बोध या प्राप्ति हो सकती है। स्वप्नदृष्ट सिंह की गर्जना स्वप्नद्रष्टा को भयभीत कर सकती है और स्वप्न-जल स्वप्न की प्यास बुझा सकता है। प्रतिपक्षी प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टिकोणों का भेद नहीं समझ रहा है। वह प्रातिभासिक को व्यावहारिक में और व्यावहारिक को पारमार्थिक में मिला रहा है। वह यह नहीं समझ पा रहा है कि प्रातिभासिक दृष्टिकोण का असत्यत्व व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही और व्यावहारिक दृष्टिकोण का असत्यत्व पारमार्थिक दृष्टिकोण से ही संभव है और अपने अपने स्थान में सभी दृष्टिकोण सत्य हैं। स्वप्न का असत्यत्व जागरितावस्था में ही प्रतीत हो सकता है और इस अवस्था में भी यद्यपि स्वप्नदृष्ट पदार्थों के सत्यत्व का बाध हो जाता है तथापि स्वप्नावगति का अर्थात् इस ज्ञान का कि स्वप्न में अमुक अमुक पदार्थं देखे, बाध नहीं होता। अतः ज्ञान का सत्यत्व और नित्यत्व स्वीकार करना पड़ता है। ज्ञान को निरर्थक या भ्रान्त नहीं कह सकते क्योंकि प्रथम तो ज्ञान अज्ञान की निवृत्ति करता है और द्वितीय, ज्ञान स्वयं बाधित नहीं

(१) कथं त्वसत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्येत? न हि रज्जुसर्पेण दष्टो म्रियते, नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाहनादि प्रयोजनं क्रियते।—वहीं

होता। अतः परमार्थ की प्राप्ति होने पर ही व्यवहार का बाध हो सकता है, पहले नहीं, और परमार्थ की प्राप्ति होने पर भी विशुद्ध ज्ञान का बाध नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयंसिद्ध साक्षिस्वरूप है। परमार्थ की प्राप्ति के पूर्व वेदान्त को व्यवहार का सत्यत्व सर्वथा मान्य है। (१)

जीव और ब्रह्म:—मायायुत ब्रह्म को सगुण ब्रह्म या अपर ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से जीव और ईश्वर में भेद है। पारमार्थिक दृष्टि से जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं—"जीवो ब्रह्मैव नापरः।" व्यावहारिक दृष्टि से, जीव और ईश्वर दोनों अविद्यायुत हैं; किन्तु ईश्वर की अविद्याशक्ति मूलाविद्या या माया कही जाती है और जीव की केवल अविद्या। ईश्वर अविद्या को अपने वश में रखते हैं; जीव को अविद्या अपने वश में कर लेती है। (२) ईश्वर पर अविद्या का अधिकार न होने से वे आनन्दमय हैं, जीव पर अविद्या सदा हावी रहती है अतः वह दुःखमय है। जीव अविद्या के कारण कर्ता और भोक्ता बनता है, पाप पुण्य में लिप्त होता है, दुःख सुख भोगता है; ईश्वर इन सबसे अस्पृष्ट हैं। मुण्डकोपनिषत् (३।१।१) में बताया गया है कि दो पक्षी जो सदा साथ साथ रहते हैं और एक दूसरे के परम मित्र हैं एक ही वृक्ष पर रहते हैं, किन्तु उनमें से एक तो (जीव) फल को मधुर समझ कर बड़े चाव से खाता है और दूसरा (ईश्वर) बिना खाये केवल देखा करता है। जीव भोगता है (पिबति); ईश्वर उसे भोग कराता है (पाययति)। जीव भोक्ता है; ईश्वर नियन्ता है। जीव कर्ता है; ईश्वर द्रष्टा है। कठोपनिषत् (१।३।१; ३।३।२४) में कहा है कि जीव छाया है, ईश्वर आतप है अर्थात् एक अन्धकार में है और दूसरा प्रकाश में है; फिर भी दोनों साथ साथ एक ही "गुहा" (हृदय) में रहते हैं। दोनों का कारण अविद्या है। किन्तु हैं दोनों भिन्न

---

(१) न चेयमवगतिरनर्थिका भ्रान्तिर्वेति शक्यं वक्तुम्। अविद्यानिवृत्तिफलदर्शनात् बाधकज्ञानान्तराभावात् च।—वहीं

(२) स ईशो यद् वशे माया स जीवो यस्तयार्दितः।

—छाया और आतप के समान। जब दोनों को "ऋतं पिबन्तौ" अर्थात् 'कर्म-फल को भोगने वाले' कहा गया है तो इससे यह नहीं समझना चाहिये कि ईश्वर भी भोक्ता है। यह छत्रिन्याय से कह दिया है। जैसे कुछ व्यक्ति छाता लगाये जा रहे हों और उनमें एक व्यक्ति बिना छाता वाला हो तो भी हम कह दिया करते हैं—'वे छाते वाले मनुष्य जा रहे हैं'।

किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं; निर्गुण और सगुण, निर्विशेष और सविशेष, पर और अपर ब्रह्म में अर्थात् मायातीत ब्रह्म और मायायुत ईश्वर में भी कोई भेद नहीं। अद्वैत में भेद कैसा? जब तक जीव अविद्याग्रस्त है और द्वैतप्रपंच में लिप्त है तब तक वह अपने स्वरूप को नहीं जानता। किन्तु ज्यों ही भगवती श्रुति उसे मोहनिद्रा से जगा देती है त्यों ही उसे आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है और वह स्वयं को, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे अद्वैत तत्त्व समझ लेता है तथा सदा अखण्ड आत्मानन्द में लीन हो जाता है। अविद्या के नष्ट होते ही अविद्या-जन्य कार्यजाल भी नष्ट हो जाता है और इसके नष्ट होते ही अहंकार एवं ममकार की कल्पनायें, जीव के 'जीवत्व', 'कर्तृत्व', 'भोक्तृत्व' आदि की मिथ्या कल्पनायें भी विलीन हो जाती हैं एवं जीवब्रह्मैकत्वज्ञान हो जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से तो बन्धन और मोक्ष दोनों ही मिथ्या हैं। और यह कथन भी कि विद्या द्वारा अविद्या के नष्ट होते ही जीव ब्रह्म हो जाता है, उपचारमात्र है क्योंकि वास्तव में 'जीव' ब्रह्म से भिन्न कुछ है ही नहीं और 'जीव' अपने 'जीवत्व' को छोड़ कर 'ब्रह्मत्व' का आलिंगन थोड़े ही करता है, क्योंकि वह तो सर्वदा ब्रह्मस्वरूप है ही। (१) जिस प्रकार निकटस्थ जपाकुसुम की लालिमा के कारण शुभ्र स्फटिक भी रक्त प्रतीत होता है अथवा जिस प्रकार निरंजन आकाश मलिन सा प्रतीत होता है अथवा जिस प्रकार रज्जु में सर्प की और शुक्ति में रजत की भ्रान्ति हो जाती है,

---

(१) बृहदारण्यकभाष्य ४।४।६
तुलनार्थ देखिये विंशतिका का० २६-२७

उसी प्रकार अद्वय आत्मतत्त्व भी अविद्या के कारण जीव प्रतीत होने लगता है। एक ही महाकाश उपाधिभेद से अनेक घटाकाशों के रूप में प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही आत्मतत्त्व अविद्या की उपाधि के कारण अनेक जीवों के रूप में प्रतीत होता है। जो लोग श्रुति में बन्ध और मोक्ष का पारमार्थिक सत्यत्व तथा जीव और ब्रह्म का पारमार्थिक भेद प्रतिपादित मानते हैं उनको शङ्कराचार्य "पण्डितापसद" कहते हैं। (१) सम्यक् दर्शन के प्रतिपक्षभूत ऐसे मिथ्यावादों का निराकरण करके आत्मैकत्व का प्रतिपादन करने वाले अद्वैतवाद की स्थापना करने के लिये, एवं यह सिद्ध करने के लिये कि एक ही कूटस्थ नित्य परमेश्वर स्वयंसिद्ध विशुद्ध विज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व है और यह "विज्ञानधातु" ही अविद्या के कारण अनेकधा प्रतीत होता है तथा इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा तत्त्व नहीं है, शंकराचार्य कहते हैं कि उन्होंने शारीरकभाष्य लिखा है। (२)

आत्मा और ब्रह्म :—आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं। दोनों ही विशुद्ध विज्ञान के नाम हैं। विशुद्ध विज्ञान स्वप्रकाश, स्वयंसिद्ध और विशुद्धसम्विद्रूप आत्मतत्त्व का नाम है जो युष्मत् और अस्मत्-प्रत्ययगोचर विषय और विषयी के द्वैत से एवं ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की व्यावहारिक त्रिपुटी से परे है और इस द्वैत तथा त्रिपुटी का अधिष्ठान है। मानवीय तर्क अपनी कोटियों के पंजों में इसे नहीं पकड़ सकता क्योंकि तर्क प्रत्येक पदार्थ को केवल विषय रूप से ही ग्रहण कर सकता है और यह विशुद्ध आत्मतत्त्व जो साक्षी द्रष्टा है कभी विषय नहीं बन सकता। इसी-

---

(१) गीताभाष्य १३।२

(२) तेषां सर्वेषामात्मैकत्वसम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानां प्रतिबोधायेदं शारीरकमारब्धम्। एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया ऽनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति।

—शारीरकभाष्य १।३।१९

लिये इसे चतुष्कोटिविनिर्मुक्त कहा गया है। सापेक्ष बुद्धि के समस्त निर्वचन इस आत्मतत्त्व के वर्णन में अपूर्ण रह जाते हैं। इसीलिये इसे अनिर्वचनीय कहा गया है। मानवीय बुद्धि की अपूर्णता और अव्यापकता उसका परम दुर्भाग्य है। बुद्धि के स्वभाव में सबसे बड़ा दोष यह है कि उसके समस्त कार्य द्वैत और प्रपञ्च में ही सम्भव है। बुद्धि का प्रसार द्वैत तक ही सीमित है। बुद्धि अपनी चार कोटियों के सहारे ही कार्य करती है और ये कोटियाँ विषयी और विषय के द्वैत पर आश्रित है। बुद्धिगम्य होने के लिये किसी भी पदार्थ को पहले ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी में फँसना होगा। बुद्धि ज्ञाता है; पदार्थ ज्ञेय है; और ज्ञाता तथा ज्ञेय की सम्बन्ध-क्रिया का नाम है ज्ञान। इस प्रकार बुद्धिगम्य और ज्ञेय दोनों पर्याय सिद्ध होते हैं। जब हम कहते हैं कि अमुक पदार्थ बुद्धिगम्य है तो इसका यही अर्थ होता है कि अमुक पदार्थ हमारी ज्ञाता रूपी बुद्धि द्वारा ज्ञेय है। किन्तु आत्मतत्त्व तो ज्ञाता ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी का आधार है; इसी अधिष्ठान पर तो त्रिपुटी का खेल हो रहा है। तब यह अधिष्ठान त्रिपुटी का अंग नहीं हो सकता अर्थात् आत्मतत्त्व स्वयं बुद्धिगम्य या ज्ञेय नहीं बन सकता क्योंकि यह अद्वैत और प्रपंचातीत है। बुद्धि केवल इसकी ओर संकेत कर सकती है, केवल यह बता सकती है कि यह आत्मतत्व बुद्धि और उसके द्वैत-प्रपंच से परे उसका आधार है। बुद्धि या जीव स्वयं ही अविद्याजन्य है और द्वैतप्रपंचान्तर्गत है। अद्वैत और स्वयंसिद्ध आत्मतत्त्व का स्पर्श करने का उसमें सामर्थ्य नहीं। उसका कार्य तत्त्व की ओर संकेत करने मात्र का ही है अतएव इस अनिर्वचनीय आत्मतत्त्व का सर्वोत्तम निर्वचन श्रुति ने 'नेति नेति' किया है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' का भी यही अर्थ है। जो सबका विज्ञाता है वह स्वयं ज्ञेय कैसे बने ? जो सबका द्रष्टा है वह स्वयं दृश्य कैसे बने ? जो समस्त द्वैतप्रपञ्च का अधिष्ठान है वह स्वयं द्वैतप्रपंचान्तार्गत कैसे हो ? इसीलिये श्रुति में "विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ?" कहा गया है। किन्तु यह अनिर्वचनीयता, यह 'नेति नेति' का संकेत स्वयं आत्मतत्त्व का निषेध या अपलाप नहीं करता क्योंकि आत्मतत्त्व विशुद्ध विज्ञान द्वारा साक्षात्

किया जा सकता है। इसके लिये बुद्धि को अपना कोटि-जाल छोड़ कर, द्वैत से ऊपर उठ कर विशुद्ध अद्वय ज्ञान बनना पड़ेगा। और यह असंभव नहीं है, क्योंकि जो वस्तु अविद्या के कारण बुद्धि या जीव रूप से भासित हो रही है वह वास्तव में विशुद्ध विज्ञान ही तो है। इस विशुद्ध विज्ञान को ही पर ब्रह्म कहते हैं। यही अद्वैत तत्त्व है। सब कुछ यही है और यही सब कुछ है। "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्"। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। द्वैत, भेद, प्रपञ्च मिथ्या है। यही आत्मतत्त्व है। यही साक्षी है। यही वास्तविक ज्ञाता है। बुद्धि या जीव व्यावहारिक ज्ञाता है। आत्मतत्त्व वास्तविक या पारमार्थिक ज्ञाता है। परमार्थ में त्रिपुटी नहीं है। अतः ज्ञाता और ज्ञान का भेद भी नहीं है। विशुद्ध ज्ञान ही विशुद्ध ज्ञाता या आत्मा है। ज्ञान और ज्ञाता में तादात्म्य सम्बन्ध है। इस आत्मतत्त्व का निषेध, निराकरण या अपलाप नहीं किया जा सकता क्योंकि निषेध, निराकरण या अपलाप की कल्पना भी इसी आत्मतत्त्व पर आश्रित है। विधि और निषेध दोनों इसी पर आधारित हैं। आत्मतत्त्व आगन्तुक नहीं है। यह स्वयंसिद्ध है क्योंकि स्वप्रकाश है। सम्पूर्ण प्रमाण इसी पर आश्रित हैं। इसका निराकरण असंभव है क्योंकि जो इसका निराकरण करना चाहता है वह स्वयं आत्मस्वरूप है। (१) आत्मा कूटस्थनित्य है। इसमें परिवर्तन के लिये कोई स्थान नहीं। यह सदा सर्वदा वर्तमान रहता है। अतः इसका अन्यथाभाव नहीं हो सकता। (२) द्रष्टा की दृष्टि का और ज्ञाता के ज्ञान का कभी लोप नहीं हो सकता क्योंकि उनमें तादात्म्य सम्बन्ध है (३) इसीलिये कहा गया है कि ब्रह्म को

---

(१) य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्।
—शारीरक भाष्य २।३।७

(२) न ज्ञातुरन्यथाभावोऽस्ति, सर्वदा वर्तमानस्वभावत्वात्।
—शारीरक भाष्य २।३।७

(३) नहि द्रष्टुर्दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते। बृहदारण्यक

जानने के लिये स्वयं ब्रह्म बनना पड़ता है (१) सापेक्ष बुद्धि का आधारभूत तत्त्व स्वयं निरपेक्ष और इसीलिये स्वतःसिद्ध है। (२)

ब्रह्म के सम्पूर्ण वर्णन अपूर्ण रह जाते हैं, अतः मानवीय बुद्धि केवल निषेध रूप से ही उसका वर्णन कर सकती है। "नेति नेति" से बढ़ कर भगवती श्रुति भी उसका वर्णन नहीं कर सकी। विधिरूप से हम ब्रह्म के विषय में अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि वह विशुद्ध सत्, चित्, और आनन्द है। किन्तु यह कथन भी, कथन होने के कारण, अपूर्ण ही है। ब्रह्म को द्रव्य, तथा सत्ता, चैतन्य और आनन्द को गुण नहीं मान सकते। और न ब्रह्म को विषयी, तथा सत्ता, चैतन्य और आनन्द को विषय ही मान सकते हैं। द्रव्य और गुण विषयी, और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय आदि की कल्पनायें सापेक्ष बुद्धि के द्वैत विकल्प तथा व्यावहारिक त्रिपुटी के अन्तर्गत हैं। प्रपञ्चान्तर्गत होने के कारण ये कल्पनायें प्रपञ्चातीत ब्रह्म पर नहीं लागू की जा सकतीं। सापेक्ष बुद्धि के विकल्प-जाल में निरपेक्ष ब्रह्म बद्ध नहीं हो सकता। बुद्धि अपने इस वैफल्य पर खीझ रही है और तर्क अपन द्वैत-शर से ब्रह्म-लक्ष्य को बेधने के अजस्र असामर्थ्य पर विमूढ़ है। त्रिगुणबद्ध बुद्धि के पास निस्त्रैगुण्य अद्वैत-शर कहाँ ? ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैतवृत्त में ही बुद्धिकार्य सीमित है। बुद्धि किसी भी वस्तु को बिना 'ज्ञेय' बनाये जान ही नहीं सकती और आदि ज्ञाता ब्रह्म कभी 'ज्ञेय' नहीं बन सकता। सापेक्ष बुद्धि के पास अपनी इस मौलिक लाचारी पर सिर धुनने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। (३)

द्वैत तो साधारणतया प्रत्यक्ष सिद्ध है ही। उसके उपदेश के लिए शास्त्र का क्या प्रयोजन ? अतः अद्वैत सिद्धि के लिये ही शास्त्र प्रवृत्त होता है। साधारण द्वैत की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके शास्त्र कहता है कि द्वैत

---

(१) ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

(२) यत् हि अनपेक्षं तत् स्वत एव सिद्धम्।—केन वाक्य भाष्य १।३.

(३) बृहदारण्यक भाष्य ३।६।२८

पारमार्थिक नहीं है। परमार्थ केवल ब्रह्म या आत्मतत्त्व है और वह अद्वैत है। ब्रह्म उपेय है और जीवब्रह्मैक्य का प्रतिपादन करनेवाली ब्रह्मविद्या उसका उपाय है। उपेय की प्राप्ति पर उपाय भी कृतकार्य होकर निष्प्रयोजन हो जाता है। किन्तु जब तक उपेय की प्राप्ति न हो, जब तक विशुद्ध विज्ञान द्वारा आत्मसाक्षात्कार न हो, तब तक बुद्धि तथा उसके समस्त-व्यवहाररूप उपाय का महत्त्व अक्षुण्ण है।

सत् और असत्, एक और नाना, गुणवत् और अगुण, सविशेष, और निर्विशेष, सबीज और निर्बीज, साकार और निराकार, शून्य और अशून्य आदि की सब कल्पनायें, यहाँ तक कि सत्, चित् और आनन्द आदि लक्षण भी ब्रह्मवर्णन में अपूर्ण हैं, क्योंकि ब्रह्म वाणी और बुद्धि के समस्त प्रत्ययों के ऊपर है, उनकी सीमा के बाहर है। ब्रह्म को जानने के लिये ब्रह्म बनना पड़ेगा। आत्मज्ञान के लिये सापेक्ष बुद्धि को प्रपञ्चातीत निरपेक्ष विज्ञान में परिवर्तित होना पड़ेगा। और यह परिवर्तन बुद्धि का 'विनाश' नहीं है, अपितु उसकी चरम सार्थकता है। जो मनुष्य सविकल्प बुद्धि के जाल में ब्रह्म को फँसाने की चेष्टा करता है वह अवश्य ही आकाश को चर्म के समान लपेटना चाहता है या आकाश में सीढ़ी लगाकर ऊपर चढ़ना चाहता है या आकाश में पक्षियों के और जल में मछलियों के चरणचिन्हों की खोज कर रहा है। (१) बुद्धि की इस मौलिक विफलता को बताने के लिये ही श्रुति "नेति नेति" कहकर चुप हो गई है। इसका तात्पर्य यह है कि जो भी वस्तु 'ज्ञेय' बन जाये वह परमार्थतः सत्य नहीं हो सकती। इसका तात्पर्य यह नहीं हैं कि ब्रह्म भी असत् है। "नेति नेति" ब्रह्म का निषेध नहीं करता। वह केवल इतना ही कहता है कि आदि ज्ञाता ब्रह्म स्वयं बुद्धि-ज्ञेय नहीं बन सकता। निषेध सदा विधि की अपेक्षा रखता है। बिना विधि के निषेध असंभव है। "नेति नेति" ब्रह्म के वर्णन में कहे गये सब विकल्पों का निषेध करता है किन्तु स्वयं ब्रह्म का निषेध नहीं करता। इसका तात्पर्य है कि *ब्रह्म है* किन्तु उसे *जैसा बुद्धि समझ रही है वैसा नहीं*

---

(१) ऐतरेय भाष्य २।१

है। कार्य का प्रतिषेध हो सकता है, कारण का नहीं क्योंकि कारण सत् और कार्य असत् है। आदिकारण ब्रह्म का प्रतिषेध नहीं हो सकता क्योंकि प्रतिषेध करनेवाला ही स्वयं ब्रह्म है। विधि और निषेध, सत् और असत्, व्याकरण और निराकरण आदि समस्त कल्पनायें बुद्धिजन्य हैं और ब्रह्म जो विशुद्ध विज्ञान स्वरूप आत्मतत्त्व है बुद्धि की समस्त कल्पनाओं का आधार है। (१)

ज्ञान और कर्म:—शंकराचार्य के अनुसार मुक्ति ज्ञान द्वारा ही संभव है, कर्म द्वारा नहीं। कर्म और उपासना उपादेय अवश्य हैं, किन्तु हैं गौण। कर्म और उपासना चित्तशुद्धि करके हमें ज्ञान-ग्रहण के योग्य बनाने में सहायक हैं। किन्तु मोक्ष का साधन तो केवल ज्ञान ही है। मोक्ष का अर्थ है अविद्या का दूर होना और अविद्या केवल विद्या द्वारा ही दूर हो सकती है। ज्ञान का अर्थ है विद्या और कर्म का अर्थ है अविद्या। अतः ज्ञान और कर्म का विरोध पर्वतवत् अकम्प्य है। (२) कठ में भी इन्हें "दूरमेते विपरीते विषूची" कहा गया है। आचार्य शंकर कहते हैं कि जो लोग ज्ञान और कर्म का समुच्चय करना चाहते हैं शायद उन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद् नहीं पढ़ा है और शायद वे श्रुति तथा स्मृति में बारम्बार प्रदिपादित ज्ञानकर्म-विरोध से भी अनभिज्ञ हैं। (३) ज्ञान और कर्म, प्रकाश और अन्धकार के समान, परस्पर विरुद्ध हैं। कर्म उनके लिए हैं जो अभी तक अविद्याग्रस्त हैं, सिद्ध पुरुषों के लिए कोई विधि और कोई निषेध नहीं है। (४) तथापि

---

(१) युक्तं च कार्यस्य नेति नेतीति प्रतिषेधनं न तु ब्रह्मणः सर्वकल्पना-मूलत्वात्। —शारीरकभाष्य ३।२।२२

(२) ईशभाष्य, २

(३) बृहदारण्यकभाष्य, २।४। उपोद्घात

(४) ईशभाष्य, २, ७, ८, ६, १८, केनवाक्यभाष्य, १। उपोद्घात; १, २, कठभाष्य १।२।१, १।२।४, मुण्डक भाष्य १। उपो०, ३।१।४, तैत्तिरीय भाष्य १।१ उपो०, छान्दोग्य भाष्य १।१। उपो०, बृहदारण्यक भाष्य १।४।७,१०; २।४। उपो०, ३।३। उपो०, गीताभाष्य, उपो०, २।१०, ६६, १८, ६३ आदि आदि

सिद्ध पुरुष लोककल्याणार्थ लोकसंग्रह करते हैं; उनकी स्थिति मात्र से लोककल्याण होता है जैसे सूर्य की स्थिति मात्र से प्रकाश। उनके कार्य निष्काम होते हैं। फल की उन्हें चाह नहीं। जीवन्मुक्त सिद्धों के निःसंग कर्मों से लोकसंग्रह की अनुपम धारायें फूटती हैं जैसे दिवाकर से प्रकाश की रश्मिधारायें। इसका प्रमाण है शंकराचार्य का कर्मिष्ठ जीवन और इसके साक्षी हैं सिद्ध पुरुषों के कर्म।

ज्ञान और मोक्षः--विधि और निषेध कर्मज हैं। ज्ञान या विद्या वस्तुतत्त्व का विधान या निषेध नहीं करती। ज्ञान ज्ञापक होता है, कारक नहीं। ज्ञान का कारकत्व केवल अज्ञाननिवृत्ति तक सीमित है। विद्या का काम अविद्या-निवृत्ति मात्र है। शाश्वतशान्तिदायक ब्रह्मज्ञान किसी कर्म की अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि ब्रह्म स्वयं वस्तुतत्त्व है। धार्मिक विधिनिषेध मानव कर्मों पर निर्भर होते हैं अतः श्रुति स्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थ विधि और निषेध की आज्ञा देते हैं। किन्तु ज्ञान का कार्य केवल बोध कराने का है। ब्रह्मज्ञान की परिसमाप्ति स्वानुभव या अपरोक्षानुभूति में होती है। उसका विषय है वस्तुतत्त्व। (१) कर्म, चाहे वे लौकिक हों चाहे वैदिक, सुकृत, विकृत और अकृत हो सकते हैं। विधि और निषेध, व्याकरण और निराकरण, नियम और अपवाद आदि बुद्धितन्त्र तथा कर्मसापेक्ष हैं। किन्तु ज्ञान केवल ज्ञापक होने के कारण वस्तुतन्त्र होता है, कर्मसापेक्ष नहीं। कोई भी कर्म सुकृत, विकृत या अकृत हो सकता है, किन्तु ज्ञान सुकृत, विकृत या अकृत नहीं हो सकता। कर्म आपकी इच्छा पर निर्भर हैं, किन्तु ज्ञान आपकी इच्छा पर निर्भर नहीं हैं। आप चाहें तो किसी कर्म को करें, चाहें तो उसे अन्यथा करें और चाहें तो न करें। किन्तु यदि आपके सामने एक मनुष्य खड़ा है और आपकी ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक कार्य कर रही हैं तो यह आपके हाथ की बात नहीं हैं कि आप चाहें तो उसे मनुष्य समझें, चाहें तो उसे गधा

---

(१) अनुभवावसानत्वात् भूतवस्तुविषयत्वात् च ब्रह्मज्ञानस्य।

—शारीरकभाष्य १।१।२

समझें और चाहें तो उसे कुछ न समझें। आपको उसे मनुष्य ही समझना होगा। ज्ञान को बनाना, बिगाड़ना या बदलना हमारे सामर्थ्य की बात नहीं है, क्योंकि ज्ञान पुरुषतन्त्र नहीं होता अपितु वस्तुतन्त्र होता है। ज्ञान हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं होता, किन्तु वस्तु पर निर्भर होता है। ब्रह्मज्ञान भी ब्रह्म पर निर्भर है, हमारी इच्छा पर नहीं। ब्रह्म वस्तुतत्व है जिसे हम बना, बिगाड़ या बदल नहीं सकते। अनुभवावसान, प्रमाणजन्य और वस्तुतन्त्र ज्ञान को न तो सैकड़ों विधियाँ बना सकती हैं और न सैकड़ों निषेध हटा सकते हैं। (१) ज्ञान में कोई क्रम और पौर्वापर्य भी नहीं होता है। जब ज्ञान उदय होता है तो सदैव के लिये उदय होता है और एक साथ बिना किसी क्रम के अज्ञान की निवृत्ति कर देता है। मोक्ष का अर्थ, मोक्ष के प्रतिबन्धस्वरूप अज्ञान की निवृत्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। यही आत्मज्ञान का फल है। यही आत्मज्ञान का कार्य है। अविद्याविनाश के अतिरिक्त ज्ञान कुछ नहीं करता और मोक्ष का अर्थ अज्ञाननिवृत्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। स्पष्ट है कि मोक्ष का साधन ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। (२) अज्ञान निवृत्ति होते ही मोक्ष भी यहीं और अभी, अत्रैव और अधुनैव, होता है। इसी का नाम जीवन्मुक्ति है। जीवन्मुक्त सिद्ध का पार्थिव शरीर से कोई सम्बन्ध, कोई अनुराग नहीं रहता। साँप की उतारी हुई केंचुल के समान सिद्ध का शरीर पड़ा रहता है। जिस प्रकार कुम्हार का चक्र, हाथ हटा लेने पर भी पूर्व वेग के कारण कुछ देर घूमता रहता है, उसी प्रकार सिद्ध का शरीर, जीवन्मुक्त हो जाने पर भी, प्राक्तनकर्मसंस्कार के कारण कुछ समय चलता रहता है, किन्तु इस समय में नूतनकर्मसंचय नहीं होता। (३) शरीर छूटने के बाद विदेहमुक्ति होती है।

---

(१) शारीरक भाष्य ३।२। २१

(२) वहीं १।१।१, ४,

(३) छान्दोग्यभाष्य ६।१४।२.

श्रुति, तर्क, ज्ञान और अनुभव:—भगवती श्रुति को भगवान् का निश्वास माना गया है—"यस्य निश्वसितं वेदाः"। अतः उसकी मान्यता सर्वजनीन है। आचार्य शंकर कर्मकाण्ड को गौण और ज्ञानकाण्ड को मुख्य मानते हैं। जो व्यक्ति शंकराचार्य को वेदों का अन्धविश्वासी भक्त मानते हैं वे या तो स्वयं अन्धविश्वासी हैं या शांकरवेदांत से अनभिज्ञ हैं। शंकराचार्य ज्ञानकाण्ड को अपने अन्धविश्वास के कारण महत्व नहीं देते, किन्तु उसे इसलिये महत्व देते हैं कि वह बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरता है। श्रुति-रत्न ऋषियों के बुद्धि-सागर के मन्थन से निकलते हैं। यहाँ मानवीय ज्ञान अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर अपनी असहायता को जान लेता है और स्वानुभूति रूपी विशुद्ध ज्ञान में लीन होने के लिये व्याकुल और आतुर हो उठता है। इसी सबल नींव पर शंकराचार्य अपने अद्वैत-दर्शनमन्दिर की प्रतिष्ठा करते हैं।

ब्रह्म-ज्ञान वेदान्तशास्त्रसिद्ध है। अतः श्रुति प्रबल प्रमाण है। तर्क को प्रमाण होने के लिये श्रुत्यविरोधि होना चाहिये। तभी उसका आदर किया जा सकता है। ब्रह्म, रूपादि के अभाव के कारण, अतीन्द्रिय है और अतीन्द्रिय होने के कारण लौकिक प्रत्यक्षगोचर नहीं है। ब्रह्म, लिंगादि के अभाव के कारण, निर्विशेष है और निर्विशेष होने के कारण अनुमान का विषय भी नहीं है। प्रत्यक्ष और अनुमान के व्यर्थ हो जाने पर श्रुति रूपी शब्दप्रमाण ही बलिष्ठ रह जाता है। (१) शंकराचार्य तर्क को प्रतिष्टित नहीं मानते क्योंकि वह मानवीय बुद्धि पर निर्भर है और मति-वैरूप्य, मति-विरोध, तथा मति बहुत्व स्पष्ट सिद्ध है ही। इसलिये तर्क को अनवस्थित और भ्रान्त कहा गया है। वह श्रुति को अन्यथा नहीं कर सकता। (२)

यहाँ पर यह ध्यान में रखना अत्यावश्यक है कि शंकराचार्य जब तर्क को

---

(१) शारीरक भाष्य २।१।११.

(२) न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुं पुरुषमतिवैरूप्यात्।—वहीं
तर्कस्त्वनवस्थितो भ्रान्तोऽपि भवति।—केनवाक्य भाष्य १.३.
संतुलनार्थ द्रष्टव्य महायानसूत्रालंकार १।१२, ऊपर पृ० ७६

अप्रतिष्ठित बतलाते हैं तब उनका तात्पर्य कुतर्क से है, वास्तविक तर्क या सुतर्क से नहीं। सुतर्क अप्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

शंकराचार्य कुतर्क की ही निन्दा करते हैं। उनका कथन है कि श्रुतिवचन कुतर्क से मृषा सिद्ध नहीं किया जा सकता। (१) तार्किकों का अन्तःकरण कुतर्क से दूषित हो जाता है। अतः वे अनागमज्ञ और दयनीय होते हैं। (२) बिना सींग पूँछवाले इन तार्किकवृषभों के अनुमानकौशल का क्या कहना! (३) ब्रह्मदुर्ग में प्रवेश करने का अधिकार उन्हीं को है जो सम्प्रदाय को जानते हैं तथा ईश-कृपा, आत्म-कृपा, शास्त्रकृपा, और गुरुकृपा के भागी हैं; तार्किकजन ब्रह्मदुर्ग में प्रवेश नहीं कर सकते। (४) आमिषार्थी हिंसक जन्तुओं के समान तार्किकजन परस्पर लड़ते झगड़ते हैं तथा केवल विवाद के निमित्त शुष्क विवाद किया करते हैं। मुमुक्षु पुरुष इनके चंगुल में न फँसकर वेदान्त दर्शन की ओर आदरपूर्वक आकृष्ट हों, इसीलिये शंकराचार्य विरोधी मतों के खण्डन में प्रवृत्त होते हैं, तार्किकों के समान व्यर्थ वादविवाद के लिये नहीं। (५) पूर्वोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि शंकराचार्य ने कुतर्क या व्यर्थ के शुष्क वादविवाद की ही निन्दा की है और उसे ही अप्रतिष्ठित बतलाया है, सुतर्क को नहीं।

---

(१) श्रुतेर्वचनं न कुतर्कबुद्ध्या मृषा कर्तुं युक्तम्।— छान्दोग्य भाष्य ८। १२। १

(२) कठभाष्य १। २। ९. बृहदारण्यक भाष्य २। १। २०

(३) अहो अनुमानकौशलं दर्शितमपुच्छश्रृंगैस्तार्किकबलीवर्दैः — बृह० २। १। २०.

(४) वही

(५) परस्पर विरुद्धार्थकल्पनात आमिषार्थिन इव प्राणिनोऽन्योन्यविरुद्धमानार्थदर्शित्वाद् दूरमेवापकृष्यन्ते। अतस्तन्मतमनादृत्य वेदान्तार्थतत्वमेकत्वदर्शनं प्रति आदरवन्तो मुमुक्षवः स्युरिति तार्किकमतदोषप्रदर्शनं किंचिदुच्यते अस्माभिः न तु तार्किकवत् तात्पर्येण।— प्रश्नभाष्य ६। ३.

सुतर्क या बुद्धि का व्यावहारिक दृष्टि से खण्डन नहीं किया जा सकता। श्रुति का अर्थ भी बुद्धिमान् प्रज्ञायुक्त मनुष्य ही जान सकता है, जानवर नहीं। महर्षि यास्क के अनुसार जो व्यक्ति वेद को पढ़कर रट लेता है किन्तु उसका अर्थ नहीं जानता, वह केवल एक कुली के समान वेद का बोझा अपने सिर पर लादे लादे फिरता है। (१) शंकराचार्य हमें केवल श्रद्धा और अन्ध-विश्वास के कारण श्रुति को मानने के लिये नहीं कहते। किसी भी गंभीर दार्शनिक विषय पर वे केवल श्रुति के उद्धरण से ही संतुष्ट नहीं हो जाते, अपितु उसके प्रतिपादनार्थ अकाट्य युक्तियाँ भी देते हैं। (२) यदि श्रुति का अन्य प्रमाण से विरोध हो तो उस श्रुति की विवेचना उस प्रमाणार्थ के प्रकाश में करनी चाहिये। यदि श्रुति का युक्ति से विरोध हो तो हमें युक्ति को ही प्रधान मानना चाहिये क्योंकि श्रुति की अपेक्षा युक्ति अनुभव के अधिक निकट होती है। (३) यदि सैकड़ों श्रुतियाँ भी एक स्वर से कहें कि अग्नि शीतल और अप्रकाशयुक्त है तो भी अनुभव-विरुद्ध होने के कारण हम उन्हें प्रमाणिक नहीं मान सकते। (४) यहाँ शंकराचार्य का धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित से मतैक्य है। (५) सत् और असत् के यथार्थ विवेचन के लिये बुद्धि ही प्रमाण है। (६) इस व्यावहारिक

---

(१) स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

(२) वाक्यनिरपेक्षः स्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेधः क्रियते। —शारीरक-भाष्य २। २। १

(३) प्रमाणान्तरविरोधे तद्वशेनैव श्रुतिर्नीयेत। दृष्टसाम्येन चादृष्टमर्थं समर्थयन्तो युक्तिरनुभवस्य सन्निकृष्यते विप्रकृष्यते तु श्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिधानात्। :—वही २।१।४

(४) नहि श्रुतिशतमपि शीतोऽग्निरप्रकाशो वेति ब्रुवत् प्रामाण्यमुपैति। —गीताभाष्य १८।६६

(५) देखिये ऊपर पृ० १०९

(६) बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे। —कठभाष्य ६।१२

जगत् में हम बुद्धि पर सन्देह नहीं कर सकते। हमें बुद्धि की अर्थात् सुतर्क की महत्ता और प्रामाणिकता सिर झुकाकर स्वीकार करनी पड़ेगी। तर्क की अप्रामाणिकता भी तर्क द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है, और ऐसा करना वदतोव्याघात है। अतः हम 'तर्क अप्रतिष्ठित है' ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि तर्क के अप्रतिष्ठितत्व की सिद्धि केवल तर्क द्वारा ही संभव है। (१)

किन्तु तर्क को पारमार्थिक प्रतिष्ठा पाने के लिये अपनी सापेक्षता और सविकल्पता के बन्धन से मुक्त होकर निरपेक्ष और निर्विकल्प विशुद्ध ज्ञान में लीन होना पड़ेगा। इस विशुद्ध ज्ञान का नाम ही स्वानुभूति या अपरोक्षानुभूति है। यही शुद्ध चैतन्य है। यही आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व है। तर्क जीव-रूप है जो अविद्याजन्य है। अविद्या का विद्या द्वारा प्रविलय होते ही तर्क विशुद्ध विज्ञानस्वरूप हो जाता है। यही प्रपञ्चोपशम और शिव अद्वैत तत्त्व है। यहाँ जीव और तर्क, ज्ञाता और ज्ञान आदि के भेद नहीं रहते। जो विशुद्ध ज्ञाता है वही विशुद्ध ज्ञान है। अद्वैत व्यावहारिक त्रिपुटी के ऊपर है। यहाँ तर्क का नाश नहीं होता, अपितु उसका चरम विकास होता है। तर्क अपने विकल्प-बन्धन से मुक्त होता है तथा ज्ञान के पद पर प्रतिष्ठित होता है। तर्क का विशुद्ध विज्ञान या स्वानुभवरूप होना ही उसकी सार्थकता है। यही अद्वैत दर्शन का लक्ष्य है।

———

(१) नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम्। एतदपि हि तर्काणामप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते। शारीरक-भाष्य २।१।११

सप्तम अध्याय

शङ्कराचार्योत्तर अद्वैत वेदान्त

शङ्करोत्तर वेदान्त के विवेचन से पूर्व मण्डन-सुरेश्वरैक्य पर कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है। आचार्य मण्डन मिश्र, विश्वरूप और सुरेश्वर को एक ही व्यक्ति मानने की रूढ़ि चली आ रही है। यह तो निःसन्देह सत्य है कि शङ्कराचार्य के प्रसिद्ध शिष्य सन्यासी सुरेश्वराचार्य का गृहस्थाश्रम का नाम विश्वरूप था। किन्तु आचार्य मण्डन मिश्र और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति थे या भिन्न भिन्न यह बात अभी तक विवाद-ग्रस्त है। श्रीयुत हिरियन्ना महोदय ने आचार्य मण्डन और सुरेश्वर में मतभेद प्रदर्शित करते हुये उनके भिन्न भिन्न व्यक्तित्व के प्रतिपादन की चेष्टा की है। श्रीयुत कुप्पुस्वामी शास्त्री महोदय ने भी ब्रह्मसिद्धि की भूमिका में मण्डनसुरेश्वरैक्य पर मार्मिक प्रहार किया है। इन विद्वानों के मतानुसार आचार्य मण्डन और आचार्य सुरेश्वर के सिद्धातों में निम्नाङ्कित मुख्य भेद हैं:—

१—मण्डन मिश्र दृष्टिसृष्टिवाद के पोषक हैं जिसे बाद में प्रकाशानन्द ने भी यथाशक्ति पुष्ट किया। मण्डन के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म है। ब्रह्म, न तो स्वयं, न अविद्यायुक्त, और न अविद्याप्रतिबिम्बित होकर जगत् का कारण हो सकता है। अर्थात् सृष्टि न तो शुद्ध ब्रह्म से हो सकती है, न अविद्यायुक्त ब्रह्म से और न अविद्या-प्रतिबिम्बित ब्रह्म से। जीव स्वयं अपनी ''नैसर्गिकी अविद्या'' के कारण जगत्कल्पना कर लेता है जिसका प्रविलय "आगन्तुकी विद्या" द्वारा हो जाता है। भिन्न भिन्न जीवों के ज्ञान में केवल *साम्य* होता है, *ऐक्य* नहीं; और इस साम्य के कारण ही उनके ज्ञान अविसंवादी होते हैं, ऐक्य के

कारण नहीं। जगत्प्रपञ्च जीवों की व्यष्टिगत या वैयक्तिक कल्पना पर निर्भर है, इसका कोई समष्टिगत या वैषयिक आधार नहीं है। भिन्न भिन्न जीव अपनी स्वाभाविक अविद्यादृष्टि के कारण अपने लिये भिन्न भिन्न सृष्टियों की कल्पना कर लेते हैं। इन सृष्टियों में साम्य होता है। अतः जगत्प्रपञ्च एक नहीं है। इस सिद्धान्त का नाम दृष्टिसृष्टिवाद है। सुरेश्वराचार्य इस सिद्धान्त को नहीं मानते। शंकराचार्य की भाँति सुरेश्वराचार्य भी ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों मानते हैं। जगत्प्रपञ्च व्यक्तिगत कल्पना मात्र नहीं हैं; इसका समष्टिगत वैषयिक आधार है। आगे चलकर इस भेद के कारण अद्वैत वेदान्त के दो मुख्य मत हो गये—वाचस्पति मिश्र का भामतीमत जिसने मण्डन का अनुसरण किया, और प्रकाशात्मा का विवरणमत जिसने सुरेश्वर का अनुसरण किया।

२—मण्डन मिश्र प्रसंख्यानवाद के समर्थक हैं। उपनिषत्-महावाक्यजन्य ज्ञान सविकल्प और परोक्ष है। ब्रह्म-साक्षात्कार निर्विकल्प और अपरोक्ष ज्ञान द्वारा होता है। अतः मोक्ष के लिये महावाक्यजन्य ज्ञान की सविकल्पता और परोक्षता का उपासना या ध्यान द्वारा क्षय होना आवश्यक है। इसलिये मोक्ष का साक्षात् कारण उपासना या प्रसंख्यान है। सुरेश्वराचार्य, शंकराचार्य की भाँति, इस मत को नहीं मानते। उनके अनुसार महावाक्यजन्य ज्ञान स्वयं निर्विकल्प और अपरोक्ष होता है और इसलिये वही मोक्ष का साक्षात् कारण है। प्रसंख्यान या उपासना गौण है क्योंकि वह केवल चित्तशुद्धि करके हमें ज्ञान प्राप्ति के योग्य बना सकती है। एक बार दस मूर्ख इस पार से उस पार जाना चाहते थे। नदी का पानी केवल घुटनों तक था। इसलिये उसे पैदल पार कर लेना कठिन नहीं था। कोई बह न जाय इस भय से उन मूर्खों ने एक दूसरे का हाथ अच्छी तरह पकड़ कर उस नदी को पार किया। उस पार पहुँचकर, कोई बह तो नहीं गया है इसकी परीक्षा करने के लिये, उन्होंने एक दूसरे को गिनना प्रारंभ किया। प्रत्येक पुरुष ने स्वयं को छोड़कर केवल अन्य व्यक्तियों की ही गणना की और इस कारण हर बार उनकी संख्या नौ ही हुई, दस नहीं। उनको

शोकाकुल और चिन्तित देखकर उधर से जाते हुये किसी बुद्धिमान् व्यक्ति ने उस गिनने वाले व्यक्ति से कहा—'अरे मूर्ख! तू ही तो दशम है।' तब जाकर उन्हें ज्ञान हुआ और उनकी चिन्ता मिटी। सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार 'तू ही तो दशम है' इस वाक्य द्वारा उत्पन्न ज्ञान अपरोक्ष है और तत्काल, बिना किसी उपासना को अपेक्षा रखते हुये, अज्ञान का नाश करके आनन्द की उत्पत्ति करता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तू ही ब्रह्म है' आदि महावाक्यजन्य ज्ञान स्वतः अपरोक्ष है और तत्काल, बिना किसी उपासना की अपेक्षा रखते हुये, अविद्या का नाश करके परमानन्दरूप मोक्ष का साक्षात् कारण होता है।

३—मण्डन मिश्र भावाद्वैत या सदद्वैत के पोषक हैं। ब्रह्म ही एक भावात्मक या सत्तात्मक अद्वैत तत्त्व है। यदि कोई दूसरा भावात्मक तत्त्व माना जाय तो अद्वैत नहीं रहेगा। किन्तु किसी अभावात्मक वस्तु को मानने पर अद्वैत से विरोध नहीं हो सकता। अतः मण्डन मिश्र अज्ञान प्रविलय या अविद्याध्वंस या प्रपञ्चाभाव को एक पृथक् वस्तु मानते हैं। किन्तु शङ्कराचार्य और सुरेश्वराचार्य के अनुसार अभाव की पृथक् सत्ता नहीं हो सकती। अविद्याध्वंस कोई पृथक् अभावात्मक वस्तु नहीं है। अविद्याध्वंसका अर्थ है विद्या अर्थात् भावात्मक मोक्ष या ब्रह्मसाक्षात्कार।

४—मण्डन मिश्र ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का समर्थन करते हैं। उनका मीमांसा की ओर कुछ झुकाव है। सत्कर्म मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक हैं। अविद्या का प्रविलय अविद्या अर्थात् कर्म द्वारा ही हो सकता है, और अविद्याध्वंस के पश्चात् जो अवशेष रहता है वह है ब्रह्मज्ञान। किन्तु सुरेश्वराचार्य ज्ञान कर्म समुच्चय के कट्टर शत्रु हैं। कर्म चित्तशुद्धिमें उपयोगी हैं, किन्तु अविद्या को दूर नहीं कर सकते। अविद्या तो विद्या या ज्ञान द्वारा ही दूर हो सकती है। प्रकाश और अन्धकार की भाँति ज्ञान और कर्म का कभी और किसी स्थान पर समुच्चय नहीं हो सकता।

५—मण्डन मिश्र विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं। उनके लिये जीवन्मुक्त उत्कृष्ट साधक मात्र हैं, सिद्ध नहीं। किन्तु शंकराचार्य

और सुरेश्वराचार्य के लिये जीवन्मुक्त सिद्ध होते हैं और जीवन्मुक्ति भी वास्तविक मुक्ति है।

६—मण्डन विपरीतख्याति को और सुरेश्वर अनिर्वचनीयख्याति को मानते हैं।

७—मण्डन मिश्र में शंकराचार्य के प्रति गुरुभाव नहीं था और उन की ब्रह्मसिद्धि शांकरभाष्य पर निर्भर न होकर स्वतन्त्ररूप से प्रस्थान-त्रय पर अवलम्बित है। सुरेश्वराचार्य प्रकट रूप से शंकराचार्य को गुरु मानते ही हैं और उनके ग्रंथ शांकरभाष्य पर ही अवलम्बित हैं।

८—अद्वैत वेदान्त के किसी भी सम्मान्य ग्रन्थ में मण्डन और सुरेश्वर को एक नहीं बताया गया है, अपितु वेदान्त के कुछ ग्रन्थों में उनका भिन्न भिन्न व्यक्ति होना पाया जाता है। मण्डनसुरेश्वरैक्य की रूढि 'शंकर-दिग्विजय' जैसे ग्रन्थों के कारण चली आ रही है जिन्हें यदि कपोलकल्पित न भी कहा जाय तो भी ऐतिहासिक और प्रामाणिक कदापि नहीं माना जा सकता।

श्रीयुत हिरियन्ना और शास्त्री महोदयों द्वारा बताये गये मण्डन और सुरेश्वरके मतभेद हमें सर्वथा मान्य हैं। किन्तु फिर भी एक ऐसा विकल्प है जिसका सहसा अपलाप नहीं किया जा सकता। यह संभव है कि विश्वरूप मिश्र, जिनका प्रिय अथवा प्रसिद्ध नाम या उपाधि 'मण्डन' रही हो और जो पूर्व तथा उत्तर मीमांसा का सामञ्जस्य करने वाले तथा शंकराचार्य के पूर्वकालिक अद्वैत वेदान्त के आचार्यों की परम्परा के अन्तिम आचार्य रहे हों, शंकराचार्य के प्रभाव में आकर उनके शिष्य बन गये हों और दण्ड ग्रहण करके सन्यासी सुरेश्वराचार्य के नामसे विख्यात हुये हों। ब्रह्मसिद्धि उनका सन्यास लेनेसे पूर्व का ग्रन्थ हो और बृहदारण्यकवार्तिक तथा नैष्कर्म्यसिद्धि सन्यास लेनेके बाद के। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य के विचार बदलते रहते हैं और यदि कोई व्यक्ति किसी महापुरुष से प्रभावित हो जाय तो उसके विचारों में परिवर्तन होना सहज और स्वाभाविक ही है। फिर मण्डन की ब्रह्मसिद्धि और सुरेश्वर के बृहदारण्यकवार्तिक में कई स्थल मिलते

जुलते भी मिलते हैं। (१) अतः हमारे विचार से जब तक कोई प्रबल प्रमाण न मिलें तब तक मण्डनसुरेश्वरैक्य की रूढि का अपलाप उचित प्रतीत नहीं होता। चाहे मण्डन और सुरेश्वर एक हों चाहे भिन्न, ब्रह्मसिद्धि में तथा नैष्कर्म्यसिद्धि और वार्तिक में मत-भेद तो हैं ही, अतः प्रस्तुत परिच्छेद में हम ब्रह्मसिद्धि के लेखक को मण्डन मिश्र और नैष्कर्म्यसिद्धि एवं वार्तिककार को सुरेश्वराचार्य के नाम से ही ग्रहण करेंगे।

अब हम शंकरोत्तर अद्वैत दर्शन का विवेचन प्रारंभ करते हैं।

अविद्या या माया:—

आचार्य *मण्डन मिश्र* के अनुसार अविद्या को ही माया या मिथ्याभास कहते हैं क्योंकि न तो यह ब्रह्म का 'स्वभाव' है और न ब्रह्म से भिन्न कोई 'अर्थान्तर' है। न यह 'सत्' है और न 'अत्यन्त असत्'। यदि यह किसी वस्तु का 'स्वभाव' हो, तो यह 'सत्' हो जायगी और फिर अविद्या नहीं रहेगी। और यदि यह 'असत्' है, तो यह आकाशकुसुम या शशशृंग की भाँति अत्यन्त असत् हो जायगी और फिर यह व्यवहार का कारण नहीं बन सकेगी। न यह 'सत्' कही जा सकती है और न 'असत्'। सदसद्-विलक्षण होने के कारण ही इसे 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है। समस्त दार्शनिकों को इसे इस रूप में स्वीकार करना पड़ेगा, अन्यथा उनके मतों में दोष आ जाँयगे। (२)

मण्डन मिश्र जीव को अविद्या का आश्रय और ब्रह्म को अविद्या का विषय मानते हैं। अतः वे दृष्टिसृष्टिवाद के पोषक हैं। जीवबहुत्व अविद्या जन्य है, पारमार्थिक नहीं। भेद और प्रपञ्च अविद्या के कार्य हैं। ब्रह्म में भेद नहीं हो सकता क्योंकि भेद अविद्या-जन्य होता है और विशुद्ध विज्ञान स्वरूप ब्रह्म का अविद्या स्पर्श तक नहीं कर सकती। वास्तव में अविद्या

---

(१) द्रष्टव्य, श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा लिखित 'ब्रह्मसिद्धि' का उपोद्घात, पृ० X–XIII

(२) सर्वप्रवादिभिश्चेत्थमियमास्थेया। ब्रह्मसिद्धि पृ० ९

जीवों में भी नहीं रहनी चाहिये क्योंकि जीव स्वयं अविद्या के कार्य हैं। अतः अविद्या का आश्रय न ब्रह्म हो सकता है और न जीव। इस कथन से हमें चौंक नहीं पड़ना चाहिये क्योंकि अविद्या स्वयं विरोधात्मक है। अविद्या प्रमाण के बल को नहीं सह सकती। एक ओर तो हम कहते हैं कि अविद्या का आश्रय जीव है और दूसरी ओर हम कहते हैं कि अविद्या का आश्रय जीव नहीं हो सकता क्योंकि जीव तो स्वयं अविद्या का कार्य है। यह विरोध हुआ। किन्तु यह विरोध वास्तविक नहीं है। अविद्या सदसद्‌विलक्षण है और उसका निर्वचन नहीं हो सकता। अतः अनिर्वचनीय अविद्या का जीव के साथ सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि अविद्या में विरोध न हो और उसे ठीक ठीक समझ लिया जाय तो फिर वह अविद्या न रह कर यथार्थ वस्तु बन जायगी। (१)

अविद्योपादानभेदवादी के मतानुसार अविद्या का आश्रय जीव है और जीवों का आश्रय अविद्या है और यह चक्र अनादि है। अतः बीज और अंकुर के समान अविद्या और जीव का कोई आदि नहीं है। यदि अविद्या का आश्रय ब्रह्म को माना जाय तो मोक्ष में अविद्या का प्रसंग आ जायगा। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म स्वयं बद्ध और मुक्त होता है तो एक की मुक्ति होने पर सर्वमुक्ति का प्रसंग आ जायगा। ब्रह्म विशुद्ध विद्या स्वरूप है, अतः उसमें अविद्या को कोई स्थान नहीं। इसलिये ब्रह्म को अविद्या का आश्रय नहीं मान सकते। जीव ही अविद्या का आश्रय है। मण्डन मिश्र अविद्योपादानभेदवादी के मत से सहमत हैं। अविद्या के कारण जीव बद्ध होते हैं और विद्या के कारण मुक्त होते हैं। जीवों में अविद्या स्वाभाविक और नैसर्गिक है तथा विद्या आगन्तुक है। इस नैसर्गिक अविद्या का आगन्तुक विद्या द्वारा विनाश होने पर मोक्षप्राप्ति होती है। (२) वेदान्त के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से विद्याप्राप्ति में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। सत्कर्म सत्वशुद्धि के लिये आवश्यक हैं। कीचड़ में फँसा हुआ व्यक्ति कीचड़

---

(१) ब्रह्मसिद्धि, पृ० १० (२) वहीं पृ० १२

का सहारा लेकर ही बाहर निकल सकता है। अविद्या अविद्याजन्य कर्मों द्वारा ही नष्ट होती है और उसके नष्ट होने के बाद की स्थिति को ही अमृत रूप आत्मस्वरूपस्थिति कहते हैं। इसीलिये ईश में कहा है कि—अविद्या से मृत्यु को पार करके, विद्या से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। (अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।) (१)

मण्डन मिश्र के अनुसार अविद्या दो प्रकार की होती है—अभावात्मक 'अग्रहण' या 'अज्ञान' और भावात्मक 'अन्यथाग्रहण' या 'मिथ्याज्ञान'। मण्डन मिश्र का अनुसरण करते हुये **वाचस्पति मिश्र** भी ब्रह्म को, 'अविद्या-द्वितीय-सचिव' कहते हैं। (२) एक अविद्या मानसिक है जिसे अमलानन्द 'पूर्वा-पूर्वभ्रमसंस्कार' कहते हैं, दूसरी अविद्या वैषयिक है जो जीव और जगत् दोनों का उपादानकारण है। वैषयिक अविद्या भावरूप, अनादि, जड और शक्तिरूप होती है। यह अनिर्वचनीय है क्योंकि सदसद्विलक्षण है। यह जीव और जगत्, विषयी और विषय, अस्मत् और युष्मत् दोनों का उपादानकारण है क्योंकि दोनों इसी मिट्टी के पुतले हैं। सांख्य-योग की प्रकृति के समान यह अविद्या समस्त पदार्थों की जननी है। इसी अविद्या से वे उत्पन्न होते हैं और इसी में वे महाप्रलय के समय सूक्ष्म शक्तिरूप से अन्तर्निहित रहते हैं। और इसी में से फिर सृष्टि के समय उनका प्रादुर्भाव या प्राकट्य होता है।

मण्डन मिश्र और वाचस्पति मिश्र दोनों ही जीव को अविद्या का आश्रय मानते हैं। किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब जीव स्वयं ही अविद्या का कार्य है तो वह अविद्या का आश्रय कैसे हो सकता है? मण्डन मिश्र के अनुसार अविद्या सर्वन्यायविरोधिनी भ्रान्ति है और इसलिये उसका जीव के साथ सम्बन्ध भी सर्वन्यायविरुद्ध हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। मण्डन मिश्र अविद्योपादानभेदवादियों के इस मत से भी सहमत हैं कि अविद्या और जीव का चक्र, बीज और अन्कुर की भाँति, अनादि है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार जीव का कारण है भ्रमसंस्कार और इस भ्रमसंस्कार का कारण है पूर्व-

---

(१) वहीं पृ० १३ (२) भामती, मंगलाचरण।

भ्रमसंस्कार एवं इस पूर्वभ्रमसंस्कार का कारण है इससे भी पूर्व का भ्रमसंस्कार और इस प्रकार इस पूर्वापूर्वभ्रमसंस्कार की परम्परा को, अनवस्थादोष से बचने के लिये, अनादि मानना पड़ता है। इसी परम्परा का नाम मानसिक अविद्या है।

मण्डन मिश्र और वाचस्पति मिश्र के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव है किन्तु विषय ब्रह्म है। भ्रांति का अर्थ है सत् अधिष्ठान पर सदसद्विलक्षण वस्तु का आरोप। अविद्या का विषय ब्रह्म है क्योंकि अविद्या ब्रह्म को आवृत करके उसके स्थान में सदसद्विलक्षण पदार्थों की सृष्टि करती है। विद्या द्वारा ये पदार्थ बाधित हो जाते हैं। भ्रम के लिये सत्य अधिष्ठान पर मिथ्या पदार्थ का आरोप होना आवश्यक है। अविद्या के लिये अद्वय ब्रह्म पर जीव-जगत्प्रपञ्च का आरोप होना आवश्यक है। प्रपञ्च सदसद्विलक्षण है। ज्ञान द्वारा बाधित हो जाने से वह 'सत्' नहीं हो सकता, प्रतीति एवं उपलब्धि होने से वह 'असत्' भी नहीं हो सकता।

सुरेश्वराचार्य मण्डन तथा वाचस्पति मिश्र से इस विषय में सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों है। अविद्या का आश्रय जीव नहीं हो सकता क्योंकि जीव स्वयं अविद्याजन्य है। अपिच, अविद्या मानसिक भ्रम भी नहीं हो सकती क्योंकि वह जीव और जगत् दोनों का उपादान कारण है। ब्रह्म ही अविद्या के कारण जीवजगत्-प्रपञ्चरूप से प्रतीत होता है। अविद्या चिरन्तनी भ्रांति है। यह निरालम्बा और सर्वन्याय-विरोधिनी है। जिस प्रकार अन्धकार सूर्य का सहन नहीं कर सकता उसी प्रकार अविद्या भी विचार का सहन नहीं कर सकती। (१) यह सदसद्-विलक्षण और अनिर्वचनीय है। यह एक प्रकार का व्याघातपुञ्ज है। यहाँ आकर समस्त बौद्धिक विकल्प व्यर्थ हो जाते हैं। यदि अविद्या न्यायविरुद्ध और व्याघातयुक्त नहीं होती तो फिर वह 'अविद्या' ही नहीं रहती क्योंकि

---

(१) सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी। सहते न विचारं सा तमो यद् वद् दिवाकरम्॥ नैष्कर्म्यसिद्धि ३, ६६

फिर तो वह 'सत्' वस्तु बन जाती। न्यायविरोध एवं विचारासहिष्णुत्व अविद्या के दूषण नहीं किन्तु भूषण हैं। अविद्या ब्रह्म पर आश्रित है, किन्तु साथ ही साथ वह निरालम्ब भ्रांति भी है। अविद्या जीव और जगत् रूपी प्रपञ्च की जननी है, किन्तु साथ ही साथ वह सदसद्निर्वचनीय और सर्व-न्यायविरोधिनी भी है। अतएव सुरेश्वराचार्य ने यही कह कर संतोष की साँस ली है कि अविद्या के बराबर कोई वस्तु न्यायविरुद्ध और धृष्ट नहीं हो सकती क्योंकि एक ओर तो अविद्या न्याय के सम्पूर्ण प्रमाणों की एवं दर्शन के वस्तुतत्त्व की अत्यन्त अनादरपूर्ण उपेक्षा करती है और दूसरी ओर ब्रह्ममय बनी रहती है। वस्तुतत्व की उपेक्षा करते हुये भी वस्तु-तत्वमय बना रहना धृष्टता की चरम सीमा नहीं तो और क्या है। (१)

आचार्य पद्मपाद, प्रकाशात्मा और सर्वज्ञात्मा भी सुरेश्वराचार्य की भाँति ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों मानते हैं। आचार्य पद्मपाद के अनुसार नाम-रूप, अव्याकृत, अविद्या, माया, प्रकृति, अग्रहण, अव्यक्त, तमस्, कारण, लय, शक्ति, महासुप्ति, निद्रा, क्षर, आकाश आदि सब अविद्या के ही दूसरे नाम हैं। (२) अविद्या अनादि है, जडात्मिका है, शक्ति, रूपा है। ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व पर यह एक प्रकार का आवरण-सा है। यही जीवत्व की जननी है। यही जगत् का उपादान कारण है। यह वह चित्रभित्ति है जिसपर अज्ञान, कर्म और पूर्वप्रज्ञासंस्कार का अनादि चक्र जो जीव और जगत् दोनों का उत्पादक है, चित्रित है। (३) ब्रह्म को अपना आश्रय बना कर यह अविद्या स्वयं को दो रूपों में व्यक्त करती है— व्यावहारिक ज्ञानरूप में एवं कर्मरूप में। यही समस्त कर्मों की कर्त्री तथा समस्त फलों की भोक्त्री

---

(१) अहो धाष्ट्र्यमविद्याया न कश्चिदतिवर्तते। प्रमाणं वस्त्वनादृत्य परमात्मेव तिष्ठति॥ नैष्कर्म्यसिद्धि ३, ११।

(२) पञ्चपादिका पृ० २०

(३) वहीं

है। इसके वशीभूत होकर जीव स्वयं को कर्ता और भोक्ता मानता है। पद्मपादाचार्य प्रतिबिम्बवाद के पोषक प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार जीव अविद्या प्रतिबिम्बित ब्रह्म है। जीव के भी संसारी, विज्ञानघन, विज्ञानात्मा, जीवात्मा, प्राज्ञ, शरीरी, शारीर, आत्मा, संप्रसाद, पुरुष, प्रत्यगात्मा, कर्ता, भोक्ता, क्षेत्रज्ञ आदि अनेक नाम हैं। बुद्धि की दृष्टि से इसको अन्तःकरण, मनस्, बुद्धि, अहंकार, अहंप्रत्ययी, आदि कहते हैं और जीवन-गति की दृष्टि से इसको प्राण कहा जाता है। (१) यह ब्रह्म और अविद्या की ग्रन्थि है। यह सत्य और अनृत का मिश्रण है। यह अहंकारग्रन्थि ही संसारनृत्यशाला का मूलस्तम्भ है। (२) ब्रह्म और अविद्या की इस उलझी हुई गाँठ को विद्या द्वारा सुलझाना ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

अविद्या का ही दूसरा नाम अध्यास है। अध्यास का अर्थ है सत् अधिष्ठान पर सदसद्विलक्षण का आरोप। 'अतद्रूप' का 'तद्रूप' के समान भासित होना। और यह अध्यारोप मिथ्या है ही। पद्मपादाचार्य 'मिथ्या' शब्द के दो अर्थ बतलाते हैं। एक अर्थ है 'अपन्हव' और दूसरा है 'अनिर्वचनीय'। एक है 'असत्' और दूसरा है 'सदसद्विलक्षण'। अविद्या केवल 'असत्' नहीं है; वह 'सदसद्विलक्षण' है। यदि अविद्या का अर्थ केवल 'असत्' या 'शून्य' होता तो उसे अनादि, भावरूप, जड़ात्मक और शक्तिरूप कैसे कहा जाता। अतः अविद्या के लिये 'मिथ्या' शब्द का प्रयोग 'सदसद्विलक्षण' और 'अनिर्वचनीय' के अर्थ में किया जाता है, न कि 'असत्' या 'शून्य' या 'अभाव' के अर्थ में। अविद्या न तो 'सत्' है और न 'असत्'। इसी लिये वह अनिर्वचनीय है। (३) अविद्या के लिये यह विरोध भूषण है, दूषण नहीं। अविद्या स्वयं विरोधमयी है। वह विचार के सामने नहीं टिक सकती। उसके लिये कोई असंभव नहीं। यदि अविद्या में विरोध

---

(१) वहीं
(२) वहीं पृ० ३५
(३) वहीं पृष्ट ४

न हो और वह युक्तियुक्त हो जाय तो वह 'अविद्या' ही नहीं हो सकती। पद्मपाद भी अविद्या को 'असंभावनीयावभासचतुरा' अर्थात् असंभव को संभव के समान भासित करने में निपुण कह कर शान्त हो जाते हैं। (१)

प्रकाशात्ममुनि भी अविद्या को भावरूप सिद्ध करते हैं। जीव और जगत् का कारण मायायुत ब्रह्म है। यहाँ तीन विकल्प संभव हैं। या तो ब्रह्म और माया, रस्सी की डोरियों की तरह आपस में गुँथे हुये, जगत्-कारण हों; या मायाशक्ति सम्पन्न ब्रह्म जगत्कारण हो; या ब्रह्माश्रित माया जगत्कारण हो। किन्तु इन तीनों विकल्पों में अविद्या या माया का आश्रय और विषय ब्रह्म ही है क्योंकि अविद्या स्वतन्त्र न होकर ब्रह्म पर ही आश्रित है। (२)

सर्वज्ञात्ममुनि भी ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों मानते हैं। ब्रह्माश्रित अविद्या ब्रह्म के स्वभाव को आवृत-सा करके आभास-त्रय को जन्म देती है। ये आभास हैं—ईश्वर, जीव और जगत्। वस्तुतः आभास होने के कारण ये तीनों सत्य नहीं हैं क्योंकि इनकी जननी अविद्या ही स्वयं सत्य नहीं है। सत्य केवल ब्रह्म है। ब्रह्म में माया के प्रकट होते ही दो आभास उत्पन्न हो जाते हैं—एक तो माया और दूसरा मायायुत ब्रह्म। इन दोनों का अधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म है। मायायुत ब्रह्म व्यावहारिक आधार मात्र है। अविद्या मनोगत न होकर विषय-गत होती है। क्योंकि अविद्या का आश्रय उसका कार्य जीव नहीं हो सकता इसलिये उसे मनोगत नहीं मान सकते। और शुद्ध ब्रह्म को भी जो सबका अधिष्ठान है माया का आश्रय मानना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि वास्तव में माया शुद्ध ब्रह्म का स्पर्श तक नहीं कर सकती। इस उभयतःपाशारज्जु से बचने के लिये सर्वज्ञात्ममुनि मायायुत ब्रह्म को अविद्या का व्यावहारिक आधार

---

(१) वहीं पृ० २३

(२) पञ्चपादिकाविवरण पृ० २१२

या आश्रय मानते हैं। इस मायायुत ब्रह्म को ही वे प्रत्यक्-चित् भी कहते हैं क्योंकि यही स्वयं को विविध जीवों के रूप में प्रकट करता है। (१)

विमुक्तात्ममुनि के अनुसार भी अविद्या या माया न तो ब्रह्म से भिन्न है, न अभिन्न, और न भिन्नाभिन्न। यदि अविद्या सत्य होती तो वह अवश्य ही इन तीन विकल्पों में से एक के अन्तर्गत होती। उसका ऐसा न होना ही उसके मिथ्यात्व का द्योतक है। अतः उसको 'वस्तु' नहीं माना जा सकता। किन्तु वह 'अवस्तु' भी नहीं है क्योंकि अवस्तु का अर्थ है शशश्रृंगवत् असत्। उसमें तो व्यवहार होता है। अतः यही सिद्ध होता है कि अविद्या सदसत्सदसद्विलक्षण है और इस कारण अनिर्वचनीय है। विमुक्तात्ममुनि इस बात पर ज़ोर देते हैं कि यहाँ 'अनिर्वचनीय' का अर्थ 'अवाच्य' नहीं समझना चाहिये। अविद्या अवाच्य नहीं है क्योंकि उसे 'सदसद्विलक्षण' या 'अनिर्वचनीय' या 'मिथ्या' कहना भी तो एक प्रकार से उसका 'निर्वचन' करना ही है। अनिर्वचनीय का अर्थ है 'सदसदनिर्वचनीय' अर्थात् 'सत्' और 'असत्' आदि कोटियों द्वारा निर्वचन के अयोग्य होना। (२)

विमुक्तात्ममुनि ब्रह्म और माया के सम्बन्ध में एक सुन्दर उदाहरण देते हैं। सत्य, शिव और सुन्दर ब्रह्म वह चित्रभित्ति है जिस पर जगन्माया का चित्र चित्रित है। जिस प्रकार चित्रभित्ति न तो चित्र का उपादान है, न अंश है, न अंग है, न भाग है, और न चित्र चित्रभित्ति का विकार है जिस प्रकार घट मृत्तिका विकार होता है, और न वह चित्रभित्ति का परिणाम है जिस प्रकार पीलापन पके हुये आम का परिणाम होता है। चित्रभित्ति चित्र से पूर्व विद्यमान थी और चित्र के मिट जाने पर भी विद्यमान रहेगी। किन्तु चित्र चित्रभित्ति के बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार का सम्बन्ध ब्रह्म और माया में भी समझना चाहिये। (३)

---

(१) संक्षेपशारीरक २/२११

(२) इष्टसिद्धि पृ० ३५

(३) वहीं पृ० ३७

विमुक्तात्ममुनि के अनुसार भी अविद्या जगदुपादानरूप, भावरूप, शक्तिरूप तथा अनिर्वचनीय अज्ञान है। अनिर्वचनीय होते हुये भी अविद्या की निवृत्ति विद्या द्वारा हो जाती है जिस प्रकार रज्जु या माला के ज्ञात हो जाने पर उसे सर्प समझ लेने की भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है। अविद्या न्याय के आघात को नहीं सह सकती। अविद्या का सदसद्विलक्षणत्व, अनिवर्च-चनीयत्व, दुर्घटत्व, दुर्निरूपत्व आदि उसके गुण हैं, दोष नहीं, क्योंकि अविद्या में दुर्घटत्व न रहने पर उसका अविद्यात्व ही दुर्घट हो जायगा। (१)

श्रीहर्ष भी अविद्या को भावरूप, शक्तिरूप एवं सदसदनिर्वचनीय मानते हैं। अनिर्वचनीय होने से ही वह मिथ्या है।

यही मत चित्सुखाचार्य का भी है। उनके अनुसार भी अविद्या भावरूप, शक्तिरूप, सदसदनिर्वचनीय और दुर्घट है। जो अनादि हो, भावरूप हो और जिसका विज्ञान से प्रविलय हो जाय उस अज्ञान को ही विद्वान् अविद्या या माया कहते हैं। चित्सुखाचार्य कहते हैं कि अनादि और भावरूप होते हुये भी विज्ञान-निरस्य होना अविद्या का लक्षण है। (२) अविद्या न सत् है और न असत्, न भावरूप है और न अभावरूप। सदसद्विलक्षण या भावाभावविलक्षण अविद्या को "भावरूप" कहने का तात्पर्य केवल उसके "अभावरूप" के प्रतिषेध पर आग्रह देने के लिये है। उसे भावरूप कहना इस बात का सूचक है कि वह केवल अभावात्मक या असत् नहीं है। वस्तुतः तो उसे न भावरूप कहा जा सकता है और न अभावरूप क्योंकि वह सदसद-निर्वचनीय है। (३) अज्ञान के भावरूप होने के उदाहरण लीजियेः—एक

(१) दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम्।
कथंचिद्घटमानत्वेऽविद्यात्वं दुर्घटं भवेत्॥ वहीं १।१४०.

(२) अनादि भावरूपं यद् विज्ञानेन विलीयते। तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते॥ अनादित्वे सति भावरूपं विज्ञाननिरस्यमज्ञानम्। तत्वप्रदीपिका ५. ५७.

(३) भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्याभावविलक्षणमात्रेणभावत्वोपचारात्।—तत्वप्रदीपिका पृ० ५७

व्यक्ति दूसरे से कहता है: 'मैं यह नहीं जानता कि जो कुछ आप कह रहे हैं वह सच है या झूठ।' यहाँ पर 'कथन' का अर्थात् 'जो कुछ आप कह रहे हैं' उसका तो ज्ञान है किन्तु उसके विषय में यह ज्ञान नहीं है कि वह सच है या झूठ। 'कथन' का ज्ञान होने पर उसके 'सत्यासत्य' का अज्ञान भावरूप है। दूसरा उदाहरण है—एक व्यक्ति गहरी नींद सोकर उठा है और कहता है: 'मैं बहुत आनन्द से सोया और मुझे किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहा।' यहाँ सुषुप्ति में भावरूप अज्ञान का अनुभव है। वेदान्त के विद्वान् कहते आये है कि समस्त वस्तुयें ज्ञातरूप से या अज्ञातरूप से साक्षिचैतन्य की विषय होती हैं।

अख्यातिवाद के पोषक प्रभाकर मीमांसक यहाँ एक आक्षेप करते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान सदा 'सत्' का होता है, 'असत्' का नहीं। उनके मत में भ्रम, भेद के अदर्शन से उत्पन्न होता है, उसके मिथ्या दर्शन से नहीं। जब शुक्ति में रजत की भ्रान्ति होती है तब शुक्ति का 'यह है' ऐसा ज्ञान होता है जिसे 'इदमाकारवृत्ति' कहते है और रजत का केवल स्मरण होता है जिसमें उसका रजतत्व रूपी स्वभाव प्रकट नहीं हो पाता और जिसे 'प्रमुष्टतत्ताकस्मरण' कहते हैं। शुक्ति और रजत इन दो भिन्न एवं 'सत्' वस्तुओं का अपूर्ण, आंशिक एवं खण्डित ज्ञान, और इन दोनों के वास्तविक भेद का अज्ञान, जब एकसाथ मिल कर प्रतीत होते हैं तब शुक्ति में रजत की भ्रान्ति होती है। इस अख्यातिवाद का खण्डन करते हुये चित्सुखाचार्य कहते हैं कि 'असत्' का भी ज्ञान होता है। जब तक भ्रान्ति रहती है तबतक रजत का 'स्मरण' नहीं होता अपितु साक्षात् 'दर्शन' होता है। शुक्तिरजत की भ्रान्ति का कारण यह है:—शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य रूपी अधिष्ठान पर अनादि भावरूप अज्ञान अपना परदा डाल देता है और स्वयं रजत एवं रजताकारवृत्ति का रूप धारण कर लेता है। असली अधिष्ठान तो है चैतन्य जो शुक्ति से ढका हुआ है। जब शुक्ति में रजत का भ्रम होता है तब अनादि भावरूप अज्ञान शुक्तयवच्छिन्न चैतन्य को तो अपने आवरण से ढक देता है तथा स्वयं रजत और तदाकारचित्तवृत्ति

के रूप में प्रतीत होने लगता है। शुक्ति की जो इदमाकार प्रतीति होती है उससे इस अज्ञान का आवरण कुछ हट जाता है किन्तु पूर्णतया नहीं हट पाता। जब शुक्ति की प्रतीति शुक्ति के रूप में ही होने लगती है तब यह आवरण पूर्णतया हट जाता है। शुक्ति-रजत 'सत्' नहीं है क्योंकि शुक्ति का ज्ञान होने पर इसका बाध हो जाता है, किन्तु यह 'असत्' भी नहीं है क्योंकि इसकी प्रतीति होती है। अतः यह सदसद्विलक्षण और इसीलिये अनिर्वचनीय है। संसार की समस्त वस्तुयें भी शुक्ति-रजत के समान ही सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या हैं। अज्ञान को अनादि, भावरूप, सदसदनिर्वचनीय और विज्ञान-निरस्य मानने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग इस जगत्प्रपञ्च को समझने के लिये नहीं है। नैयायिक उदयनाचार्य का यह आक्षेप कि 'अनिर्वचनीयता' का अर्थ 'निरुक्तिविरह' अर्थात् 'निर्वचन या लक्षण करने की अयोग्यता' है, बिलकुल असत्य है क्योंकि वेदान्त में अनिर्वचनीयता का अर्थ सदसदनिर्वचनीयता है। (१) और इस जगत्प्रपञ्च के सम्यक् ज्ञान के लिये इसे अवश्य स्वीकार करना पड़ता है।

इसी प्रकार आचार्य आनन्दज्ञान, विद्यारण्य स्वामी आदि समस्त शंकरोत्तर अद्वैताचार्य अविद्या, माया या अज्ञान को अनादि, भावरूप, शक्तिरूप जडात्मक, सदसदनिर्वचनीय और विज्ञान-निरस्य मानते हैं। आनन्दज्ञान भी कहते हैं कि अनिर्वचनीयता का अर्थ निरुक्तिविरह नहीं है उसका अर्थ है कि विपक्षी के निर्वचन या लक्षण करने के समस्त प्रकार अयुक्त हैं क्योंकि जगत्प्रपंच का, सदसद्विलक्षण होने के कारण, सदसद्निर्वचनीयत्व के अतिरिक्त अन्य कोई निर्वचन नहीं किया जा सकता। (२) विद्यारण्य स्वामी भी "असाधारण मानयोगाऽसहिष्णुत्व" को ही अविद्या का लक्षण

---

(१) प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः॥ वहीं, पृ० ७६

(२) येन येन प्रकारेण परो निर्वक्तुमिच्छति। तेन तेनात्मनाऽयोगस्तदनिर्वाच्यता मता॥— तर्कसंग्रह पृ० ११६

बतलाते हैं और कहते हैं कि विचारासहत्व या न्याय के आघातों को न सह सकना अविद्या का अलंकार है। (१) अविद्या में सबसे बड़ा गुण यही है कि विद्या के उदय होते ही वह सूर्योदय पर अन्धकार के समान उड़ जाती है।

आत्मा और ब्रह्म:—आत्मा या ब्रह्म ही एक मात्र वेदांतप्रतिपादित तत्व है। यही अविद्या या माया का अधिष्ठान है। यही उसका आश्रय और विषय है। समस्त जगत्प्रपंच, चाहे वह विषयी जीवों के रूप में हो चाहे विषय जगत् के रूप में, इसी पर निर्भर है। सम्पूर्ण भेद, समस्त द्वैत, सर्व प्रपंच इसी विशुद्ध, अभिन्न, अद्वैत और प्रपञ्चातीत तत्व पर प्रतिष्ठित हैं। मण्डन मिश्र कहते है कि जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा अनेक जल-तरंगों में नाना-सा प्रतीत होता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अपनी अविद्याशक्ति के कारण नाना-प्रकार के जगत्-प्रपञ्च के रूप में प्रतीत-सा हो रहा है। बौद्धों की यह कल्पना कि अनेक भिन्न-भिन्न पदार्थ मिथ्या सामान्य के कारण अभिन्न से प्रतीत होते हैं हास्यास्पद है। लाघव इसी में है कि एक ही अपनी शक्ति से अनेक-सा प्रतीत हो रहा है (२)

इसी प्रकार सुरेश्वराचार्य भी ब्रह्म को अद्वय मानते हैं। जिस प्रकार विभिन्न भांडों के जल में एक ही सूर्य के अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म उपाधि भेद से नाना-सा प्रतीत होता है। विशुद्ध आत्मा पर जीव-जगत् भेद की कल्पना निर्मल आकाश पर धुँआ, कुहरा, नीलिमा, तलमलिनता आदि की कल्पना के समान है। निर्विकार तथा अद्वय ब्रह्म ही मानवी बुद्धि द्वारा अनेक विकल्पों और प्रकारों द्वारा व्यक्त किया जाता है, किन्तु ये सब विकल्प और प्रकार अपूर्ण होते हैं। मानवी बुद्धि अंश है और ब्रह्म है अंशी। अंश अंशी का पूर्ण ग्रहण नहीं कर सकता। ब्रह्म के

---

(१) अविद्याया अविद्यात्वमिदमेवात्र लक्षणम्। मानयोगाऽसहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥ बृहदारण्यकवार्तिकसार पृ० ११७, विचाराऽसहत्वं चाविद्याया अलंकार एव।—विवरणप्रमेयसंग्रह पृ० १७५

(२) ब्रह्मसिद्धि २ । ३२.

विषय में की गई कोटिशः कल्पनायें अपूर्ण ही रहेंगी। जिस प्रकार "सात जन्मान्ध और हाथी" की कहानी में हरेक अन्धा, हाथी के किसी न किसी अंग को छूकर उस अंग को ही सारा हाथी समझ लेता था और उसका हस्ति-रूप से वर्णन करता था। इस वर्णन का अपूर्ण होना स्वाभाविक है ही। जैसे, एक अन्धे ने हाथी के पैर को छूकर कहा 'हाथी पेड़ के तने के समान है'; दूसरे ने उसके कान को छूकर कहा 'हाथी एक बड़े पंखे के समान है'; तीसरे ने उसकी पीठ को छूकर कहा 'हाथी दीवार के समान है'; चौथे ने उसकी सूँड़ को छूकर कहा 'हाथी अजगर के समान है'; आदि आदि। (१) तात्पर्य यह है कि मानवी बुद्धि की गति व्यवहार तक ही सीमित रहती है। ब्रह्म परमार्थ है। वह आदि द्रष्टा और विशुद्ध विज्ञानात्मस्वरूप है। उसे बुद्धि-गम्य, दृश्य या विषय नहीं बनाया जा सकता। और बुद्धि दृश्य के अतिरिक्त और किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं कर सकती। अतः ब्रह्म को वाङ्-मनस्-अगोचर कहा गया है। उसे 'अनिर्वचनीय' कहने का तात्पर्य भी यही है कि उसके विषय में किये गए सब निर्वचन अपूर्ण होते हैं, यह नहीं कि उसका निर्वचन किया ही नहीं जा सकता। उसका साक्षात्कार विशुद्ध ज्ञान की अपरोक्षानुभूति द्वारा होता है।

यह ब्रह्म स्वतःसिद्ध, स्वयंज्योति और निर्विकार है। विकार, परिणाम और परिवर्तन इसके ऊपर निर्भर हैं। जन्म, स्थिति और विनाश इसी पर आधारित हैं। बुद्धि के समस्त विकल्पों का आश्रय और विषय यही है। इसके बिना बुद्धि की गति नहीं हो सकती। विकार निर्विकार की, सगुण निर्गुण की, विनाश अविनाशी की, क्षणिक नित्य की और विकल्प निर्विकल्प की अपेक्षा रखता है। बुद्धि की ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान रूपी व्यावहारिक त्रिपुटी इसी विशुद्ध विज्ञान स्वरूप आत्मा या ब्रह्म रूपी अधि-

---

(१) तदेतदद्वयं ब्रह्म निर्विकारं कुबुद्धिभिः। जात्यन्धगजदृष्ट्येव कोटिशः परिकल्प्यते ॥--नैष्कर्म्यसिद्धि २। ६३.

ष्ठान पर निर्भर है। त्रिपुटी रूपी नटी का नृत्य इस ब्रह्म-मंच पर हो रहा है। यदि यह मंच न हो तो त्रिपुटी त्रिशंकु की तरह आकाश या शून्य में नहीं नाच सकती। उसके सारे खेलों की जान यही है। स्वयंसिद्ध होने के कारण इसका अपलाप भी नहीं हो सकता क्योंकि खण्डन और मण्डन, समर्थन और निराकरण, विधि और निषेध आदि सब बुद्धि के विकल्प हैं और इन विकल्पों की जननी बुद्धि स्वयं ब्रह्म पर आश्रित है। जो निराकर्ता है, जो खण्डनकर्ता है, जो निषेध करता है, वह स्वयं आत्मरूप है और आत्मा स्वयं अपना ही निराकरण या निषेध नहीं कर सकता। आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब कुछ क्षणिक हो सकता है और सबका अपलाप हो सकता है, किन्तु आत्मा स्वयं नित्य और स्वयंसिद्ध है। (१) यह आत्मा तटस्थ द्रष्टा है, न्यायाधीश है। इसी न्यायाधीश की सत्ता स्वीकार करके एवं इसे मध्यस्थ मान कर, दार्शनिक लोग, वकीलों की भाँति, तर्कज्वर से व्याकुल होकर, एक दूसरे को, सरदर्द पैदा करने वाले प्रमाणों से मोहित करके अपने अपने वाग्जाल में बाँधने का अजस्र प्रयत्न किया करते हैं। (२)

वाचस्पति मिश्र के अनुसार परम तत्व स्वप्रकाश चिद्रूप विशुद्ध आत्मा है जो अपरोक्षानुभूति द्वारा साक्षात् होता है। समस्त व्यवहारप्रपंच का यह अधिष्ठान है। समस्त व्यवहार का परमार्थ में बाध हो जाता है, किन्तु इस अधिष्ठान का बाध नहीं हो सकता। विमुक्तात्ममुनि भी इस विशुद्ध आत्मतत्व को अज, अनन्त, अमेय, परमानन्दस्वरूप एवं स्वानुभूति-सिद्ध मानते हैं। यह वह भित्ति है जिस पर जगन्माया का चित्र चित्रित है। अद्वैत दर्शन को मायावाद कहा जाता है। माया या अविद्या को हम

---

(१) मत्तोऽन्यद्रूपमाभाति यत् तत् स्यात् क्षणभंगि हि।

—वहीं २।७८

(२) इमं प्राश्निकमुद्दिश्य तर्कज्वरभृशातुराः।
त्वाच्छिरस्कवचोजालैर्मोहयन्तीतरेतरम्॥

—वहीं २।५६

अद्वैत का केन्द्र कह सकते हैं, किन्तु साथ ही साथ हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यह माया ब्रह्म पर आश्रित है। अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म को भुला देने पर माया का कोई अर्थ और महत्व नहीं रहता। चित्रभित्ति के बिना चित्र कहाँ रहेगा ? अतः विमुक्तात्ममुनि अपने 'इष्टसिद्धि' नामक ग्रन्थ में जिस 'इष्ट' को सिद्ध करते हैं वह 'माया' नहीं है अपितु 'मायात्मक ब्रह्म' है। (१)

विशुद्ध आत्म तत्त्व को सभी अद्वैती स्वयंप्रकाश तथा स्वयंसिद्ध स्वीकार करते हैं विशुद्ध विज्ञानस्वरूप होने के कारण इसका प्रकाश मौलिक एवं स्वयंसिद्ध है। अन्य सब वस्तुयें 'आगन्तुक' हैं क्योंकि वे सब इस आत्मतत्त्व के प्रकाश से ही प्रकाशित होती हैं। इसका निराकरण नहीं हो सकता क्योंकि जो निराकर्ता है वही इसका स्वरूप है। चित्सुखाचार्य ने आत्मा के स्वप्रकाशत्व का विशद विवेचन किया है। वे पहले स्वप्रकाशत्व के अन्य व्यक्तियों द्वारा किये गये लक्षणों की परीक्षा करते हैं और उनमें दोष दिखाते हैं। इस पूर्व पक्ष की आलोचना के पश्चात् वे सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं और 'स्वयंप्रकाश' का सही लक्षण बतलाते हैं। अवेद्य अर्थात् विषयरूप से अग्राह्य होते हुये भी जो अपरोक्ष व्यवहार के योग्य हो वही स्वयंप्रकाश है। (२) आत्मा अवेद्य है क्योंकि वह बुद्धि का विषय नहीं है। अवेद्य, अग्राह्य, अनिर्वचनीय, अज्ञेय, अज्ञात आदि शब्द यहाँ संशयवाद, अज्ञेयवाद, नास्तिकवाद या शून्यवाद में पर्यवसित नहीं होते क्योंकि इनका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा का ज्ञान हो ही नहीं सकता, इनका अर्थ इतना ही है कि आत्मा मानवी सविकल्प बुद्धि द्वारा विषयरूप में नहीं जाना जा सकता; उसके ज्ञान के लिये सविकल्प बुद्धि की ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञानरूपी त्रिपुटी को पार करके निर्विकल्प विशुद्ध विज्ञान की शरण लेनी पड़ती है। इसी विशुद्ध

---

(१) अतो मायात्मैको मयेष्टः सिद्धः। —इष्टसिद्धि-पृ० ३४,

(२) अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यतायाः तल्लक्षणत्वात्। तत्त्वप्रदीपिका पृ० ९

विज्ञान का नाम अपरोक्षानुभूति है और इसी अपरोक्षानुभूति या स्वानुभूति द्वारा आत्मसाक्षत्कार होता है। अतः स्वानुभूति द्वारा तो आत्मा सदा सर्वदा 'ज्ञेय' 'वेद्य' और 'ग्राह्य' है ही। किन्तु 'ज्ञेय' 'वेद्य' और 'ग्राह्य' आदि शब्द बुद्धि-ज्ञेय, बुद्धि-वेद्य, और बुद्धि-ग्राह्य अर्थात् बुधि-विषय के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं और आत्मा बुद्धि-ग्राह्य नहीं है। इसीलिये उसे अज्ञेय, अवेद्य, अग्राह्य आदि कहा जाता है। किन्तु बुद्धि-ग्राह्य न होते हुये भी अनुभूति-ग्राह्य होने के कारण हम उसे नितान्त 'अग्राह्य' नहीं कह सकते। वह अपरोक्षानुभूति का 'विषय' है। वह 'अनुभूत' और 'साक्षात्कृत' है। अतः उसके अस्तितत्व में सन्देह नहीं हो सकता। इसीलिये वह स्वयंसिद्ध और स्वप्रकाश है। सविकल्प बुद्धि द्वारा अवेद्य, अज्ञेय, निर्वचनीय और अग्राह्य होते हुये भी निर्विकल्प सहानुभूति द्वारा अनुभूत और साक्षात्कृत होना ही आत्मा के स्वयंप्रकाशत्व का लक्षण है। यह लक्षण आत्मा को एक ओर तो सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि मानसिक विषयों से पृथक् करता है और दूसरी ओर घट पटादि बाह्य विषयों से। सुख दुःखादि मानसिक विषय स्वानुभूत से प्रतीत होते हैं किन्तु वास्तव में वे स्वानुभूति के विषय नहीं हैं क्योंकि वे बुद्धि-विकल्प मात्र हैं; और घटपटादि वाह्य विषय व्यावहारिक दृष्टि से 'स्वानुभूत' होते हुये भी बुद्धि-वेद्य हैं। केवल आत्मा ही 'अवेद्य' और 'स्वानुभूत' है, और इसीलिये केवल वही स्वयंप्रकाश है।

स्वयंप्रकाश अनुभव-प्रत्यक्ष है ही क्योंकि अपरोक्षानुभूति द्वारा उसका साक्षात्कार होता है। गौणरीति से वह अनुमेय भी है। प्रत्यक्षसिद्ध होते हुये अनुमान-सिद्ध भी है। इस अनुमान का प्रकार यह है—

"स्वानुभूति स्वयंप्रकाश है, क्योंकि वह अनूभूति है. जो अनुभूति नहीं है वह स्वयंप्रकाश भी नहीं है जैसे घटपटादि बाह्य विषय।" (१)

---

(१) अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा, अनुभूतित्वात्, 'यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः, इत्यनुमानम्,—वहीं पृ० ११.

यदि स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध आत्मा की सत्ता स्वीकार न की जाय तो दर्शन-पथ के पथिक को अनवस्था दोष के गहन गर्त में गिरना पड़ेगा। अनुभव आत्मा को स्वतःसिद्ध प्रमाणित करता है। किसी भी व्यक्ति को अपने ज्ञान के अस्तित्व के विषय में संदेह, विपर्यय या विपरीत प्रमा नहीं होती और न किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसकी पुष्टि की अपेक्षा होती है। ज्ञाता या अनुभविता को अपने ज्ञान या अनुभव का अस्तित्व मानना ही पड़ता है। विधि और निषेध, स्वीकरण और निराकरण, मण्डन और खण्डन, ज्ञाता (जो उनका कर्ता है) की अपेक्षा रखते हैं। आत्मा ही असली ज्ञाता है और वस्तुतः ज्ञाता एवं ज्ञान नें भेद न होने के कारण आत्मा विशुद्ध विज्ञानरूप है। इसका अपलाप या निराकरण या निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि जो निराकर्ता आदि है वही उसका स्वरूप है। अतः स्पष्ट है कि आत्मा स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध है।

विज्ञान का स्वप्रकाशत्व या स्वसंवेदन 'विज्ञान का विज्ञान' या 'संवेदन का संवेदन' नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार अग्नि स्वयं को नहीं जलाती, असिधारा अपने आपको नहीं काटती, तथा उँगली का अग्रभाग अपने आपका स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार विज्ञान भी अपने आपका 'विज्ञान' नहीं करता। जिस प्रकार प्रदीप अपने आपको प्रकाशित करता हुआ अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार विज्ञान भी अपना प्रकाश हुआ ही अन्य पदार्थों का बोध करता है। जिस प्रकार प्रदीप अपने प्रकाश के लिये अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार विज्ञान भी अपने ज्ञान के लिये अन्य विज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता। यदि विज्ञान का विज्ञान हो तो फिर इस 'विज्ञान के विज्ञान, का भी विज्ञान होना चाहिये और ऐसा मानने से अनवस्थादोष आ जायगा। 'विज्ञान के विज्ञान' को नैयायिक 'अनुव्यवसाय' और मीमांसक 'ज्ञातता' कहते हैं। चित्सुखाचार्य कहते हैं कि अनुव्यवसाय या ज्ञातता द्वारा वास्तव में विज्ञान का विज्ञान नहीं होता अपितु पदार्थ का ही विज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, जब कोई व्यक्ति कहता है कि

मैं यह जानता हूँ कि मैं घट को जानता हूँ" तो यहाँ घट-ज्ञान का ज्ञान नहीं होता अपितु घट का ही ज्ञान होता है। घट-ज्ञान को प्रथम ज्ञान कहिये और घट-ज्ञान के ज्ञान को द्वितीय ज्ञान। अब सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होगा कि जब द्वितीय ज्ञान का प्रारंभ होता है तब प्रथम ज्ञान का अन्त हो जाता है। अतः प्रथम ज्ञान द्वितीय ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। द्वितीय ज्ञान का विषय घट ही है, घट-ज्ञान नहीं। (१) अतः स्पष्ट है कि ज्ञान का ज्ञान संभव नहीं है।

अब ज्ञान और ज्ञाता के सम्बन्ध पर दृष्टिपात कीजिये। वस्तुतः ज्ञान और ज्ञाता में तादात्म्य के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। वास्तविक ज्ञाता तो आत्मा ही है और वही विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है। उसे सम्विद्रूप कहते हैं। आत्मा ज्ञान-स्वरूप है और आत्मज्ञान 'स्वरूपज्ञान' है। जब भगवती श्रुति कहती है कि 'द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं होता' तो उसका अर्थ यही है कि दृष्टि अर्थात् ज्ञान अविनाशी है; उसका तात्पर्य द्रष्टा और दृष्टि में अर्थात् ज्ञाता और ज्ञान में कोई सम्बन्ध स्थापित करना नहीं है। 'द्रष्टा की दृष्टि' यह कथन भाषा का व्यवहार है और द्रष्टा और दृष्टि में कोई सम्बन्ध नहीं बतलाता। जो द्रष्टा है वही दृष्टि है और जो दृष्टि है वही द्रष्टा है। जैसे यह जानते हुये भी कि 'राहु' में और 'शिर' में कोई अन्तर नहीं, हम भाषा-व्यवहार के कारण कह देते हैं—'राहु का शिर।' (२)

ज्ञान और मोक्ष—आचार्य मण्डन मिश्र के अनुसार अविद्या ही संसार है और अद्वय एवं प्रशान्त विद्या द्वारा अविद्या का नाश हो जाना ही मोक्ष है।(३)

इसमें समस्त वेदान्तियों का मतैक्य है। यह ज्ञान अपरोक्ष और

---

(१) विदितो घट इत्यत्र अनुव्यवसायेन घटस्यैव विदितत्वमवसीयते न तु वित्तेः।—वहीं, पृ० १८

(२) वहीं, पृ० २२

(३) अविद्यास्तमयो मोक्षः सा संसार उदाहृता।
विद्यैव चाद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते॥—ब्रह्मसिद्धि १।१०६

असंस्पृष्ट और निर्विकल्प है। इसी को अपरोक्षानुभूति या स्वानुभूति या विशुद्ध विज्ञान या सम्बोधि कहते हैं। यही मोक्ष का एक मात्र कारण है। ज्ञान के बिना मोक्ष कदापि सम्भव नहीं।

मण्डन मिश्र कर्मज्ञानसमुच्चयवाद का प्रतिपादन करते हैं। कर्म और उपासना ज्ञान की परोक्षता को दूर करके उसे अपरोक्ष बनाते हैं। किन्तु सुरेश्वर आदि अन्य आचार्य इस समुच्चयवाद के घोर विरोधी हैं। वे इसमें मीमांसा की छाप देखते हैं। कर्म और उपासना को वे चित्तशुद्धि के लिये आवश्यक और नितान्त उपयोगी मानते है। कर्म और उपासना, विद्या-प्राप्ति में जो विघ्न आते हैं उन्हें बहुत अंशों में दूर करके उसे सुलभ बनाते हैं। किन्तु मोक्ष का कारण तो विद्या या ज्ञान ही है, कर्म और उपासना नहीं।

मीमांसक के अनुसार काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों के वर्जन और नित्य कर्मों के सेवन से मोक्ष प्राप्त होता है। सुरेश्वर कहते हैं कि काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों का वर्जन हो जाने पर भी कर्मों की जननी अविद्या बनी रह सकती है और जब तक अविद्या है तब तक मोक्ष असंभव है और फिर नित्य कर्मों से द्वैत का ही प्रसार होता है क्योंकि कर्म द्वैत में ही संभव हैं, अद्वैत में नहीं। जिस प्रकार अन्धकार द्वारा अन्धकार दूर नहीं होता उसी प्रकार कर्म द्वारा अविद्या कभी दूर नहीं हो सकती। अविद्या दूर करने के लिये विद्या या ज्ञान आवश्यक है।

कुमारिल भट्ट का मत है कि श्रुति केवल योग और उपासना की आज्ञा देती है। उपनिषद् के महावाक्य अपना स्वतन्त्र महत्व नहीं रखते। सुरेश्वराचार्य के अनुसार योग और उपासना गौण हैं और इनका उपयोग केवल सत्वशुद्धि है। महावाक्यजन्य अपरोक्ष ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। मण्डन मिश्र महावाक्यजन्य ज्ञान को संसृष्ट अर्थात् सविकल्प और परोक्ष मानते हैं और कहते हैं कि उपासना द्वारा इस ज्ञान की संसृष्टता और परोक्षता दूर कर लेने के पश्चात् मोक्ष प्राप्ति होती है किन्तु सुरेश्वराचार्य के अनुसार यह ज्ञान स्वयं असंसृष्ट, निर्विकल्प और अपरोक्ष है और मोक्ष का साक्षात् कारण है। जिस प्रकार "दस मूर्खों की कथा" में जिसमें प्रत्येक मूर्ख अपने

आपको छोड़ कर केवल नौ की गणना कर रहा था—किसी बुद्धिमान् द्वारा कहा गया वाक्य कि "तुम ही दशम हो" (त्वमेव दशमोऽसि) सहसा अपरोक्ष ज्ञान को जन्म देता है, उसी प्रकार श्रुति के 'तुम ही ब्रह्म हो' (तत्त्वमसि) आदि महावाक्य एक साथ अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करते हैं। द्वैताद्वैतवाद के प्राचीन पोषक भर्तृप्रपञ्च कर्मज्ञानसमुच्चय का प्रतिपादन करते हैं। जिस प्रकार तत्व न केवल द्वैत है और न केवल अद्वैत, किन्तु द्वैताद्वैत है, उसी प्रकार तत्वसाधन भी न केवल कर्म है और न केवल ज्ञान, किन्तु कर्मज्ञानसमुच्चय है। द्वैत के लिये कर्म आवश्यक है और अद्वैत के लिए ज्ञान। सुरेश्वर इस समुच्चय के घोर विरोधी हैं। उनके अनुसार कर्म की जननी अविद्या है और ज्ञान का अर्थ है अविद्यानिवृत्ति। अविद्या और अविद्यानिवृत्ति एक साथ नही रह सकतीं। अतः कर्मज्ञानसमुच्चय असम्भव है। कर्म और ज्ञान, बाध्य और बाधक होने के कारण, मेष और सिंह के समान एक साथ कभी नहीं रह सकते; और परस्पर विरोधी होने के कारण, निशा और सूर्य के समान, अन्धकार और प्रकाश के समान, उनका समुच्चय असम्भव है। (१)

अब प्रश्न उठता है कि जब अविद्या भावरूप है तो उसकी निवृत्ति कैसे? हम ऊपर बतला चुके हैं कि अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार अविद्या भावाभावविलक्षण है। सदसदनिर्वचनीय होने से ही वह अविद्या है और न्याय के आघातों को न सह सकना उसका भूषण है, दूषण नहीं। भावाभावविलक्षण अविद्या को, अभाव रूप का प्रतिषेध करन के लिए ही, भावरूप कह दिया जाता है। अतः ज्ञान का प्रकाश होते ही अविद्या का अन्धकार एक साथ हट जाता है और यदि अविद्या के भावरूप पर ही आग्रह हो तो सर्वज्ञात्ममुनि के साथ हम कह सकते हैं कि भावरूप होते हुए भी अविद्या विद्या के आगे उसी प्रकार विलीन हो जाती है जिस प्रकार अग्नि के आगे मक्खन, और यह अविद्यानिवृत्ति ही मोक्ष है।

---

(१) नैष्कर्म्यसिद्धि १।५५,५६,६६

एक और प्रश्न है। जब ब्रह्मविद्या या महावाक्यज्ञान मानवी बुद्धि द्वारा ग्राह्य हैं तो मानवी बुद्धि के अविद्याजन्य होने के कारण ब्रह्मविद्या भी अविद्या के अन्तर्गत हो गई। तब अविद्याजन्य ब्रह्मविद्या अपने कारण अविद्या को कैसे दूर कर सकेगी ? और अविद्याजन्य महावाक्यज्ञान निर्विकल्प एवं अपरोक्ष कैसे हो सकेगा ? प्रश्न कठिन है क्योंकि अविद्या के उच्चतम स्तर का है। यह उस स्थल का प्रश्न है जहाँ अविद्या और विद्या, व्यवहार और परमार्थ की सीमायें मिल सी रही हैं। वेदान्त इस प्रश्न का बहुत सुन्दर उत्तर देता है। अविद्या और विद्या का, व्यवहार और परमार्थ का भेद, 'भेद' होने के कारण ही, अविद्याजन्य है क्योंकि अद्वैत में भेद कहाँ ? व्यवहार और परमार्थ का भेद वास्तविक नहीं है। जो द्वैतदृष्टि से 'व्यवहार' और 'अविद्या' है वही अद्वैतदृष्टि से 'परमार्थ' और 'विद्या' है। किन्तु द्वैत और अद्वैत का भेद भी द्वैतजन्य ही है। सत्य है कि अद्वैत में जाकर मौन हो जाना पड़ता है। अद्वैत वाणी और बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं। किन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है कि सविकल्प बुद्धि ही निर्विकल्प ज्ञान बनती है। महावाक्यज्ञान वस्तुतः महावाक्य का शब्दार्थज्ञान नहीं है। 'तत्त्वमसि' इसमें 'तत्' 'त्वं' और 'असि' इन संस्कृत शब्दों को और उनके अर्थ को तो प्रत्येक संस्कृतज्ञ जानता है और वेदान्त के विद्वानों ने 'तत्' और 'त्वं' पदार्थों का विशद और विस्तृत विवेचन किया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ये सब संस्कृतज्ञ और वेदान्त के विद्वान् महावाक्यज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गये हैं। महावाक्य का शब्दार्थज्ञान निःसन्देह संसृष्ट, सविकल्प और परोक्ष है। किन्तु वास्तविक महावाक्य जो उसकी 'अनुभूति' है वह साक्षात्, निर्विकल्प और अपरोक्ष है और वही ज्ञान अविद्यानिवृत्ति का कारण है। यह महावाक्यानुभूति अविद्याजन्य नहीं है, अपितु अविद्यानाशक है। मानवी बुद्धि इस अनुभूति की ओर इंगित मात्र कर सकती है, इसे प्राप्त नहीं कर सकती। इसे प्राप्त करने के लिये सविकल्प बुद्धि को निर्विकल्प ज्ञान बनना पड़ता है। यदि अब दूसरी दृष्टि से भी विचार करें तो विमुक्तात्ममुनि के साथ हम कह सकते हैं कि ब्रह्मविद्या अविद्याजन्य

होते हुये भी अविद्या को नष्ट कर देती है जैसे जंगल में बांसों की परस्पर रगड़ से उत्पन्न हुई आग उन्हीं बांसों को समूल नष्ट कर देती है और अन्त में स्वयं भी शान्त हो जाती है, अथवा जैसे दीप-शिखा अपनी बत्ती के आश्रय से सारे तेल को जलाकर फिर बत्ती को भी जला देती है और अन्त में स्वयं भी शान्त हो जाती है। इसी प्रकार मानवी बुद्धि द्वारा ग्राह्य ब्रह्मविद्या अविद्याजन्य होते हुये भी विशुद्ध विज्ञान की अग्नि से अविद्या को भस्मसात् कर देती है और फिर स्वयं भी शान्त हो जाती है। तब केवल विशुद्धविज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही चमकता रहता है। विद्या का कार्य ब्रह्म को चमकाना नहीं है, अपितु अविद्या के आवरण को नष्ट कर देना है और ऐसा होने पर ब्रह्म तो अपने आप प्रकाशित हो जाता है। (१)

अब एक प्रश्न और उठता है। क्या अविद्यानिवृत्ति कोई भिन्न वस्तु है अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार ही है? मण्डन मिश्र जैसे भावाद्वैतवादी अविद्या-निवृत्ति को एक भिन्न अभावात्मक वस्तु मानते हैं। उनके विचार से अविद्या भावात्मक है और अविद्यानिवृत्ति अभावात्मक। किन्तु अविद्या को वस्तुतः 'भावरूप' नहीं समझना चाहिये क्योंकि वह भावाभावविलक्षण है। वास्त-विक दृष्टि से भावरूप केवल 'ब्रह्म' ही है और यह अद्वय है। अतः यदि अन्य भावरूप वस्तु को सत्ता स्वीकार की जाय तो अद्वैत पर आँच आ सकती है। अविद्यानिवृत्ति रूपी अभावात्मक वस्तु को स्वीकार करने से अद्वैत नष्ट नहीं होता। किन्तु अन्य अद्वैती इस भावाद्वैत को नहीं मानते। उनके मत में अविद्यानिवृत्ति कोई भिन्न अभावात्मक वस्तु नहीं है, अपितु भावात्मक ब्रह्म साक्षात्कार ही है। बिना भाव के अभाव नहीं टिक सकता। अविद्यानिवृत्ति और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं। अविद्यानिवृत्ति के विषय में विमुक्तात्ममुनि का मत भी उल्लेखनीय है। परपक्षी का आक्षेप है कि अविद्यानिवृत्ति 'सत्' नहीं हो सकती क्योंकि 'सत्' केवल ब्रह्म है; और न वह

---

(१) इष्टसिद्धि पृ० ६९–७०

'असत्' हो सकती है क्योंकि ऐसा होने पर मोक्ष की आशा व्यर्थ हो जायगी; और न वह 'सदसत्' हो सकती है क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के समान सत् और असत् एक साथ नहीं रह सकते; और न वह 'सदसद्विलक्षण' ही हो सकती है क्योंकि अविद्या और उसकी निवृत्ति दोनों सदसद्विलक्षण नहीं हो सकते। तब अविद्यानिवृत्ति है क्या? ऐसे आक्षेपों का उत्तर देने के लिये विमुक्तात्ममुनि अविद्यानिवृत्ति को "पञ्चमप्रकार" कहते हैं और यह मत उनके नाम से सम्बन्धित हो गया है। किन्तु यह उनका सिद्धांत नहीं माना जा सकता क्योंकि, जैसा श्री हिरियन्ना महोदय ने स्पष्ट किया है, अपनी पुस्तक के अन्तिम भाग में विमुक्तात्ममुनि स्पष्ट कहते हैं कि अविद्यानिवृत्ति अविद्या के समान सदसद्विलक्षण और अनिर्वचनीय है और इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि अविद्या स्वयं एक विरुद्ध वस्तु है। (१) अद्वैत वेदान्ती इसी बात को मानते हैं कि बन्धन और मोक्ष दोनों मिथ्या हैं और अविद्या के कार्य हैं। इसलिये अविद्या और अविद्यानिवृत्ति दोनों ही सदसद्विलक्षण, अनिर्वचनीय और मिथ्या हैं। जब पारिमार्थिक दृष्टि से अविद्या ही नहीं तो फिर अविद्या की निवृत्ति कैसी? अविद्या के कारण ही संसार है, और विद्या के उदय होते ही अविद्यानिवृत्ति हो जाती है और फिर "एकमेवाद्वितीय" ब्रह्म अपने स्वयंसिद्ध प्रकाश में सदा चमकता रहता हैं।

भेद और द्वैत का खण्डनः—अद्वैत के अनुसार ब्रह्म या आत्मतत्त्व ही एक मात्र सत्ता है। भेद और द्वैत पारमार्थिक नहीं है। यदि पारमार्थिक अद्वैत न स्वीकार किया जाय तो संसारप्रपंच सत्य होगा और "सत्य" बन्धन से मुक्ति की आशा मृगमरीचिका है।

मण्डन मिश्र का मत है कि भेद न तो प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है न अनुमान द्वारा और न आगम द्वारा। प्रत्यक्ष में तीन विकल्प सम्भव हैं:— (२)

(१) वहीं ८।२
(२) ब्रह्मसिद्धि पृ० ४४

(१) प्रत्यक्ष में वस्तु का ग्रहण विधिरूप से होता हो; या (२) प्रत्यक्ष एक वस्तु को अन्य वस्तुओं से व्यावृत करता हो, या (३) प्रत्यक्ष में दोनों अर्थात् वस्तुस्वरूपविधि और वस्त्वन्तरव्यवच्छेद होते हों। तृतीय विकल्प भी तीन प्रकार का हो सकता है:— (क) विधि और व्यवच्छेद एक साथ होते हों, (ख) पहले विधि और फिर व्यवच्छेद होता हो, या (ग) पहले व्यवच्छेद और फिर विधि होती हो।

प्रथम विकल्प में तो भेद का कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि इसमें वस्तु का ग्रहण विधिरूप से होता है और भेद के लिये व्यवच्छेद आवश्यक है। द्वितीय विकल्प सत्य नहीं हो सकता क्योंकि कोरा व्यवच्छेद अर्थात् विध्यनपेक्ष व्यवच्छेद असम्भव है। और फिर प्रत्यक्ष में विधि ही होती है, निषेध नहीं होता। (१) तृतीय विकल्प के तीनों प्रकार असत्य हैं क्योंकि विधि और व्यवच्छेद साथ साथ नहीं हो सकते, और न पहले व्यवच्छेद और बाद में विधि हो सकती है, और न पहले विधि तथा पश्चात् व्यवच्छेद। (२) अतः प्रत्यक्ष द्वारा भेद सिद्ध नहीं होता।

भेद और अभेद के अनुमान में चार विकल्प सम्भव हैं:— (१) या तो संसर्गवादी मीमांसकों के समान अभेद और भेद दोनों को पृथक पृथक् सामान्य और व्यक्ति विभाग से सत्य माना जाय,

(२) या भर्तृप्रपञ्च और जैन अनेकान्तवादियों के समान भेदाभेद को सत्य माना जाय।

(३) या आत्यन्तिकभेदवादी बौद्धों के समान केवल भेद को ही सत्य माना जाय, और

(४) या अभेदवादी वेदान्तियों के समान केवल अभेद को ही सत्य माना जाय। (३)

---

(१) आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः।
नैकत्व आगमस्तेन प्रत्यक्षेण विरुध्यते॥ वहीं पृ० ३६

(२) वहीं पृ० ३६–४५

(३) वहीं पृ० ६०

मण्डन मिश्र इनमें से प्रथम तीन विकल्पों की कड़ी आलोचना करके उन्हें मृषा सिद्ध करते हैं और चतुर्थ विकल्प को सत्य सिद्ध करके उसकी पुष्टि करते हैं। मीमांसकों का मत असत्य है क्योंकि दो या अधिक वस्तुयें 'सत्य' नहीं हो सकतीं, 'सत्य' केवल एक हो सकता है। जैनमत भी असत्य है क्योंकि भेद और अभेद परस्पर अत्यन्त विरुद्ध होने से एक साथ कभी नहीं रह सकते। बौद्धमत भी असत्य है क्योंकि बिना अभेद के भेद की कल्पना नहीं हो सकती। यदि भेद ही वस्तु का स्वभाव हो, तो सभी वस्तुओं का एक सा (अर्थात् भेद) स्वभाव होने से उनमें परस्पर 'भेद' नहीं रहेगा और फिर वे वस्तुयें 'वस्तुयें' भी न रह पायेंगी। पुनश्च, भेद निषेधरूप होता है अतः सभी वस्तुयें निषेधरूप हो जायेंगी, किन्तु हम देखते हैं कि वस्तुयें विधिरूप होती हैं, निषेधरूप नहीं। वस्तु को निषेधरूप मानने से वस्तु 'वस्तु' ही न रहेगी। (१) इस आक्षेप का बौद्ध यह उत्तर देते हैं कि 'वस्तु' में भेद स्वयं अपने कारण नहीं रहता किन्तु अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध के कारण रहता है, अर्थात् भेद का कार्य एक वस्तु को अन्य वस्तुओं से भिन्न करना है; भेद का अर्थ इतरव्यावृत्ति या वस्त्वन्तरव्यवच्छेद है। मण्डन मिश्र का उत्तर है कि ऐसा मानने पर भेद को वस्तु का स्वभाव नहीं माना जा सकेगा क्योंकि 'सम्बन्ध' तो एक मानसिक कल्पना है और 'वस्तु' वास्तविक पदार्थ है जिसकी सत्ता मानसिक कल्पना पर निर्भर नहीं है। वस्तु की स्थिति अपनी है; उसे अपनी सत्ता के लिये पौरुषेय अपेक्षा की आवश्यकता नहीं है। (२)

बौद्ध अपने अर्थक्रियाकारित्ववाद द्वारा भेद की सिद्धि करना चाहते हैं। वस्तु के लिये अर्थक्रियासमर्थ होना अनिवार्य है और चूंकि अर्थक्रिया-सामर्थ्य भिन्न भिन्न है अतः वस्तुओं में भी भेद है। मण्डन मिश्र का आक्षेप है कि यदि ऐसा हो तो फिर एक ही अग्नि को, जिसमें जलाने, पकाने और

---

(१) भेदश्चेत् वस्तुनः स्वभावः, नैकं किंचन वस्तु स्यात्।

—वही पृ० ४७

(२) पौरुषेयीमपेक्षां च न हि वस्त्वनुवर्तते।—वहीं पृ० ४८

प्रकाश देने का सामर्थ्य है, एक अग्नि न मान कर 'तीन भिन्न अग्नियाँ' मानना पड़ेगा। किन्तु गुणभेद से द्रव्यभेद स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह तो उलटा यही सिद्ध करता है कि भेद असत् है क्योंकि भेद द्रव्याश्रित गुणों में है, द्रव्य में नहीं। (१) जिस प्रकार एक ही अग्नि में दाह, पाक और प्रकाश का सामर्थ्य है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म में निखिलभेदप्रपञ्च-सम्पादन पटु अचिन्त्य सामर्थ्यातिशय है। अतः भेद कल्पना मात्र है। अभेद पारमार्थिक है। अनेक तरंगों में प्रतिबिम्बित होने से चन्द्रमा अनेक नहीं हो जाता। इसी प्रकार जगत्प्रपंच में भासित ब्रह्म अनेक नहीं बनता। भेद केवल व्यावहारिक है और ब्रह्म पर आश्रित है। (२)

विमुक्तात्ममुनि के अनुसार भी सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच साक्षी ब्रह्म पर निर्भर है। स्वानुभूति और प्रपंच न तो भिन्न हैं, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न। (३) द्रष्टा और दृश्य को एक दूसरे से भिन्न नहीं मान सकते, क्योंकि भेद दृश्य पदार्थों में ही हो सकता है और द्रष्टा कभी दृश्य नहीं बन सकता। पुनश्च, भेद भिन्न पदार्थों का 'स्वरूप' भी नहीं है क्योंकि यदि वह पदार्थ का ही स्वरूप होता तो उसके लिये इतरव्यावृत्ति या अन्य-व्यवच्छेद की अपेक्षा न होती और न भेद को पदार्थों का 'धर्म' माना जा सकता है क्योंकि ऐसा मानने पर इस भेद को जानने के लिये दूसरे भेद की अपेक्षा होगी और इस दूसरे भेद के ज्ञान के लिए तीसरे भेद की और इस प्रकार अनवस्था दोष आयगा। अपि च, भेद निषेध पर आश्रित है और निषेध असत्व पर। द्रष्टा स्वयंप्रकाश और स्वतःसिद्ध है। अतः वह सर्वदा

---

(१) अर्थक्रियाकृते भेदे रूपभेदो न लभ्यते। दाहपाकविभागेन कृशानु र्न हि भेदवान् ॥—वहीं पृष्ठ ५०

(२) प्रत्येकमनुविद्धत्वादभेदेन मृषा मतः। भेदो यथा तरंगाणां भेदाद् भेदः कलावतः ॥ वहीं पृ० ७२

(३) न भिन्नः नाप्यभिन्नः नापि भिन्नाभिन्नः अनुभूतेः प्रपंचः।—इष्ट-सिद्धि पृ० २४

विद्यमान है। अतः उसका असत्त्व नहीं हो सकता। असत्व नहीं होने से उसका निषेध नहीं हो सकता और निषेध नहीं होने से उसमें भेद नहीं हो सकता। (१)

किन्तु द्रष्टा और दृश्य परस्पर अभिन्न भी नहीं हो सकते क्योंकि फिर द्रष्टा को दृश्य के समस्त दोषों से दुष्ट मानना पड़ेगा। बौद्धों का सहोपलम्भ-नियम भी उनको अभिन्न सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि सहोपलम्भ में भी दोनों का अर्थात् दृक् और दृश्य का साथ साथ भान होता है, अन्यथा सहोक्तिवैफल्यदोष उपस्थित होगा। और फिर बौद्ध भी विषयों के 'विषयत्व' का खण्डन नहीं करते; केवल वे विषयत्व को विज्ञानभिन्न नहीं मानते। पुनश्च, द्रष्टा तो स्वयंप्रकाश और स्वतःसिद्ध और विज्ञानात्मा है; किन्तु दृश्य जड़ है, विषय है और अपने प्रकाश के लिये द्रष्टा पर आश्रित है। अतः इनका भेद स्पष्ट है ही। इनको अभिन्न मानने पर सर्वव्यवहार-लोपप्रसंग उपस्थित होता है। (२)

दृक् और दृश्य को भिन्नाभिन्न भी नहीं मान सकते क्योंकि भेद और अभेद परस्पर अत्यन्त विरुद्ध होने से अन्धकार और प्रकाश के समान साथ साथ नहीं रह सकते।

अतः इसी निर्णय पर आना पड़ता है कि द्रष्टा और दृश्य न तो भिन्न हैं, न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न। इसलिये उनका सम्बन्ध अनिर्वचनीय और मिथ्या है। किन्तु द्रष्टा तो स्वयंप्रकाश और स्वतःसिद्ध है। अतः सिद्ध हुआ कि दृश्यप्रपञ्च और उसके समस्त भेद द्रष्टा पर निर्भर हैं और मिथ्या हैं।

श्रीहर्ष मिश्र का मत है कि भेद की सिद्धि न प्रत्यक्ष से हो सकती है और न अनुमान से और न आगम से। भेद को न तो वस्तु का 'स्वरूप' माना जा सकता है, न 'धर्म', और न उसे 'अन्योन्याभाव' कहा जा सकता है, न

---

(१) वहीं पृ० ३-१०

(२) वहीं पृ० १४

'वैधर्म्य'। भेद अविद्या का कार्य है। श्रीहर्ष कहते हैं हम भेद को नितान्त असत् नहीं बतलाते। हम तो इतना ही कहते हैं कि पारमार्थिक दृष्टि से भेद असत् है। व्यावहारिक दृष्टि से अविद्याजन्य भेद का अस्तित्व हमें मान्य है। किन्तु यह व्यावहारिक भेद पारमार्थिक अद्वैत का बाध नहीं कर सकता, उसके लिये पारमार्थिक भेद चाहिये जो असंभव है। (१)

यह अद्वैतबुद्धि तर्कशत द्वारा भी दूर नहीं की जा सकती। इस अद्वैत को शुष्क तर्क से दूर करने का प्रयत्न करना सौभाग्यवश प्राप्त हुये चिन्तामणिरत्न को समुद्र में फेंक देने के समान है। (२)

मधुसूदन सरस्वती "बोध" और "वादिविजय" के लिये रचित (३) अपने "अद्वैतसिद्धि" नामक ग्रन्थ में भेद और द्वैत का सविस्तर एवं मार्मिक खंडन करते हैं। 'न्यायामृत' के लेखक द्वैती व्यासतीर्थ उनके प्रधान मल्ल हैं।

जगत्प्रपंच के पारमार्थिक असत्व का प्रतिपादन तथा त्रिपुटी-जाल-बद्ध तर्क की असहायता एवं सविकल्प बुद्धि तथा उसकी समस्त कोटियों और कल्पनाओं का वैफल्य प्रदर्शन:—

आचार्य श्रीहर्ष और चित्सुख सविकल्प बुद्धि और उसकी सारी कोटियों और कल्पनाओं की बड़ी सूक्ष्म, गहन, सविस्तर और मार्मिक विवेचना करके उनकी असहायता तथा विफलता बतलाते हैं। नैयायिकों और मीमांसकों ने प्रमा के लक्षण, विविध प्रमाणों के लक्षण, तथा द्रव्यादि पदार्थों के

---

(१) अद्वैतं हि पारमार्थिकमिदं पारमार्थिकेन भेदेन बाध्येत, न त्वविद्याविद्यमानेन। —खंडनखंडखाद्य पृ० ५८

(२) धीधनाः! बाधनायाऽस्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ। क्षेप्तुं चिन्तामणिं पाणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ॥ —खण्डन पृ० ६०

(३) बोधाय वादिविजयाय च सत्वराणामद्वैतसिद्धिरियमस्तु मुदे बुधानाम्। —अद्वैतसिद्धि पृ० ४

लक्षण किये हैं। श्रीहर्ष और चित्सुख इन सब लक्षणों को एक-एक करके परीक्षा करते हैं और उनको दुष्ट एवं खोखला सिद्ध करते हैं।

नैयायिक कहते हैं कि जो प्रमेय है वह सत्य है। श्रीहर्ष और चित्सुख कहते हैं कि जो प्रमेय है वह मिथ्या है। तत्त्व प्रमेय नहीं है क्योंकि वह अनुभूति-गम्य है। शून्यवादियों के 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' के समान श्रीहर्ष उसे 'पञ्चमकोटिमात्र' कहते हैं। (१) तर्क त्रिपुटी के बिना कार्य नहीं कर सकता। बुद्धि की कोटियाँ और कल्पनायें स्वभावतः सविकल्प और सापेक्ष हैं। अतः वे केवल व्यवहार में ही कार्य कर सकती हैं। इसकी सत्ता अविद्या पर निर्भर है, व्यावहारिक है, लौकिक है, कामचलाऊ है। उसे पारमार्थिक या वास्तविक नहीं कह सकते। जिस क्षण हम इस तथाकथित वास्तविक जगत्-प्रपञ्च की ओर उसके समस्त अनुभवों की मार्मिक आलोचना करते हैं, उसी क्षण ये सब विलीन हो जाते हैं। और सविकल्प बुद्धि भी विलीन हो जाती है क्योंकि वह भी अविद्या का कार्य है। जीव और जगत् का यह सम्पूर्ण प्रपञ्च सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या दीख जाता है। श्रीहर्ष और चित्सुख कृत आलोचना विशेषतः खण्डनात्मक है। उन्होंने न्याय और मीमांसा आदि कृत लक्षणों को ही खण्डित नहीं किया है, अपितु लक्षणमात्र की और लक्षण करनेवाली सविकल्प बुद्धि की एवं उसकी समस्त कोटियों और कल्पनाओं की धज्जियाँ उड़ा दी हैं।

श्रीहर्षकृत खण्डनखण्डखाद्य के टीकाकार और एक स्वतन्त्र ग्रन्थ 'तत्त्वप्रदीपिका'—जिसे चित्सुखी कहते हैं—के लेखक चित्सुखाचार्य ने श्रीहर्ष की कमियों को बहुत कुछ पूरा किया है। श्रीहर्ष का उद्देश्य बुद्धि की कोटियों और कल्पनाओं को समूल उखाड़ देना था और लक्षणमात्र का वैफल्य प्रदर्शित करना था। किन्तु 'खण्डनखण्डखाद्य' में उन्होंने प्रायः नैयायिकों को—विशेषतः उदयनाचार्य को—ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाया और नैयायिकों द्वारा किये गये लक्षणों का ही खण्डन किया। उन्होंने वेदान्त के

(१) नैषधचरित १३।३६

मण्डनात्मक विचारों का विशेष उल्लेख नहीं किया। किन्तु चित्सुखाचार्य ने अद्वैत के मण्डनात्मक विचारों का उल्लेख ही नहीं अपितु विशद और अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया है। चित्सुखाचार्य ने विविध लक्षणों का खण्डन करते हुये 'लक्षण' का भी विस्फोट कर दिया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि सविकल्प और सापेक्ष होने के कारण बुद्धि की समस्त कोटियाँ और कल्पनायें विरुद्ध, अनिर्वचनीय और मिथ्या हैं। श्रीहर्ष का मुख्य उद्देश्य समस्त प्रपञ्च को अनिर्वचनीय और मिथ्या सिद्ध करना है और उनका आग्रह प्रपञ्च को व्यवहार मात्र बतलाने पर है। चित्सुखाचार्य का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि जगत्, प्रपञ्च होते हुये भी ब्रह्म पर आश्रित है और उनका आग्रह व्यवहार को परमार्थ पर निर्भर बतलाने पर है। श्रीहर्ष की प्रवृत्ति खंडनात्मक है। चित्सुख खण्डन करते हुये भी मण्डन की उपेक्षा नहीं करते।

श्रीहर्ष की कृति, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, खण्डनात्मक है। शून्य-वादियों के समान श्रीहर्ष का अपना कोई पक्ष नहीं है। वे कोई 'लक्षण' नहीं देते। और दें भी कैसे जब वे लक्षण मात्र को मिथ्या बतलाते हैं? यद्यपि श्रीहर्ष प्रायः नैयायिकों के लक्षणों का खण्डन करते हैं तथापि उनके खण्डन सब मतों के सब लक्षणों पर लागू होते हैं। श्रीहर्ष स्वयं कहते हैं कि उनके खण्डनों की सार्वपथीनता निर्बाध है और अभीष्ट सिद्धि के लिये होते हुये भी उनका विषयान्तर में यथेच्छ योजन किया जा सकता है तथा उन खण्डनों के सदृश अन्य खण्डनों की कल्पना कर लेनी चाहिये और युक्तियां शेष होने लगें तो खण्डनशृंखला का पुनर्योजन करना चाहिये। (१)

---

(१) अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामखण्डि राज्ञामिव नैवमाज्ञा। तत् तानि कस्मान् न यथाभिलाषं सैद्धान्तिकेऽप्यद्ध्वनि योजयध्वम्॥
—खण्डन पृ० ६१
तत् तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे। शृङ्खला तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया। —वहीं पृ० ४१६

अपने अभिमान के कारण वे इतना तक कहने में भी नहीं चूकते कि लोग उनके खण्डनों को तोते की तरह रट कर अभिमानी प्रतिपक्षियों को 'निर्वचन' का खण्डन करके निरुत्तर करते हुये लोक मे दिग्विजयक्रीडा कर सकते हैं (१)

श्रीहर्ष ने अपने 'खण्डन' की एक लम्बी भूमिका लिखी है जो उनके दर्शन का बहुत ही सुन्दर सारांश है। वाक्-पाटव, वाणी और भाषा की तोड़ मरोड़, बुद्धि का कलाकौशल, पाण्डित्य का बघार और तार्किकी नटविद्या जो उनके 'खण्डन' में प्रचुरतया उपलब्ध हैं, सौभाग्यवश 'भूमिका' में अनुपस्थित हैं। तत्त्वनिर्णय और वादिविजय को श्रीहर्ष शास्त्रार्थ का उद्देश्य मानते हैं। 'खण्डन' का मुख्य उद्देश्य 'वादिविजय' हो गया है और 'तत्त्वनिर्णय' गौण सा बन गया है, किन्तु खण्डन की भूमिका में 'तत्त्वनिर्णय' ही प्रधान है। यदि 'खण्डन' का शरीर भी 'भूमिका' जैसा ही होता तो निःसन्देह यह अद्वितीय ग्रन्थ होता। 'भूमिका' अपने गुणों के कारण शाङ्करभाष्य से टक्कर लेती है। श्रीहर्ष के समय में दिग्विजय की प्रथा सी हो चली थी और समय का प्रभाव 'खण्डन' के शरीर पर स्पष्ट है। श्री सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त महोदय ठीक कहते हैं कि 'यदि श्रीहर्ष के खण्डन न्याय-लक्षणों की भाषा की अपेक्षा उनके विचारों पर अधिक प्रहार करते तो उत्तरकालीन नव्य-नैयायिकों को भाषा की तोड़ मरोड़ और तार्किकी नटविद्या का प्रदर्शन (श्रीहर्ष के खण्डनों से बचने के लिये) करने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। अतः श्रीहर्ष प्रथम महान् दार्शनिक हैं जिनपर परोक्षरीति से नव्य न्याय की नटविद्या का अधिकांश में उत्तरदायित्व है।' (२)

श्रीहर्ष का मत है कि दार्शनिकविचारासहत्व के कारण विश्वप्रपञ्च

---

(१) शब्दार्थनिर्वचनखण्डनया नयन्तः सर्वत्र निर्वचनभावमखर्वगर्वान्। धीराः यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा लोकेषु दिग्विजयकौतुकमातनुध्वम्॥ —वहीं पृ० २

(२) भारतीय दर्शन का इतिहास द्वितीय भाग पृ० १४६

'सत' नहीं हो सकता और साथ ही साथ व्यवहारयोग्य होने के कारण 'असत्' भी नहीं हो सकता और 'सदसत्' की कल्पना में ही विरोध होने के कारण 'सदसत्' भी नहीं हो सकता। अतः विश्वप्रपञ्च 'सदसत्सदसद्विलक्षण' सिद्ध होता है और ऐसा होने से अनिर्वचनीय है और अनिर्वचनीय होने से मिथ्या है। 'लक्षणमात्र' और 'पक्षमात्र' मिथ्या हैं क्योंकि मानवी बुद्धि विकल्प और सापेक्षता के वृत्त के बाहर जाने में असमर्थ है और तत्त्व निरपेक्ष और स्वतःसिद्ध और विज्ञानात्मा होने से बुद्धिग्राह्य न होकर स्वानुभूतिरूप है। आत्मानंद की मौनिता ही दर्शन का चरम लक्ष्य है।

यहाँ प्रतिपक्षी का आक्षेप है कि यदि आप विश्व का 'लक्षण' करने के अयोग्य हैं, यदि आप जगत् का सत्य सत्य 'निर्वचन' करने में असमर्थ हैं, तो अपनी अयोग्यता और असामर्थ्य को विश्व की 'लक्षणशून्यता' और 'अनिर्वचनीयता' के आवरण में छिपाने का व्यर्थ प्रयत्न न कीजिये, अपितु गुरुओं की उपासना करके उनसे 'लक्षण' और 'निर्वचन' करने की शिक्षा प्राप्त कीजिये। श्रीहर्ष इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रतिपक्षी का यह उपालम्भवचन तब शोभा देता जब हम प्रमेयमात्र को अर्थात् लक्ष्यमात्र को अनिर्वचनीय न कह कर किसी विशेष लक्ष्य को लक्षणकर्ता की अयोग्यता या असमर्थता के कारण लक्षणशून्य या अनिर्वचनीय कहते। अपने इस आक्षेप से प्रतिपक्षी ने हमारे कथन को समझ सकने की अयोग्यता प्रकट की है। हमारा कथन है कि प्रमेय मात्र ही सदसद् विलक्षण होने के कारण लक्षणशून्य और अनिर्वचनीय है। सदसदनिर्वचनीयता जगत् का स्वभाव है। यह बुद्धि के समस्त विकल्पों का धर्म है। हमारे प्रतिपक्षी को अपने लक्षणसामर्थ्य और निर्वचनयोग्यता का अभिमान है। किन्तु उसका यह अभिमान प्रमेय मात्र को और प्रमेय होने के कारण स्वयं 'लक्षण और' 'निर्वचन' को अनिर्वचनीय सिद्ध करने पर चूर चूर हो जाता है। (१)

---

(१) यदपि निर्वक्तुमसामर्थ्ये गुरव उपास्यन्तां येभ्यो निरुक्तयः शिक्ष्यन्ते इत्युपालंभवचनं तत् तदा शोभेत यदि मेयस्वभावानु-

ब्रह्म और प्रपञ्च दोनों अनिर्वचनीय हैं। ब्रह्म के लिये निर्वचन की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि वह स्वतःसिद्ध आत्मस्वरूप है। उसे अनिर्वचनीय कहने का अर्थ है कि उसके विषय में कहे गये सम्पूर्ण निर्वचन अपूर्ण रह जाते हैं। वह सविकल्प बुद्धि द्वारा 'विषय' रूप से ग्राह्य नहीं हो सकता क्योंकि वह ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की व्यावहारिक त्रिपुटी के परे है। उसके जानने के लिये उसका स्वरूप होना पड़ता है। उसका साक्षात्कार निर्विकल्प ज्ञान की अपरोक्षानुभूति द्वारा होता है। स्वयंप्रकाश और स्वयंसिद्ध होने के कारण उसका निर्वचन करना उतना ही व्यर्थ है जितना दीपक द्वारा सूर्य को प्रकाशित करने की चेष्टा करना। प्रपंच भी अनिर्वचनीय है। किन्तु इसकी अनिर्वचनीयता ब्रह्म की अनिर्वचनीयता से भिन्न है। यह सत्, असत् और सदसत् की कोटियों में नहीं पकड़ा जा सकता। अतः यह सदसदनिर्वचनीय है और इसी कारण मिथ्या है। ब्रह्म से भिन्न इसकी अपनी सत्ता नहीं है। बुद्धि के सब विकल्प व्यर्थ हैं और विरोधपूर्ण हैं। प्रमा और प्रमाण और प्रमेय की त्रिपुटी केवल व्यवहार के लिये है। वह पारमार्थिक नहीं। परमार्थ में जाकर मौन हो जाना पड़ता है।

यहाँ प्रतिपक्षी एक प्रबल आक्षेप करता है। वह कहता है कि यदि श्रीहर्ष प्रमेयमात्र को, बुद्धिगम्य पदार्थमात्र को मिथ्या बतलाते हैं तो उनका यह कथन भी प्रमेय होने के कारण मिथ्या है। बुद्धि स्वयं अपना खण्डन नहीं कर सकती। तर्क स्वयं अपना गला नहीं घोट सकता। ज्ञान अपना आत्मघात नहीं कर सकता। श्रीहर्ष जब प्रपञ्च और ब्रह्म को 'अनिर्वचनीय' कहते हैं तो क्या वे इस '*कथन*' से ही प्रपञ्च और ब्रह्म का '*निर्वचन*' नहीं कर रहे? यह वदतोव्याघात नहीं तो और क्या है? तत्त्व का द्वि-त्रि-चतुष्कोटिविनिर्मुक्त और 'अनिर्वचनीय' आदि पदों द्वारा 'निर्वचन' करने वाले अद्वैत वेदान्तियों

गामिनीयमनिर्वचनीयतेति न ब्रूयुः, वक्तृदोषादिति च वदेयुः। यस्तु वादी निरुक्त्यभिमानं धत्ते स निर्वक्तुं न तु शक्ष्यति वक्तव्यदोषात्। —खंडन० ३१-३२

और बौद्धों को क्या अपने वाग्विरोध पर लज्जा नहीं आती ? (१)

श्रीहर्ष चन्द्रकीर्ति के समान इस आक्षेप का दृढ़तापूर्वक उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि हम व्यावहारिक दृष्टि से तर्क या बुद्धि का खण्डन नहीं करते। यह तो असंभव है। व्यावहारिक प्रमाणादि सत्ता को स्वीकार करने पर ही विचारारंभ संभव है। (२) किन्तु निर्वचन व्यवहार में ही संभव है। बुद्धि स्वयं अपने वैफल्य की ओर इंगित करती है और तर्क अपने त्रिपुटी-बन्धन से मुक्त होकर निर्विकल्प ज्ञान बनने के लिए छटपटाता है। यह सत्य है कि व्यवहार और परमार्थ का भेद भी व्यवहारकृत है और इसलिये मिथ्या है, किन्तु इस भेद के बिना हम व्यवहार को भी खो बैठते हैं क्योंकि परमार्थ की अपेक्षा से ही व्यवहार की सत्ता है। अतः व्यवहार दशा में यह भेद नितान्त आवश्यक है। परमार्थ की वस्तुतः कोई 'दृष्टि' नहीं क्योंकि समस्त दृष्टियाँ व्यवहारजन्य हैं। फिर भी व्यवहार में उतर कर हमारे लिये व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टिभेद स्वीकार करना अनिवार्य है। हाँ, यदि हम कहें कि वस्तुतः पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म और प्रपंच अनिर्वचनीय हैं तो यह हमारा वदतोव्याघात ही होगा। न तो परमार्थ की कोई दृष्टि है और न अनिर्वचनीयता द्वारा निर्वचन करना निर्वचन नहीं है। चन्द्रकीर्ति के समान श्रीहर्ष भी निर्भीकतया कहते हैं कि हमारा अपना कोई पक्ष नहीं है, हमारा अपना कोई मत नहीं है, हम किसी वाद की पुष्टि नहीं करते। बुद्धि के समस्त विकल्पों को मृषा कहने वाले कैसे ऐसा कर सकते हैं? हम प्रपंच की अनिर्वचनीयता को अपना पक्ष मान कर उसकी पुष्टि नहीं करते। हम यह

---

(१) तत्त्वे द्वित्रिचतुष्कोटिव्युदासेन यथायथम्।
निरुच्यमाने निर्लज्जैरनिर्वाच्यत्वमुच्यते ॥

—न्यायसिद्धाञ्जन पृ० ९३

(२) व्यावहारिकीं प्रमाणादिसत्तामादाय विचारारंभः।

—खण्डन पृ० १०

नहीं कहते कि "प्रपंच अनिर्वचनीय है" इस निर्वचन को छोड़ कर अन्य सब निर्वचन मिथ्या हैं। हम यह नहीं कहते कि हमारे मत को छोड़कर अन्य सब मत मिथ्या हैं। यदि हम ऐसा कहते तो हममें दोष आता। हम स्वीकार करते हैं कि 'हमारा मत' भी मत होने के कारण मिथ्या है। (१) किन्तु मतमतान्तर के कलह में लिप्त प्रतिपक्षी इस बात को नहीं समझ पा रहा है कि हमारा कोई मत नहीं है, हमारा अपना कोई पक्ष और सिद्धान्त नहीं है। मतमतान्तर के कलह तो द्वैतियों को ही शोभा देते हैं, अद्वैत में मतमतान्तर और कलह को कोई स्थान नहीं। हमारा यह कथन कि 'समस्त विश्वप्रपंच सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या है' परकीय रीति से है, हमारे प्रतिपक्षी के दृष्टिकोण से है, व्यावहारिक स्तर पर उतर कर है। यह हमारा अपना मत नहीं है। वस्तुतः हम तो चरितार्थ होकर सुखपूर्वक सब प्रपंच के झंझटों से ऊपर उठ कर, व्यवहार दशा को पारकर, स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश विशुद्धविज्ञान-रूप ब्रह्मानन्द में लीन रहते हैं। (२) जो व्यक्ति व्यवहारदशा में हैं और अपनी अविद्याकल्पित प्रमा-प्रमाण-प्रमेय की त्रिपुटी में तत्व को बाँध लेना चाहते हैं, उन व्यक्तियों से, उन्हीं के व्यवहार-स्तर पर उतर कर, हम निवेदन करते हैं कि आप लोगों की यह विचारव्यवस्था ठीक नहीं है। आप तत्व को बुद्धिविकल्पों में नहीं जकड़ सकते क्योंकि बुद्धि की गति सापेक्ष पदार्थों तक सीमित है और तत्व निरपेक्ष है। तत्व ज्ञान के लिये आपको विशुद्ध निर्विकल्प स्वानुभूति की शरण लेनी पड़ेगी और मौन का दर्शन

---

(१) यो हि सर्वमनिर्वचनीयसदसत्त्वं ब्रूते स कथमनिर्वचनीयतासत्व-व्यवस्थितौ पर्यनुयुज्येत, सापि कृत्स्नप्रपंचपरसर्वशब्दाभिधेयमध्यनिविष्टैव।

—वहीं पृ० ३२-३३

(२) ततः परकीयरीत्येदमुच्यते—अनिर्वचनीयत्वं विश्वस्य पर्यवस्यतीति। वस्तुतस्तु वयं सर्वप्रपंचसत्वासत्वव्यवस्थापनविनिवृत्ताः स्वतःसिद्धे चिदात्मनि ब्रह्मतत्वे केवले भरमवलम्ब्य चरितार्थाः सुखमास्महे।

—वहीं पृ० ३३

अपना कर आत्मसाक्षात्कार करना पड़ेगा। आप जिन बुद्धिगम्य पदार्थों को सत्य समझ बैठे हैं वे सब मिथ्या हैं। आपका तर्क विफल है और आपकी बुद्धि की समस्त कोटियें और कल्पनायें मृषा हैं। आपके सब 'लक्षण' और 'निर्वचन' दोषदुष्ट हें। और यह सब आपके हो दृष्टिकोण से है, आपके ही व्यवहार-स्तर से हैं। आपको कल्पित विचारव्यवस्था के दृष्टिबिन्दु से ही हम आपके समस्त तर्कों को दुष्ट सिद्ध करते हैं। आपके दृष्टिकोण से ही हम कहते हैं कि यह सब विश्वप्रपंच सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या है। अब आपके सम्मुख उभयतःपाशा रज्जु है। या तो आप हमारे कथन को स्वीकार कोजिये या अस्वीकार। यदि आप स्वीकार करते हैं तो आप हमारे अद्वैत को अङ्गीकार कर रहे हैं, आप जुग-जुग जीवें। और यदि आप अस्वीकार करते हैं तो ध्यान रहे कि आप अपनी कल्पित विचारव्यवस्था को अस्वीकार करके स्वयं अपने तर्क को दुष्ट सिद्ध कर रहे हैं और इस प्रकार परोक्षतया अद्वैत को अङ्गीकार कर रहे हैं। अद्वैत से बचने का आपके पास कोई चारा नहीं। अद्वैत का खण्डन तभी हो सकता है जब आप अपने तर्क को हमारे तीक्ष्ण शरों से बचा सकें और यह आप कदापि नहीं कर सकते। अतः सिद्ध हुआ कि भेदप्रपंच अनिर्वचनीय है और ब्रह्म ही अद्वय परमार्थ सत् है।(१)

श्रीहर्ष हमें आश्वासन देते हैं कि इस अद्वितीय ब्रह्मास्त्र को ग्रहण

---

(१) ये तु स्वपरिकल्पितसाधनदूषणव्यवस्थया विचारमवतार्य तत्त्वं निर्णेतुमिच्छन्ति तान् प्रतिब्रूमः—न साध्वीयं भवतां विचारव्यवस्था, भवत्कल्पितव्यवस्थयैव व्याहतत्वात्। तस्मात् त्वया निर्वाह्यमस्माभिश्च खण्डनीयमितीदृश्यामेव परं कथायां त्वन्निर्वाह्यनिर्वाहे तव जयो नान्यथेति। तदेवं भेदप्रपंचोऽनिर्वचनीयः, ब्रह्मैव तु परमार्थसदद्वितीयमिति स्थितम्।

वहीं पृ० ३३-३४

तुलनार्थ देखिये चन्द्रकीर्ति का मत। ऊपर पृ० ६१-६२

करके, किसी अन्य को कुछ न माननेवाला दार्शनिक वीर कभी भी शास्त्रार्थ-युद्ध में पराजित नहीं हो सकता। (१)

चित्सुखाचार्य भी दृश्य प्रपंच को सदसदनिर्वचनीय होने से मिथ्या मानते हैं और कहते हैं कि यह आत्मतत्त्व पर अभ्यस्त है। न यह सत् है, न असत्; न यह स्वतः सिद्ध है, न परतः सिद्ध। अतः इसका मिथ्यात्व सिद्ध है। (२)

पुनश्च, दृक् और दृश्य में, विषयी और विषय में, ज्ञाता और ज्ञेय में, प्रमाता और प्रमेय में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। ज्ञान का कारण इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं हो सकता क्योंकि जब शुक्ति में रजत की भ्रान्ति होती है तब रजत से इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं होता यद्यपि रजत का ज्ञान होता है। ज्ञाता और ज्ञान, ज्ञेय में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते। इच्छा वेदना, चिकीर्षा आदि भी आन्तर मानसिक वृत्तियाँ होने के कारण बाह्य पदार्थों से वस्तुतः सम्बन्धित नहीं हो सकतीं। ज्ञान को ज्ञेय का आधार भी नहीं कह सकते क्योंकि ज्ञान में ज्ञेय उस प्रकार नहीं रक्खा जा सकता जिस प्रकार कूँड़े में बदर फल। किन्तु दृक् और दृश्य में किसी प्रकार का सम्बन्ध तो होना ही चाहिये अन्यथा दृक् को दृश्य और दृश्य को दृक् कहा जा सकेगा। यदि दृक् को दृश्य के अन्तर्गत मानें तो चार्वाक के भौतिकवाद की खाई में गिरेंगे और यदि दृश्य को दृक् के अन्तर्गत मानें तो बौद्धों के मनोविज्ञानवाद के गड्ढे में गिरेंगे और यदि दोनों को भिन्न मानें तो इनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते। न तो यह कह सकते हैं कि दृक् दृश्य को देखता है क्योंकि दृक् तो साक्षी मात्र है उसे प्रपंच में कैसे बाँधे? और न यह कह सकते हैं कि दृश्य दृक् का ज्ञान करता है क्योंकि यह कथन उतना ही हास्यापद है जितना यह कहना कि घट कुम्हार का ज्ञान करता है। अतः इसी निर्णय पर आना पड़ता है कि सब प्रपंच अनिर्वचनीय और मिथ्या हैं।

---

(१) एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यद् गणयतः क्वचित्।
आस्ते न धीरवीरस्य भंगः संगरकेलिषु॥ —खण्डन, पृ० ४७

(२) दृश्यप्रपंचस्य स्वतः परतश्चासिद्धेः दृगात्मनि अध्यस्ततयैव सिद्धिरिति सिद्धं मिथ्यात्वम्। —तत्त्वप्रदीपिका पृ० २२

चित्सुखाचार्य प्रपंच को मिथ्या बतलाते हैं किन्तु उनका आग्रह प्रपंच के व्यावहारिक सत्यत्व पर है। परमार्थिक मिथ्यात्व और व्यावहारिक सत्यत्व एक ही बात है। प्रपंच शशश्रृंगवत् या वन्ध्यापुत्रवत् 'असत्' नहीं है। वह 'सदसद्‌विलक्षण' है। परमार्थ में जाने पर ही उसका मिथ्यात्व जाना जाता है जैसे जाग्रत् में आने पर ही स्वप्न का मिथ्यात्व प्रकट होता है या जैसे शुक्ति का ज्ञान होने पर ही शुक्ति रजत भ्रम सिद्ध होता है। व्यवहार दशा में प्रपंच का सत्यत्व अस्वीकृत नहीं होता। चित्सुख बौद्ध संवृतिसत्य और वेदान्तिक व्यवहार-सत्य की समता स्वीकार करते हैं और संवृति सत्य पर मीमांसक कुमारिल भट्ट द्वारा किये गये आक्षेपों का खण्डन करते हैं। कुमारिल भट्ट का मत है कि संवृति 'सत्य' नहीं है, क्योंकि यदि वह 'सत्य' है तो 'संवृति' नहीं हो सकती और यदि 'असत्य' है तो 'सत्य' नहीं हो सकती। चित्सुखाचार्य का उत्तर है कि वस्तुतः संवृति 'सत्य' नहीं है। किंतु संवृति का बाध परमार्थदशा में होता है संवृतिदशा में नहीं। अतः जब तक हम व्यवहारदशा में हैं तब तक हमें समस्त लौकिक और वैदिक व्यवहार का, संवति का, सत्यत्व मानना ही पड़ेगा। संवृति के अस्त्र से ही संवृति का खण्डन नहीं हो सकता। (१)

श्रीहर्ष और चित्सुख अपने सुतीक्ष्ण तर्क शरों द्वारा बुद्धि के समस्त विकल्पों और कोटियों को छिन्न भिन्न कर देते हैं। यद्यपि उनका समग्र उल्लेख इस ग्रन्थ में सम्भव नहीं, तथापि उनके तर्क के कुछ उदाहरण यहाँ दिये धाते हैं जिनसे उनकी शैली और विचार स्पष्ट हो जायगें।

नैयायिकों ने प्रमा और प्रमाणों के लक्षण और विवेचन में पर्याप्त श्रम

---

(१) इदमप्यपास्तं यदाहुर्भट्टाचार्याः--'सम्वृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतो न्वयम्। सत्या चेत् संवृतिः केयं मृषा चेत् सत्यता कथम्॥' इति। वस्तुतोऽसत्यस्यैव यावद् बाधं लौकिकवेदिकव्यवहाराङ्गतया सत्यत्वेन व्यवहारात्।

--तत्वप्रदीपिका पृ० ४२-४३

किया है। किन्तु श्रीहर्ष और चित्सुख उन्हें नितान्त व्यर्थ सिद्ध कर देते हैं। पहले 'प्रमा' के लक्षणों को लीजिये। कुछ नैयायिकों ने प्रमा का लक्षण किया है—"तत्वानुभूतिः प्रमा" अर्थात् प्रमा तत्त्व की अनुभूति है। श्रीहर्ष और चित्सुख कहते हैं कि यह लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि मान लीजिये यदि किसी व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति की मुट्ठी में छिपे हुये पदार्थ या उनकी संख्या का अनुमान से ठीक पता लगा लिया तो यहाँ तत्वानुभूति तो हो गई, किन्तु क्या यह प्रमा हुई? इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति ने किसी पर्वत पर कुहरा छाया देख कर और उस कुहरे को गलती से धुआँ समझ कर यह अनुमान किया कि पर्वत 'वह्निमान् है' और दैवात् यदि सचमुच उस समय पर्वत में आग लग रही हो तो यहाँ तत्वानुभूति तो हो गई किन्तु क्या इसे आप प्रमा कहेगें?

दूसरा लक्षण है—"यथार्थानुभवः प्रमा' अर्थात् प्रमा वह अनुभव है जिसका 'अर्थ' से अर्थात् बाह्यपदार्थ से विरोध न हो; जैसा पदार्थ हो उसका वैसा ही अनुभव हो। यह लक्षण भी असत्य है। अविरोध न तो 'अर्थ' का स्वभाव है क्योंकि अविरोध तो मानसिक है और अर्थ बाह्य, और न वह 'अनुभव' का स्वभाव है क्योंकि अनुभव में विरोध भी होता है। और फिर यह 'यथा-तथा' का अर्थात् 'यथा अर्थ हो तथा अनुभव हो' इसका सम्बन्ध भी नहीं बैठता क्योंकि अर्थ बाह्य होता है और अनुभव आन्तरिक। मान लीजिये दो पीले आम रक्खे हैं और हमें उनका अनुभव हो रहा है। यहाँ 'अर्थ' (आम) तो 'दो' हैं, 'पीले' हैं और 'आम' हैं, किन्तु 'अनुभव' न तो 'दो' है, न 'पीला' है और न 'आम' है।

तीसरा लक्षण उदयनाचार्य का है—"सम्यक्परिच्छेदः प्रमा'। यह लक्षण भी ठीक नहीं है। सम्यक् का अर्थ क्या है? समस्त अथवा सविशेष? यदि समस्त है तो हम पदार्थ के समस्त परिच्छेद को नहीं जान सकते। यह केवल सर्वज्ञ का कार्य है। और यदि सम्यक् का अर्थ यहाँ सविशेष है तो तो इस लक्षण का अर्थ हुआ कि प्रमा उस ज्ञान को कहते हैं जो हमें उन सारे गुण, धर्म और विशेषताओं का बोध कराये जो किसी पदार्थ

में रहते हैं और उस पदार्थ को अन्य सब पदार्थों से अलग करते हैं। अब, प्रथम तो हम किसी पदार्थ के सारे गुण, धर्म और विशेषताओं को जान ही नहीं सकते और द्वितीय, इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है क्योंकि शुक्ति-रजत के ज्ञान में भी सम्यक् परिच्छेद होता है तब क्या शुक्ति-रजत के ज्ञान को प्रमा कहेंगे ?

चौथा लक्षण बौद्धों का है—"अविसम्वाद्यनुभवः प्रमा"। अविसंवादी अर्थात् अविरोधी अनुभव को प्रमा कहते हैं। यह लक्षण भी असत् है। प्रश्न है 'किसका अविसंवादी'। यदि बाह्य अर्थ का अविसंवादी अनुभव प्रमा है तो यह लक्षण "यथार्थानुभवः प्रमा" से भिन्न नहीं है जो दुष्ट सिद्ध किया जा चुका है। और यदि अविसंवादी का अर्थ है वह अनुभव या ज्ञान जो उत्तरकालीन दूसरे अनुभव या ज्ञान से यथार्थ सिद्ध होता हो, तो अप्रमा को भी जब तक वह बाधित न हो प्रमा मानना पड़ेगा क्योंकि बाध होने से पूर्व अप्रमा भी उत्तरकालीन ज्ञान से यथार्थ ही प्रतीत होती है। यह अतिव्याप्ति दोष भी है क्योंकि जब एक अच्छे नेत्र वाले व्यक्ति के 'शंख श्वेत है' इस ज्ञान का किसी दूसरे पीलिया नेत्ररोग वाले व्यक्ति के 'शंख पीत है' इस उत्तर-कालीन ज्ञान द्वारा 'बाध' हो जायगा, तो 'बाधित' होने से यह ज्ञान अविसंवादी न रहेगा और फिर 'शंख श्वेत है' इस प्रमा को भी हम प्रमा नहीं कह सकेंगे। अब यदि यह कहा जाय कि नेत्ररोगी का 'शंख पीत है' यह ज्ञान दुष्ट है अतः 'शंख श्वेत है' इस ज्ञान का बाध नहीं कर सकता क्योंकि बाध सम्यक् ज्ञान द्वारा ही हो सकता है दुष्ट ज्ञान द्वारा नहीं, तो हम तेली के बैल की तरह एक ही घेरे में घूम रहे हैं क्योंकि सम्यक् ज्ञान ही तो प्रमा है जिसका लक्षण हमें करना है और जब तक हम प्रमा का लक्षण नहीं करें तब तक 'सम्यक् ज्ञान' को कैसे जान सकते हैं। और बिना सम्यक् ज्ञान को जाने हम दुष्ट ज्ञान को भी नहीं जान सकते।

कुछ बौद्ध कहते हैं कि "अर्थक्रियाकारित्वज्ञान" प्रमा है। जो अग्नि उष्ण हो, प्रकाश दे, जला सके और भोजन पका सके वही अग्नि है और उसी का ज्ञान प्रमा है। शीतल अग्नि का ज्ञान अप्रमा है। किन्तु यह लक्षण

भी ठीक नहीं। यदि 'शीतल अग्नि' होती तो उसमें भी अर्थक्रियाकारित्व होता। सत्य है कि वह भोजन नहीं पका सकती, किन्तु ऊष्मा से पीड़ित लोगों को शरण दे सकती थी। और फिर अप्रमा में भी अर्थक्रियाकारित्व होता है। रज्जु-सर्प भी, जब तक भ्रान्ति बनी है, भयभीत करने में समर्थ है।

कुछ लोगों का लक्षण है—"अबाधितानुभूतिः प्रमा।" यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि, फिर रज्जु-सर्प का अनुभव भी, जब तक उसका बाध न होगा, प्रमा कहलायेगा। यदि यह कहा जाय कि 'अबाधित' का अर्थ है 'जिसका कभी बाध न हो', तो कोई ज्ञान प्रमा नहीं कहला सकेगा क्योंकि हम किसी ज्ञान के लिये यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि इसका कभी बाध नहीं होगा।

अतः प्रमा का कोई ठीक लक्षण नहीं किया जा सकता। और जब प्रमा का लक्षण नहीं हो सकता तो 'प्रमाण' का लक्षण भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रमाण को 'प्रमा का कारण या साधन'—"प्रमाकरणं प्रमाणम्"—कहा जाता है।

नैयायिक 'प्रत्यक्ष' को 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान' कहते हैं। यह लक्षण ठीक नहीं। प्रथम तो इन्द्रियार्थसनिकर्ष ही सिद्ध नहीं है और यदि इसे मान भी लें तो इसके साथ साथ आत्मेन्द्रियसन्निकर्ष भी होता है, उसे भी लक्षण के अन्तर्गत करना चाहिये। और फिर बहुधा प्रत्यक्ष का बाध हो जाता है। उदाहरणार्थ, पृथिवी चपटी दिखाई देती है किन्तु है गोल; सूर्य का बिम्ब छोटा सा दीखता है, किन्तु है पृथिवी से भी बड़ा, इत्यादि। हम कैसे जानें कि अमुक प्रत्यक्ष ठीक है और अमुक नहीं ? हम कैसे कह सकते हैं कि अमुक प्रत्यक्ष प्रमाण है क्योंकि उसका कभी बाध नहीं होगा ?

इसी प्रकार 'अनुमान' भी ठीक नहीं है। नैयायिक अनुमान को लिङ्ग-परामर्श बतलाते हैं। परामर्श का अर्थ है व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान। व्याप्ति या अविनाभावनियम अनुमान का प्राण है। जहाँ जहाँ धूम है, वहां

वहाँ वन्हि है' इस साहचर्यनियम को व्याप्ति कहते हैं। साध्य और हेतु या लिंग के सर्वदा अभिन्न सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। व्याप्तिज्ञान के अनन्तर यदि यह ज्ञान हो कि पक्ष में भी हेतु का सत्व है तो इस ज्ञान से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि पक्ष में साध्य का भी सत्त्व है। श्रीहर्ष और चित्सुख व्याप्ति का खण्डन करते हैं। कुछ स्थानों में धूम और अग्नि को साथ साथ देख कर हम यह नहीं कह सकते कि उनका अविनाभावसम्बन्ध है। उदयनाचार्य इस संशयवाद से क्रुद्ध होकर कहते हैं कि शंका का आधार अनुमा है। बिना अनुमान के संशय संभव नहीं है, अन्यथा निराधार शंकायें जीवन को ही असंभव बना देंगी। कौन अप्रमत्त यह कहने का साहस कर सकता है कि एक दिन सुख की नींद सोकर जब वह प्रातः शय्या से उठेगा तो देखेगा कि सूर्य पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में उदय हो रहा है और अग्नि ताप न देकर शीत बरसा रही है या जल प्यास न बुझा कर गला घोंट रहा है? अतः सारे संशयों का आधार अनुमान ही है। शंका होना ही अनुमान की सिद्धि करना है क्योंकि बिना अनुमान के शंका हो ही नहीं सकती। संशय-वाद की भी सीमा है और वह सीमा अनुमान या तर्क है, अतः तर्क को शंकावधि माना जाता है। (१) श्रीहर्ष का उत्तर है कि शंका अनुमान पर निर्भर नहीं होती क्योंकि यदि शंका है तो अनुमान के असत्य होने की संभावना है और जब तक अनुमान के असत्य होने की सम्भावना है तब तक शंका भी बनी रहेगी, अतः तर्क को शंकावधि कैसे कहा जा सकता है? (२)

इसी प्रकार उपमान, शब्द, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों के लक्षणों का भी श्रीहर्ष और चित्सुख ने बुरी तरह खण्डन किया है तथा विविध हेत्वाभासों के लक्षणों की भी धज्जियाँ उड़ा दी हैं।

द्रव्य इत्यादि पदार्थ और कार्यकारणभावसम्बन्ध आदि भी इनके प्रहारों से नहीं बच पाये हैं। सत्ता और असत्ता या भाव और अभाव को ही

---

(१) शंकाचेदनुमास्त्येव तर्कः शंकावधिर्मतः (२) व्याघातो यदि शंकास्ति तर्कः शंकावधिः कुतः?

लीजिये। 'भाव' का कोई लक्षण नहीं हो सकता। 'भाव' को सत्ता, अस्तित्व, या सत्त्व नहीं कह सकते क्योंकि सत्त्व तो 'अभाव' का भी होता है, अभाव को स्वीकार करने का अर्थ है कि "अभाव का भी अस्तित्व या भाव है।" 'जो अभाव न हो वह भाव है'—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि भाव भी तो 'अभाव का **अभाव**' है। और जब भाव का कोई लक्षण नहीं हो सकता तो अभाव का भी नहीं हो सकता। वस्तुतः भाव और अभाव दोनों सापेक्ष पदार्थ हैं और इनकी सत्ता व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं।

द्रव्य और गुण भी सापेक्ष हैं। बिना द्रव्य के गुण त्रिशंकु के समान आकाश में नहीं लटक सकते, और बिना गुण के द्रव्य हमारे लिये शून्यवत् है क्योंकि हम गुणों को ही जान सकते हैं, द्रव्य को नहीं। कर्म भी असंभव है। सामान्य भी कल्पना मात्र है। विशेष असत् है ही। संयोगसम्बन्ध नामक गुण और समवायसम्बन्ध नामक द्रव्य दोनों असत् हैं। दोनों सम्बन्ध हैं, फिर एक को गुण और दूसरे को द्रव्य क्यों माना जाता है? सम्बन्ध असंभव है क्योंकि जिन दो पदार्थों को 'सम्बन्ध' एक दूसरे से जोड़ता है उनमें यदि 'सम्बन्ध' पहले पदार्थ में रहता है तो दूसरे में नहीं रह सकता और यदि दूसरे में रहता है तो पहले में नहीं रह सकता, और सम्बन्ध के दो टुकड़े नहीं हो सकते कि वे दोनों पदार्थों में रहें, और यदि सम्बन्ध दोनों में ही न रहे तो दोनों को जोड़ेगा कैसे? और यदि सम्बन्ध दोनों के बाहर रहे तो सम्बन्ध स्वयं एक 'पदार्थ' बन जायगा तथा इस सम्बध को दोनों पदार्थों से जोड़ने के लिये एक दूसरे सम्बन्ध की अपेक्षा होगी और इस दूसरे सम्बन्ध को पहले सम्बन्ध से सम्बंधित करने के लिये तीसरे सम्बन्ध की आवश्यकता होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष आयगा। अतः सम्बन्ध—चाहे संयोग हो चाहे समवाय—असम्भव है।

कार्यकारणभाव भी मिथ्या है। यदि कारण को 'पूर्वकालभावी' कहें तो कुम्हार का गधा भी जिस पर कुम्हार घड़े बनाने के लिये मिट्टी लाता है घट का कारण बन जायगा। यदि 'निरन्तरपूर्वकालभावी' कहें, तो भी हो सकता है कि जब जब कुम्हार घड़े बनाता हो उसका गधा वहीं खड़ा रहता हो। यदि 'निरन्तर और अनन्यथासिद्ध पूर्वकालभावी' कहें तो आकाश

जो निरन्तर और अनन्यथा घट-निर्माण के पूर्वकाल में उपस्थित रहता है हर का कारण बनेगा। और फिर रोग के लक्षणों को जो रोग से पूर्व निरन्तर और अनन्यथा प्रकट होते हैं रोग का कारण मानना पड़ेगा। पुनश्च, एक कार्य के कई कारण भी हो सकते हैं। अग्नि कई प्रकार से उत्पन्न की जा सकती है। अपिच, कभी कभी सहकारी प्रत्ययों की भी आवश्यकता होती है, तो सहकारी और कारण का क्या सम्बन्ध होगा? सहकारी को कारण से न तो भिन्न, न अभिन्न, न भिन्नाभिन्न मानना पड़ेगा। अतः कार्यकारण-भाव मृषा है।

श्रीहर्ष और चित्सुख के खण्डन नागार्जुन, चन्द्रकीर्ति, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और कमलशील के खण्डनों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। उनके खण्डनों का हम इस ग्रन्थ में ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, अतः यहाँ उनकी पुनरावृत्ति नहीं करेंगे।

श्रीहर्ष मिश्र और चित्सुखाचार्य का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि मानवी बुद्धि सापेक्ष और सविकल्प होने के कारण ज्ञाता-ज्ञेय ज्ञान की त्रिपुटी के जाल से नहीं निकल सकती। तत्त्व विशुद्ध विज्ञान है जो इस व्यावहारिक त्रिपुटी का अधिष्ठान है। विशुद्ध विज्ञान और विशुद्ध विज्ञाता में कोई भेद नहीं क्योंकि परमार्थ में त्रिपुटी नहीं है। विज्ञाता कभी 'विज्ञेय' नहीं बन सकता। बुद्धि-ग्राह्य होने का अर्थ है 'विज्ञेय' बनना। अतः तत्त्व कभी बुद्धि-ग्राह्य नहीं हो सकता। उसका साक्षात्कार विज्ञान की स्वानुभूति में होता है। उसका निराकरण नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश है। सविकल्प बुद्धि और उसकी समस्त कोटियाँ व कल्पनायें विफल हैं। ये सब अविद्या या माया के कार्य हैं। व्यवहार में अविद्या और उसके कार्य सत्य हैं, किन्तु परमार्थ में उनका बाध हो जाता है। समस्त जगत्-प्रपञ्च सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या है। ज्ञान द्वारा अविद्या को दूर करना और सविकल्प बुद्धि को विशुद्ध विज्ञान में परिणत करना मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। श्रीहर्ष कहते हैं कि श्रुति मानवीय बुद्धि की चरम सीमा है। यहाँ बुद्धि अपनी निर्बलता जान लेती है और परमार्थ की ओर इंगित करती

है जो वाङ्मनस् अगोचर है। महावाक्यों का मनन और निदिध्यासन करने से उनका वास्तविक अर्थ प्रकट होता है और तब उसी समय उसी क्षण अविद्या और उसके समस्त प्रपञ्च विलीन हो जाते हैं। ज्ञानसूर्य के उदय होते ही अविद्या-अन्धकार कैसे टिक सकता है? तब सविकल्प बुद्धि अपने सापेक्ष 'विचार-जाल' को तोड़ फेंकती है और स्वप्रकाश परमार्थ चिदानन्द-स्वरूप स्वानुभूति बनकर सदैव चमकती रहती है। (१) उस अवस्था में बुद्धि आत्मानन्दसागर में डूब कर सहज ही अखण्ड नित्यानन्द का अनुभव करती है। (२) चित्सुखाचार्य भी ज्ञान-नख से अविद्या-रूपी हिरण्यकशिपु को नष्ट करने वाले स्वप्रकाशचिदात्मरूप नृसिंह को बारंबार नमस्कार करते हैं। (३)

शङ्करोत्तर अद्वैती और बौद्ध दर्शनः—

प्रायः शङ्करोत्तर अद्वैत वेदान्ती, शङ्कराचार्य का अनुसरण करते हुये किन्तु उनके अभिप्राय को कदाचित् न समझते हुये, बौद्ध दर्शन के विषय में निम्नांकित विचार प्रकट करते हैं। :—

शून्यवाद नास्तिक असद्वाद है। शून्य का अर्थ है नितान्त असत्। यह सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध है। विज्ञानवाद क्षणिक विज्ञानों को मानता है और 'दृश्य' को 'दृक्' के अन्तर्गत मानकर मनोविज्ञानवाद बन जाता है। विज्ञान तथाकथित बाह्य जगत् को विज्ञान-बाह्य न होने के कारण सत् नहीं मानता; वेदान्त जगत् को सदसद्विलक्षण होने के कारण मिथ्या मानता

---

(१) आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनामद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम्। तत्स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा निष्पीडितादहह! निर्वहते विचारात्॥ —खण्डन पृ० ६०

(२) आत्मतत्त्वामृतसरसि निमज्य रज्यति निरायासमेव मानसम्।—वहीं

(३) प्रमाणनखनिर्भिन्नमहामोहामरारये।
नमस्कुर्मो नृसिंहाय स्वप्रकाशचिदात्मने॥ —तत्त्वप्रदीपिका पृ० ३

है। बौद्ध दर्शन भ्रान्त है और बौद्ध शुष्कतर्कपटु हैं, अतः मुमुक्षु को चाहिये कि इस असद्वाद को छोड़कर सज्जनों के सनातन मार्ग वेदान्त का आश्रय ले।

उदाहरणार्थ, प्रकाशात्ममुनि कहते हैः--जो कोई ऐसी दुर्जनोचित बातें करता है कि वेदान्तवाद बौद्ध-विज्ञानवाद के समान है, वह शोचनीय है। (१) विमुक्तात्ममुनि बौद्धों को सम्मति देते हैं कि उनको चाहिये कि शीघ्र अपनी कुतर्कमूल बुद्धि को छोड़कर सज्जनों के मार्ग का आश्रय लें अन्यथा मूर्खों को मोहित करके वे स्वयं भी विमूढ़ होकर नष्ट हो जायँगे। (२) विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि भगवत्पूज्यपाद श्री शङ्कराचार्य ने इन शुष्कतर्कपटु और अचिन्त्य नित्य आत्मा के विषय में भ्रान्त माध्यमिकों का सम्यक् खण्डन किया है। (३) सदानन्द तो बौद्धों को "बुद्धिशून्य" (४) और गंगाधरेन्द्र "जड़" (५) तक कह डालते हैं।

किन्तु शङ्करोत्तर अद्वैतियों में कुछ अपवाद भी हैं। शङ्कराचार्य को बौद्धमत से कुछ द्वेष और घृणा थी और उन्होंने उस पर घातक प्रहार किया था। शङ्कराचार्य के कई वर्षों बाद जब बौद्धमत भारत से उखड़ चुका था

---

(१) यस्तु कश्चिद् दुर्जनरमणीयां वाचं जल्पति सुगतविज्ञानवाद-
समानोऽयं वेदान्तवाद इति स शोचनीयः।—

पञ्चपादिकाविवरण पृ० ८४

(२) कुतर्कैकमूलां बुद्धिं परित्यज्य सतां मार्गमाश्रय, अन्यथा मन्दबुद्धीन्
मोहयन् स्वयं च मोमुह्यमानो विनङ्क्ष्यसि।

—इष्टसिद्धि, पृ० ५४

(३) भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटूनमून्।
आहुर्माध्यमिकान् भ्रान्तानचिन्त्येऽस्मिन् सदात्मनि॥

—पञ्चदशी २।३०

(४) प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि १।६८
(५) स्वाराज्यसिद्धि १।२६

और उसके प्रति द्वेष या घृणा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था, लोग बौद्ध-मत पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने लगे। अतः कुछ शङ्करोत्तर अद्वैती ऐसे भी हैं जिन्हें शून्यवाद के असद्वाद और विज्ञानवाद के क्षणिकवाद होने में सन्देह है। और शङ्करोत्तर अद्वैतवाद में ही श्रीहर्ष मिश्र जैसे उच्चकोटि के उद्भट और विख्यात विद्वान् भी हैं जो गौडपादाचार्य की चिरकाल लुप्त निष्पक्षता को पुनर्जीवित करके बौद्ध दर्शन और अद्वैत की समानताओं को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं।

शङ्कराचार्य के समान मण्डन मिश्र भी बौद्धों के तीन मतों का उल्लेख कर उनका खण्डन करते हैं:—बाह्यार्थवादी (सर्वास्तिवादी) भौतिकवाद की खाई में गिरते हैं:—क्योंकि उनके मतानुसार अनित्य विषय भी नित्य होने चाहियें (क्योंकि उन्हें 'सत्' माना जाता है) और रज्जु-सर्प या शुक्ति-रजत जैसे भ्रम भी 'सत्' होने चाहियें। यदि बाह्य पदार्थ 'सत्' हैं तो भ्रान्ति असंभव है और यदि बाह्य पदार्थ 'असत्' हैं तो जगत् सत् नहीं हो सकता—यह उभयतःपाशा रज्जु बाह्यार्थवादी के गले में है। विज्ञानमात्रवादी मनोविज्ञानवाद की खाई में गिरते हैं। बाह्य जगत् 'मनोविज्ञान' की कल्पना नहीं हो सकता। यदि पदार्थ 'सत्' हैं तो वे क्षणिक मनोविज्ञाननिर्मित नहीं हो सकते और यदि पदार्थ 'असत्' हैं तो संवृति भी असंभव है—यह उभयतः-पाशा रज्जु शून्यवादी के गले में है। (१) स्वतन्त्रविज्ञानवाद के 'भेद सत् है और अभेद असत् है' इस वाद के मण्डनमिश्र कृत खण्डन का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। (२)

पद्मपादाचार्य स्वतन्त्रविज्ञानवाद को ही असली विज्ञानवाद समझकर उसका खण्डन करते हैं। क्षणिक विद्वानों में अर्थक्रियाकारित्व भी नहीं हो सकना। निरर्थ, अव्यवस्थित और क्षणिक विज्ञानों का क्या महत्व ? इन बिखरे फूलों को जब तक आत्मा के सूत्र में पिरोकर माला का रूप न दिया

---

(१) ब्रह्मसिद्धि पृ० ९
(२) ऊपर पृ० २४७

जाय तब तक इनमें अर्थक्रियासामर्थ्य नहीं आ सकता। जब तक नित्य आत्मा इन क्षणिक विज्ञानों के अव्यवस्थित धागों को एकत्रित करके उन्हें रस्सी के रूप में न बँट दे तब तक वे सार्थक नहीं हो सकते। ऐसे अद्वय विज्ञानात्मा को जो नित्य और अखण्डानन्द स्वरूप है वेदान्त ने तर्क और अनुभव दोनों से सिद्ध किया है। (१) महायान का पक्ष बौद्धों द्वारा दी गई टूटी फूटी युक्तियों से स्थापित नहीं हो सकता। (२)

वाचस्पति मिश्र विज्ञानवाद और अद्वैत का भेद बताते हुये कहते हैं कि विज्ञानवाद के अनुसार जगत् विज्ञानान्तर्गत होने के कारण असत् है, किन्तु अद्वैतवाद के अनुसार जगत् सदसदनिर्वचनीय होने के कारण मिथ्या है। बाह्य पदार्थ मनोविज्ञान या बुद्धि के बाहर हैं। विषय विषयी से पृथक् है। किन्तु अनिर्वचनीय होने के कारण मिथ्या है। (३)

विमुक्तात्ममुनि भी कहते हैं कि ज्ञेय ज्ञान के अन्तर्गत नहीं हो सकता। सहोपलंभनियम से भी **'दो पदार्थों'** का सहभान सिद्ध होता है। यदि बाह्य पदार्थ असत् हैं, तो विज्ञानवादी को उन्हें 'बहिर्वत्' कहने का भी अधिकार नहीं है। और यदि विज्ञान क्षणिक हैं तो वे स्वयंप्रकाश नहीं हो सकते। अव्यवस्थित क्षणिक विज्ञानों का कोई अर्थ और महत्व नहीं। नित्य आत्मा ही इन क्षणिक विज्ञानों को व्यवस्थित करके इन्हें सार्थक बनाता है। अतः आत्मा ही स्वयंप्रकाश हो सकता है; विज्ञान आत्मा के 'विषय' या 'ज्ञेय' हैं और ज्ञेय कभी स्वप्रकाश नहीं हो सकता। इसलिये एक, अभिन्न, अनन्त, कूटस्थ नित्य आत्मा की सत्ता अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। (४)

---

(१) स चैकरूपोऽनुभवाद् युक्तिबलात् च प्रसाधितः।—पञ्चपादिका पृ० २८

(२) न माहायानिक पक्षः समर्थ्यते।—वहीं

(३) नहि ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकारां वित्तिमभ्युपगच्छन्ति, किन्तु अनिर्वचनीयं नीलादि।—भामती २।२।२८

(४) अथ जन्मादय इष्यन्ते बुद्धीनामस्वयंप्रभाः सर्वाः बुद्धयः स्युः। ततश्चैकोऽभिन्नोऽनन्तः कूटस्थनित्य आत्माऽभ्युपेयः।
—इष्टसिद्धि पृ० ११५

विमुक्तात्ममुनि शून्यवाद के खण्डन में 'शून्य' को नितान्त असत् के अर्थ में लेते हैं। उनके विचार से यदि शून्यवादी सबको शून्य समझता है तो उसे सबसे पहले अपने शून्यवाद को ही 'शून्य' समझ लेना चाहिये; यदि वह सबको 'असत्' समझने पर तुला है तो उसे अपने मत को ही 'असत्' समझ लेना चाहिये। (१) वेदान्ती के लिये जगत् 'शून्य' या 'असत्' नहीं है, अपितु सदसदनिर्वचनीय और इसीलिये मिथ्या है। यदि शून्यवादी भी अपने 'शून्य' या 'असत्' का अर्थ माया या सदसद्विलक्षणत्व मानता है, तो उसका हमारा मतैक्य है। (२) हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि शून्यवादी के शून्य का अर्थ माया है।

श्रीहर्ष स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि 'शून्य' का अर्थ नितान्त असत् न होकर सदसद्विलक्षण या माया है। शून्यवाद इसे स्वीकार करता है कि बिना सत् के असत् की कल्पना असत् है। 'असत्' का भी 'स्वरूप' है। 'असत्' भी **है** अर्थात् उसका भी सत्त्व है। (३) शून्य = सदसद्विलक्षण = अनिर्वचनीय = मिथ्या। शून्य का अर्थ है प्रतीत्यसमुत्पन्न अर्थात् सापेक्ष। और सापेक्ष की सत्ता सांवृतिक है। श्रीहर्ष कट्टर अद्वैती होकर भी साहस-पूर्वक स्वीकार करते हैं कि शून्यवादी या माध्यमिक के मत का खण्डन नहीं हो सकता क्योंकि जहाँ तक जगत्प्रपञ्च का सम्बन्ध है शून्यवादी और अद्वैतवादी के मत में कोई अन्तर नहीं है। (४) शून्यवाद का खण्डन नहीं हो सकता क्योंकि अद्वैती के समान शून्यवादी का भी अपना कोई मत

---

(१) अतो यदि भ्रान्तिरिष्येत, असत्ख्यातिरेव सा इष्यताम्।

—वहीं पृ० ११८

(२) असन् मायामिच्छसि चेत्, अस्तु समानगतिता।—वहीं पृ० १६५

(३) तस्य नियतस्वरूपस्य नियतविशेषणस्यैवासत्वात्।

—खण्डन पृ० २१

(४) माध्यमिकादिवाग्व्यवहाराणां स्वरूपापलापो न शक्यते।—वहीं

नहीं है, क्योंकि शून्यवादी भी अद्वैती के समान बुद्धि और उसकी समस्त कोटियों और विकल्पों को, इस सारे जगत्प्रपंच को 'सत्' और 'असत्' दोनों से विलक्षण और इसलिये अनिर्वचनीय एवं मिथ्या मानता है। श्रीहर्ष स्पष्ट कहते हैं कि यदि शून्यवाद और वेदान्त के अनिर्वचनीयतावाद को स्वीकार किया जाय तो अन्य सब दर्शनों के समस्त मतों और लक्षणों का खण्डन निर्बाध किया जा सकता है। (१)

अब श्रीहर्ष शून्यवाद और वेदान्त के सिद्धान्तों का मुख्य अंतर बतलाते हैं। उनका कथन है कि शून्यवाद प्रत्येक वस्तु को, यहाँ तक कि विज्ञान तक को, अनिर्वचनीय और मिथ्या कहता है। लंकावतार सूत्र में भगवान बुद्ध ने कहा है—जो जो पदार्थ बुद्धिगम्य हैं उन उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं हो सकती, अतः उनको अनिर्वचनीय, निःस्वभाव और मिथ्या कहा जाता है। किन्तु वेदान्त को माननेवाले ब्रह्मवादी विशुद्ध विज्ञान के अतिरिक्त इस समस्त विश्वप्रपंच को सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या बतलाते हैं। अतः शून्यवाद और वेदान्त में यह बड़ा भारी अन्तर है कि शून्यवाद के अनुसार विज्ञान भी मिथ्या है, किन्तु वेदान्त के अनुसार विज्ञान के अतिरिक्त अन्य सब मिथ्या है। (२) वेदान्ती को विज्ञान की शून्यता अंगीकार करना अभीष्ट नहीं। विज्ञान समेत यह समस्त विश्व शून्य है—ऐसा कहने का दुःसाहस वेदान्ती में नहीं है। वेदान्ती विज्ञान को स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध मानता है। विशुद्ध विज्ञान के अस्तित्व के विषय में किसी प्रकार का संशय या विपर्यय या

---

(१) तथा हि यदि शून्यवादानिर्वचनीयपक्षयोराश्रयणम् तदा तावदमूषां खण्डनयुक्तीनाम् निर्बाधैव सार्वपथीनता।—वहीं पृ० ६१

(२) सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषः यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति, तदुक्तं भगवता लंकावतारे (२, १७५)—"बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते। अतो निरभिलाप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः॥" इति। विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते।
—वहीं पृ० ३१

व्यतिरेकप्रमा संभव नहीं। इसका निराकरण नहीं हो सकता क्योंकि स्वीकरण और निराकरण दोनों इसी पर आश्रित हैं। (१) स्वसम्वेदन या अपरोक्षानुभूति में इसका साक्षात्कार होता है। विशुद्ध, नित्य, अखण्डानन्द और स्वप्रकाशरूप विज्ञान स्वतःसिद्ध है। (२)

यहाँ यह बता देना उचित है कि श्रीहर्ष का यह कथन कि शून्यवाद विशुद्ध विज्ञान को भी मिथ्या मानता है, ठीक नहीं है। हम शून्यवाद के विवेचन में सिद्ध कर चुके हैं कि शून्यवाद परम "तत्त्व" की सत्ता स्वीकार करता है और इस तत्त्व को विशुद्ध विज्ञानस्वरूप मानता है। यह सत्य है कि शून्यवाद ने तत्त्व का स्पष्टीकरण करने की अपेक्षा प्रपञ्च का खण्डन करने में ही विशेष प्रयास किया है। इसीलिये यह विचार कि शून्यवाद विशुद्धविज्ञान को भी "शून्य" कहता है प्रायः प्रचलित हो गया है। किन्तु "शून्य" के दोनों अर्थ—तत्त्व और प्रपञ्च; परमार्थ और संवृत्ति —समझ लेने पर यह विचार भ्रम सिद्ध हो जाता है।

विज्ञानवाद के विषय में श्रीहर्ष का मत है कि विज्ञानवाद ने शून्यवाद की कमी बहुत कुछ पूरी की है। शून्यवाद ने विज्ञान को भी शून्य या मिथ्या कह दिया; किन्तु विज्ञानवाद ने विज्ञान को ही तत्त्व मानकर विज्ञान-व्यतिरिक्त विश्व को असत् कहा। विज्ञानवाद ने विज्ञान को स्वयंप्रकाश और स्वतःसिद्ध माना। किन्तु विज्ञान को क्षणिक कह कर विज्ञानवाद

---

(१) अपरे (ब्रह्मवादिनः) पुनश्चेतसोऽपि शून्यतांगीकारे मनःप्रत्ययमनासादयन्तः सर्वमिदमसदेव विश्वमित्यभिधातुं सहसैवानुत्सहमाना मन्यन्ते विज्ञानं तावत् स्वप्रकाशं स्वत एव सिद्धस्वरूपम्। न खलु विज्ञाने सति जिज्ञासोरपि कस्यचित् जानामि न वेति संशयः, न जानामीति वा विपर्ययः, व्यतिरेकप्रमा वा। —वहीं पृ० २१

(२) स्वात्मसिद्धमेव चिद्रूपम्। —वहीं पृ० २६

अस्माभिस्तु स्वसम्वेदनबलादेव स्वतःसिद्धस्वरूपं विज्ञानमास्थीयते।

—वहीं पृ० ३१

ने वास्तविक विज्ञान की हत्या कर डाली। यही विज्ञानवाद का सबसे बड़ा दोष है। क्षणिक विज्ञान—अव्यवस्थित और निरर्थक विज्ञान—अपने ज्ञान के लिये आत्म-तत्त्व की अपेक्षा रखते हैं। यह नित्य आत्मतत्व ही स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध विशुद्ध विज्ञान है। अन्य क्षणिक विज्ञान तो इसके 'ज्ञेय' हैं, 'विषय' हैं, जिनको व्यवस्थित करके वह सार्थक बनाता है और जिनकी सत्ता उसकी सत्ता पर निर्भर है। केवल अद्वैत वेदान्त ने ही, जिसे श्रीहर्ष "स्वप्रकाश विज्ञानवाद" कहते हैं, आत्मतत्व के अतिरिक्त अन्य विश्वप्रपञ्च को मिथ्या कहा है। (१)

चित्सुखाचार्य भी बौद्ध संवति और वेदान्त के व्यवहार की समानता स्वीकार करते हैं और कुमारिल भट्ट द्वारा कृत संवृति के खण्डन का खण्डन करते हैं जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। (२)

विद्यारण्य स्वामी शून्यवाद को नितान्त असद्वाद ही मानते हैं और माध्यमिकों को "शुष्कतर्कपटु" कह कर टाल देते हैं। बिना आत्मा के शून्य का कोई अस्तित्व नहीं, क्योंकि शून्य का शून्यत्व भी साक्षी ही देख सकता है। (३) और यह साक्षी स्वप्रकाश तथा स्वयंसिद्ध है। यह विज्ञान न उदय होता है और न अस्त। यह कूटस्थ नित्य और अखण्ड है। (४) किन्तु विद्यारण्य स्वामी यह कह देने की कृपा अवश्य करते हैं कि यदि शून्य का अर्थ 'असत्' न होकर सदसदनिर्वचनीय नामरूपात्मक प्रपञ्च है तो शून्यवादी चिरंजीवी हो क्योंकि वह वेदान्ती बन गया है। (५) और हम यह स्पष्ट करते हैं कि वस्तुतः शून्यवादी शून्य को नामरूपात्मक प्रपञ्च

---

(१) वहीं पृ० २१ और ३१

(२) ऊपर पृ० २६१

(३) शून्यस्यापि हि शून्यत्वं तत् साक्षिणि सतीक्ष्यते। —बृहदारण्यक-वार्तिकसार ३।४।७३

(४) नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा। —पञ्चदशी १।७

(५) शून्यस्य नामरूपे च तथा चेत् जीव्यतां चिरम्। —वहीं २।३४

ही मानता है जो पारमार्थिक दृष्टि से परमार्थ से भिन्न नहीं क्योंकि अद्वैत में भेद कहाँ ? (१) किन्तु 'शून्य' को नामरूप मानने से ही काम नहीं चलेगा। नामरूप का कोई आधार भी तो चाहिये। यह आधार परमार्थ तत्त्व है। अतः सदानन्द कहते हैं कि यदि 'शून्य' नाम का कोई तत्व है तो हमारा शून्यवादी से नाममात्र का विवाद है क्योंकि वह वेदान्तमत में प्रवेश कर गया है। (२) हम सिद्ध कर चुके हैं कि 'शून्य' तत्व है। अतः शून्यवाद और वेदान्त में नाममात्र का विवाद है।

इस सब विवेचन का सारांश यह निकलता है:—शङ्करोत्तर अद्वैतवेदान्ती कहते हैं कि यदि शून्य का अर्थ असत् है तो शून्यवाद ही असत् और सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध है; किन्तु यदि शून्य का अर्थ माया है जो सदसदनिर्वचनीय है और तत्त्व पर आश्रित है तो शून्यवाद वेदान्त बन जाता है। स्वतन्त्रविज्ञानवाद और विज्ञानवाद का भेद उन्हें ज्ञात नहीं। वे स्वतन्त्रविज्ञानवाद को ही वास्तविक विज्ञानवाद मानते हैं। क्षणिक विज्ञान का खण्डन करके वे नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। विज्ञान को वे स्वयं स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध मानते हैं। किन्तु उनके विज्ञान का अर्थ आत्मतत्त्व है, स्वतन्त्रविज्ञानवाद का क्षणिकविज्ञान नहीं। अतः उनके मत में विज्ञानवाद क्षणिकत्वदोषदुष्ट है। विज्ञानवाद में दूसरा दोष यह है कि वह बाह्य पदार्थों को विज्ञानान्तर्गत होने के कारण असत् मानता है। किन्तु पदार्थ मनोविज्ञान द्वारा कल्पित नहीं हो सकते। यदि बुद्धि 'विषय' का ज्ञान करती है तो इसका यह अर्थ नहीं कि 'विषय' बुद्धि का ही अंश या कल्पना है। विषय की सत्ता विषयी से स्वतन्त्र है, यद्यपि दोनों की सत्ता विशुद्धविज्ञान से

---

(१) नामरूपमेव शून्यता, शून्यतैव नामरूपं...सर्वमिदमद्वयम्।
—शतसाहस्त्रिका पृ० ५५६, १६७६

(२) शून्यं नाम किंचित् तत्वमस्ति न वा ? आद्ये नाममात्रे विवादः वेदान्तमतप्रवेशात्।
—अद्वैतब्रह्मसिद्धि पृ० १०४

स्वतन्त्र नहीं। बाह्य पदार्थों के बाह्यत्व का खण्डन नहीं हो सकता। ऐसा करने से विज्ञानवाद पर मनोविज्ञानवाद का दोष आता है। विज्ञानवाद को चाहिये कि जगत् को विज्ञानान्तर्गत होने के कारण मिथ्या न मानकर सदसदनिर्वचनीय होने के कारण मिथ्या माने। इन दोनों दोषों को, अर्थात् विज्ञान के क्षणिकत्व को और मनोविज्ञानवाद को, दूर कर देने पर विज्ञानवाद का भी वेदान्त में प्रवेश हो जाता है। किन्तु हम बता चुके हैं कि ये दोष असली विज्ञानवाद पर—असंग और वसुबन्धु के विज्ञानवाद पर—लागू नहीं होते। ये दोष स्वतन्त्रविज्ञानवाद में हैं जिसको ही शंकरोत्तर वेदान्ती शंकराचार्य के समान असली विज्ञानवाद मान बैठे हैं। स्वतन्त्रविज्ञानवादी बौद्धों द्वारा किये गये और शङ्करोत्तर वेदान्तियों द्वारा किये गये अन्य मतों के सिद्धान्तों के खण्डनों में बहुत कुछ समानता है। शङ्करोत्तर वेदान्तियों द्वारा कृत स्वतन्त्रविज्ञानवाद का खण्डन, यद्यपि वह विज्ञानवाद के नाम से किया गया है, ठीक ही है। शङ्करोत्तर वेदान्ती शून्यवाद से, प्रपञ्च को सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या कहने में, सहमत हैं और विज्ञानवाद से विशुद्धविज्ञान को स्वप्रकाश, स्वतःसिद्ध, परमार्थसत् मानने में सहमत हैं। इस प्रकार शून्यवाद और विज्ञानवाद के सामञ्जस्य से वे अपने अद्वैतवाद की पुष्टि करते हैं।

———

चतुर्थ भाग : उपसंहार

अष्टम अध्याय

उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना रहा है कि बौद्ध और वेदान्त दर्शनों को **दो विरुद्ध दर्शन** न समझ कर एक ही **दर्शन के विकास के क्रम के विभिन्न रूप** समझना चाहिये। जो केन्द्रीय विचारधारा इन दोनों दर्शनों में क्रमशः विकसित हुई है उसका उद्‌गम उपनिषद् में हुआ है, महात्मा बुद्ध ने उसकी पुष्टि की है, महायान में उसका पर्याप्त विकास हुआ है, गौडपादाचार्य ने उसमें नवजीवन संचार किया है, शङ्कराचार्य में वह अपनी चरम सीमा पर पहुंची है, और शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियों में जाकर वह समाप्त होती है। हमने बौद्ध और वेदान्त दर्शनों के तुलनात्मक, आलोचनात्मक, गवेषणात्मक मौलिक विवेचन में इसे मूल ग्रन्थों का आधार लेकर स्थान स्थान पर मूलग्रन्थों के उद्धरण और संकेत देते हुये सम्यक् सिद्ध कर दिया है। इस अध्याय में हम अपने विचारों का सारांश मौलिक रीति से उपस्थित करते हैं।

भगवान् बुद्ध और वेदान्तः—भगवान् बुद्ध ने जो मुख्य विचार उपनिषद् से लिया वह यह है कि हमारी बुद्धि सविकल्प और सापेक्ष होने के कारण तत्व का ग्रहण नहीं कर सकती। तत्व वाङ्‌मनस् अगोचर है। वह निर्विकल्प, निरपेक्ष, गंभीर, शान्त, आनन्दरूप तथा विशुद्ध विज्ञानरूप है जिसे बोधि या प्रज्ञा कह सकते हैं। वह अपरोक्षानुभूति का विषय है, तर्क का नहीं। दर्शन का चरम लक्ष्य मौनिता है। संसार दुःख रूप है। इसकी जननी अविद्या है। परमानन्द की प्राप्ति के लिये सम्यक् सम्बोधि द्वारा तत्व साक्षात्कार करने के

अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं। संसार क्षणिक है; तत्व अद्वय, अजर, अमर शाश्वत और अनन्त है। परमार्थतत्त्व संसार का अधिष्ठान है। ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की व्यावहारिक त्रिपुटी को पार करके निर्विकल्प विज्ञान या स्वानुभूति द्वारा अद्वय परमार्थ का साक्षात्कार करने से ही संसारदुःख से निवृत्ति हो सकती है। सांसारिक जन अविद्यान्धकार में भटक रहे हैं। उन्हें ज्ञान-दीप की आवश्यकता है और भगवान् बुद्ध ने उपनिषद् से लेकर यह ज्ञान-दीप मानवता को उत्तराधिकार में दिया है, यह कह कर कि—'आत्मदीपो भव'।

आचार्य अश्वघोष और वेदान्तः—बुद्धनिर्वाण के पश्चात् हीनयानियों ने बुद्धवचनों को अन्यथा समझकर आत्मा को क्षणिक विज्ञानों का 'सन्तान' (अर्थात् धारा) और दृश्य जगत् को क्षणिक परमाणुओं का 'संघात' मात्र बना दिया। स्वयं को 'सर्वास्तिवादी' अर्थात् 'सबकी सत्ता स्वीकार करनेवाले' कहने वाले हीनयानियों ने दृक् और दृश्य दोनों के ही खण्ड-खण्ड करके दोनों की सत्ता को नष्ट कर दिया। ईश्वर के स्थान पर बुद्ध को बैठाकर भगवान् बुद्ध के नख, रोम, अस्थि, दन्त आदि पर विहार और स्तूप और मन्दिरों का निर्माण होने लगा। आचार्य अश्वघोष ने ये सब दोष देखे और हीनयान का खण्डन करके महायान का समर्थन किया। अश्वघोष जानते थे कि भगवान् बुद्ध के दर्शन का मुख्य आधार उपनिषद् है जिसे हीनयानी भूल गये हैं। अश्वघोष ने बौद्धदर्शन का उपनिषद् के प्रकाश में प्रतिपादन किया। उनकी 'तथता' जिसे भूततथता, तथागतगर्भ, धर्मकाय, धर्मधातु, आलयविज्ञान, बोधि और प्रज्ञा भी कहा जाता है, उपनिषद् के आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व से भिन्न नहीं है। प्रतीत्यसमुत्पाद या सापेक्षवाद बुद्धि का साम्राज्य है और अविद्याकल्पित है। यह व्यवहारसत्ता है। परमार्थ इससे अस्पृष्ट है। अश्वघोष कहते हैं कि 'अविद्या और उसके कार्य प्रपञ्च को मुख्य मान लेना और अविद्या के आधार व अधिष्ठान रूप परमार्थ को भुला देना भारी भूल है।' (१) तथता के दो रूप—परा तथता और अपरा तथता—हमें परब्रह्म और अपर ब्रह्म की याद

(१) सुज़ुकी: आउटलाइन्स ऑव महायान बुद्धिज्म पृ० १२४

दिलाते हैं। तथता और ब्रह्म दोनों ज्ञानघन, अनिर्वचनीय, अद्वय, नित्य, सच्चिदानन्दस्वरूप, स्वतःसिद्ध, स्वप्रकाश, अवेद्य और अपरोक्ष हैं। अश्वघोष की 'अविद्या' और वेदान्त का 'अविद्या' या 'माया' एक ही है। अश्वघोष के व्यावहारिक, और 'पारमार्थिक' दृष्टि-बिन्दु भी वेदान्त के ही हैं। अश्वघोष उपनिषद् की ही उपमायें—जल और तरंगों की उपमा, मृत्तिका और घट की उपमा, सुवर्ण और आभूषणों की उपमा आदि—भी अपने ग्रन्थ में देते हैं। उपनिषद् का प्रभाव अश्वघोष पर पर्याप्त है और उन्होंने बुद्धवचनों को उपनिषद् के प्रकाश में देख कर महायान को पुष्ट किया है।

शून्यवाद और वेदान्तः—हम बता चुके हैं कि शून्य का अर्थ असत् न हो कर सदसद्विलक्षण है। 'शून्य' या 'शून्यता' दो अर्थों में प्रयुक्त है। उसका अर्थ माया या अविद्या भी है और ब्रह्म भी, संवृति भी है और परमार्थ भी, प्रतीत्यसमुत्पाद या सापेक्षता भी और निरपेक्ष तत्व भी। सांवृतिक दृष्टिकोणसे शून्य = स्वभावशून्य = अस्वतन्त्र = परतन्त्र = प्रतीत्यसमुत्पन्न = सापेक्ष = सदसदनिर्वचनीय = मिथ्या = अविद्याजन्य = व्यावहारिक प्रपञ्च। पारमार्थिक दृष्टिकोण से शून्य = प्रपंचशून्य = स्वतंत्र = परिनिष्पन्न = परमार्थ = निरपेक्ष = निर्विकल्प = चतुष्कोटिविनिर्मुक्त = तत्व = प्रपञ्चाधिष्ठान। इस प्रकार शून्यवाद के 'संवृति' और 'परमार्थ' वेदांत के 'व्यवहार' और परमार्थ हैं। चंद्रकीर्ति ने संवृति को मिथ्या संवृति और तथ्य संवृति में विभक्त किया है ताकि ये विभाग विज्ञानवाद के परिकल्पित और परतंत्र से टक्कर ले लें। मिथ्या संवृति, तथ्यसंवृति और परमार्थ वेदांत के प्रतिभास, व्यवहार और परमार्थ से मेल खाते हैं। उपनिषद् में कहीं-कहीं व्यवहार के अर्थ में 'संवृति' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। (१)

महायानसूत्र, नागार्जुन और उनके शिष्य, समस्त बुद्धिग्राह्य पदार्थों को शून्य, असत्, मरीचिकावत्, बंध्यापुत्रवत् बतलाते हैं और इन शब्दों से यह

---

(१) बृहदारण्यक २।५।१८

भ्रांति हो जाती है कि कहीं शून्य का अर्थ नितांत असत् तो नहीं है। किंतु शून्यवाद के ग्रंथों के आलोचक से स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धिग्राह्य पदार्थों को 'सदसदनिर्वचनीय' होने के कारण ही असत् या मिथ्या कहा गया है। दृश्य प्रपञ्च के मिथ्यात्व पर आग्रह देने के कारण ही शून्यवादियों ने उपरिर्निदिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसा प्रयोग गौडपादाचार्य और शंकराचार्य तक में पाया जाता है।

शून्यवाद और अद्वैत के खण्डनों में और खण्डन-पद्धति में बहुत साम्य है। सापेक्ष बुद्धि या सविकल्प तर्क का साम्राज्य केवल व्यवहार में है। बुद्धि और उसकी समस्त कोटियाँ व कल्पनायें पारमार्थिक दृष्टि से असहाय और विफल हैं। शून्यवाद और अद्वैत का अपना कोई मत नहीं, क्योंकि सभी मत, बुद्धि-विकल्प होने के कारण, सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या हैं। तत्त्व अपरोक्षानुभूति का विषय है, मौन-गम्य है।

गौडपादाचार्य शून्यवाद के अजातिवाद से सहमत हैं। उनकी कारिका और आचार्य नागार्जुन की कारिका में भावों का और कहीं-कहीं भाषा तक का साम्य है। शङ्कराचार्य जानते हैं कि शून्यवाद का खण्डन नहीं हो सकता। अतः वे 'शून्य' को 'असत्' के अर्थ में लेकर शून्यवाद को "सर्व-प्रमाणविप्रतिषिद्ध" कह कर टाल देते हैं। किन्तु वे इतना अवश्य कहते हैं कि शून्यवादी बिना किसी "तत्त्व" का आश्रय लिये प्रपञ्च को शून्य नहीं कह सकता। (१) हम देख चुके हैं कि शून्यवाद "तत्व" की सत्ता स्वीकार करता है। नागार्जुन स्वयं तत्व का लक्षण करते हुये कहते हैं:—जो अपरोक्ष, शान्त, प्रपञ्चातीत, निर्विकल्प और अद्वय हो वही तत्व है। (२) शङ्करोत्तर वेदान्ती शंकराचार्य के समान शून्य को या तो 'असत्' कहकर टाल देते हैं या यह स्वीकार करते हैं कि यदि शून्य का अर्थ माया है तो शून्यवाद वेदान्त में प्रवेश कर जाता है। श्रीहर्ष स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि शून्यवाद का

---

(१) शारीरकभाष्य २।२।३१

(२) ऊपर पृ० ४६

खण्डन नहीं हो सकता क्योंकि शून्यवाद और अद्वैत का दृष्टिकोण एक ही है। केवल एक भेद है कि शून्यवाद विज्ञान तक को शून्य कह देता है जो उसे नहीं कहना चाहिये क्योंकि विज्ञान स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध तत्व है। श्रीहर्ष को यह नहीं ज्ञात था कि शून्यवाद विशुद्धविज्ञान को तत्व मानता है और यहाँ 'शून्य' को 'प्रपञ्चशून्यतत्व' के अर्थ में लेता है। श्रीहर्ष के समय बौद्ध ग्रन्थ उपलब्ध नहीं थे। बौद्ध मत का ब्राह्मण और जैन दर्शनग्रंथों में जो व्यङ्ग्यचित्र खिचा हुआ है उसके आधार पर शून्यवाद को बहुत कुछ ठीक समझ लेना श्रीहर्ष की निष्पक्षता और महत्ता का सूचक है। श्रीहर्ष ने शून्यवाद के सम्बन्ध में यह सिद्ध करने के लिए कि शून्यवाद विज्ञान तक को शून्य या असत् मानता है, लंकावतारसूत्र को यह कारिका कि बुद्धिगाह्य पदार्थ, अनिर्वचनीय, निःस्वभाव और मिथ्या हैं, उद्धृत की है।(१) श्रीहर्ष को ज्ञात नहीं था कि लंकावतारसूत्र शून्यवाद की अपेक्षा विज्ञानवाद का प्रमुख ग्रंथ है जिसमें स्थान-स्थान पर तारस्वर से विशुद्ध विज्ञानमात्र को ही तत्त्व स्वीकार किया गया है। शून्यवाद भी विशुद्ध विज्ञान को ही तत्त्व मानता है। नागार्जुन ने तत्व का लक्षण जो अपरोक्ष, निर्विकल्प, प्रपञ्चातीत आदि शब्दों से किया है वह विशुद्ध विज्ञान के अतिरिक्त और किसका हो सकता है? रत्नावली (१। ४५, ६०) में तो नागार्जुन ने तत्व को स्पष्टरूप से "बोधि और ज्ञान" कहा है। (२) आर्यदेव ने भी तत्व को विशुद्धचित्त माना है। (३) शान्तिदेव तो भावावेश में "बोधिचित्त" की प्रशंसा करते-करते नहीं थकते। (४) यदि नागार्जुन की "बोधि", आर्य-देव का "चित्त" और शान्तिदेव का "बोधि-चित्त" विशुद्धविज्ञान नहीं है तो और क्या हो सकता है? (५)

(१) ऊपर पृ० २७३
(२) ऊपर पृ० ५७
(३) ऊपर पृ० ६१
(४) ऊपर पृ० ६८ (५) ऊपर पृ० ६८

अतः हमारे मत से शून्यवाद और अद्वैत वेदान्त में केवल आग्रह का भेद है, मत का भेद नहीं। शून्यवाद का प्रपञ्च के पारमार्थिक असत्व पर आग्रह है; वेदान्त का प्रपञ्च के व्यावहारिक सत्व पर आग्रह है। शून्यवाद तत्व के स्वरूप को स्पष्ट करने का विशेष प्रयत्न नहीं करता, वेदान्त ने तत्व के स्वरूप का विशद विवेचन किया है और यह आग्रहभेद होना अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि शून्यवाद दर्शन-विकास की पूर्वभूमि है और वेदान्त उत्तरभूमि।

विज्ञानवाद और वेदान्तः — हम सिद्धकर चुके हैं कि विज्ञानवाद क्षणिक-मनोविज्ञानवाद नहीं है, अपितु नित्यविज्ञानवाद है। विशुद्धविज्ञान तत्त्व के अतिरिक्त अन्य सब क्षणिक है, विशुद्धविज्ञानतत्व नित्य है और क्षणिक प्रपञ्च का अधिष्ठान है।

विज्ञानवाद उपनिषद् में उपलक्ष्य है ही। बौद्ध विज्ञानवाद के परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न वेदांत के प्रतिभास, व्यवहार और परमार्थ हैं। विज्ञानवाद और वेदान्त दोनों परमतत्त्व को विशुद्धनित्यविज्ञानस्वरूप मानते हैं जो क्षणिक प्रपञ्च का आधार है और जो व्यावहारिक ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की त्रिपुटी से परे है। ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय, मनोविज्ञान और विषय-विज्ञप्ति दोनों इसके आभास हैं। लंकावतार का तथागतगर्भ या आलयविज्ञान, असङ्ग का विशुद्धात्मा, महात्मा, परमात्मा या धर्मधातु, वसुबन्धु का विज्ञप्तिमात्र या धर्मकाय, और वेदान्त का आत्मा या ब्रह्म सब नित्य, विशुद्ध, स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध विज्ञानतत्त्वरूप हैं। वसुबन्धु का विज्ञप्तिमात्र वेदान्त का आत्मतत्व है; उनका आलयविज्ञान वेदान्त का ईश्वर है, उनका मनोविज्ञान वेदान्त का जीव है; उनकी विषयविज्ञप्ति वेदान्त का जगत् है, और उनका परिणाम वेदान्त का विवर्त है। लंकावतार सूत्र अपने तथागतगर्भ या आलयविज्ञान को "तीर्थिकों" के आत्मा से पृथक् सिद्ध करने के प्रयत्न में यह कहता है कि आलयविज्ञान तो "निर्विकल्प" और "निराभास प्रज्ञागोचर" है, किन्तु आत्मा 'सत्' रूपी

बुद्धिविकल्प का गाढालिंगन किये रहता है। (१) परन्तु यह भेद दिखावटी और मिथ्या है। वेदांत का आत्मतत्व 'सत्' की कोटि से चिपका नहीं रहता। वह बुद्धि की किसी भी कोटि द्वारा ग्राह्य नहीं है। उसे 'सत्' कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि वह असत् नहीं है। जब वह स्वतःसिद्ध है तो उसकी सत्ता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। उसे 'सत्' कहने का अभिप्राय है कि स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध होने से, अवेद्य और अज्ञेय होते हुये भी अपरोक्ष होने से, सन्देह और विपर्यय भी उस पर आश्रित हैं और उसकी सत्ता को अङ्गीकार करने पर ही संभव हो सकते हैं। यह सत्य है कि "आत्मा सत् है" यह निर्वचन भी, निर्वचन होने के कारण मिथ्या है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा के विषय में यह सबसे प्रथम निर्वचन है। आत्मा भी उतना ही निर्विकल्प और निराभासप्रज्ञागोचर या अपरोक्षानुभूतिसिद्ध है जितना आलयविज्ञान या तथागतगर्भ।

हम देख चुके हैं कि शङ्कराचार्य इस बात को स्वीकार करते हैं कि गौडपादाचार्य बाह्य जगत् की स्वतन्त्र सत्ता के प्रतिषेधार्थ प्रयुक्त विज्ञानवादी बौद्ध के वचनों की पुष्टि करते हैं (२) गौडपादाचार्य विज्ञानवाद से प्रचुरतया प्रभावित हैं। हम यह भी निर्दिष्ट कर चुके हैं कि शङ्कराचार्य शून्यवाद के समान विज्ञानवाद को भी टाल देते हैं। "विज्ञानवाद" के नाम से शङ्कराचार्य ने वास्तव में स्वतन्त्रविज्ञानवाद का खण्डन किया है। (३) शङ्कराचार्य का खण्डन उन विषयों में जिनमें विज्ञानवाद और स्वतन्त्रविज्ञानवाद का मतैक्य है विज्ञानवाद पर भी लागू होता है और आंशिकतया गौडपादाचार्य पर भी क्योंकि गौडपाद विज्ञानवाद से बहुत कुछ सहमत हैं। किन्तु यह खण्डन विशेष महत्त्व नहीं रखता क्योंकि, प्रथम तो विज्ञानवादी और गौडपाद विषयों के "बाह्यत्व" का निराकरण नहीं करते और द्वितीय, वे विज्ञान को नित्य और

---

(१) ऊपर पृ० ७५

(२) ऊपर पृ० १४८

(३) ऊपर पृ० १८५

स्वप्रकाश मानते हैं। शङ्कराचार्य और विज्ञानवादी में मुख्य अन्तर यह है कि विज्ञानवादी बुद्धिगम्य पदार्थों को विज्ञानबाह्य न होने के कारण मिथ्या मानते हैं और शंकराचार्य तथा उनके शिष्य, शून्यवादी के समान, बुद्धिगम्य पदार्थों को सदसदनिर्वचनीय होने के कारण मिथ्या मानते हैं। गौडपादाचार्य दोनों बातों के कारण जगत् को मिथ्या मानते हैं। वे इनमें विरोध नहीं देखते। शङ्कराचार्य और शंकरोत्तर वेदान्तियों ने सदसद्विलक्षणत्व का पूर्ण विकास किया है और अविद्या को भावरूप और जडात्मक शक्ति माना है। शून्यवाद, विज्ञानवाद और गौडपादाचार्य तीनों से इस विषय में शंकराचार्य और उनके शिष्य काफी आगे बढ़ गये हैं।

स्वतन्त्रविज्ञानवाद और वेदान्तः—

विज्ञानवाद विज्ञान को नित्य मानता है और स्वतन्त्रविज्ञानवाद अनित्य और क्षणिक। विज्ञानवाद के नाम से शंकराचार्य ने वास्तव में स्वतन्त्रविज्ञानवाद का खण्डन किया है और वह अकाट्य है। शंकरोत्तर वेदान्ती भी, शंकराचार्य के समान, विज्ञानवाद के नाम से इसी मत का खण्डन करते हैं और प्रायः शंकराचार्य की युक्तियों का ही प्रयोग करते हैं।

हम बतला चुके हैं कि स्वतन्त्रविज्ञानवादी धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और कमलशील के तथा शंकराचार्य और उनके उत्तरकालीन अद्वैतियों के अन्य मतों के खण्डनों में बहुत समानता है। दोनों ही विज्ञान को स्वप्रकाश तत्त्व मानते हैं। भेद केवल इतना ही है कि एक उसे क्षणिक मानते हैं और दूसरे नित्य। यों तो दोनों ही उसे अनिर्वचनीय कहते हैं; यह स्वीकार करते हैं कि वह नित्य और अनित्य रूपी बुद्धिविकल्पों द्वारा ग्राह्य नहीं है, किंतु व्यवहार में स्वतन्त्रविज्ञानवादी उसे क्षणिक मानते हैं और वेदान्ती नित्य। वेदान्त के अनुसार अनित्य दुःखरूप है। सविकल्प बुद्धि के विज्ञान अनित्य हैं, किंतु वे विशुद्ध विज्ञानरूप तत्व नहीं हैं। इन अव्यवस्थित और निरर्थ विज्ञानों का ज्ञान 'आत्मा' करता है और इन्हें व्यवस्थित करके सार्थक बनाता है। नित्य आत्मा 'ज्ञाता' है और ये क्षणिकविज्ञान उसके 'ज्ञेय'

हैं। अतः क्षणिकविज्ञान स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश नहीं हो सकता। केवल आत्मतत्व ही ऐसा है। स्वतन्त्रविज्ञानवादी कहते हैं कि क्षणिक ही अर्थक्रिया-समर्थ होने से 'सत्' हो सकता है, नित्य नहीं। वेदांती उत्तर देते हैं कि क्षणिक कभी अर्थक्रियासमर्थ नहीं हो सकता, वह तो असहाय और निरर्थ है तथा सार्थक बनने के लिये नित्य की अपेक्षा रखता है। शान्त-रक्षित और कमलशील स्वीकार करते हैं कि उपनिषद् को माननेवाले अद्वैत वेदान्तियों का मत उनके मत से बहुत कुछ मिलता है; उसमें बस एक अल्प दोष है कि वह तत्व को नित्य मानता है। (१) वेदान्ती इसी का उत्तर यों दे सकते हैं कि स्वतन्त्रविज्ञानवादी बौद्धों का मत उनके मत से बहुत कुछ मिलता है; उसमें बस एक अल्प दोष है कि वह तत्व को क्षणिक मानता है। (२) वेदान्ती भी कहते हैं कि यदि बौद्ध विज्ञान को नित्य मान लें तो हमें उनसे कोई विवाद नहीं।

स्वतन्त्रविज्ञानवाद और वेदान्त में दूसरा भेद—जो विज्ञानवाद और वेदान्त में भी है—यह है कि स्वतन्त्रविज्ञानवादी भी विज्ञानवादियों के समान तथाकथित बाह्य पदार्थों को विज्ञानबाह्य न होने के कारण मिथ्या मानते हैं और वेदांती उन्हें सदसदनिर्वचनीय होने के कारण मिथ्या मानते हैं। विज्ञानवादी पर यह भेद विशेष महत्व नहीं रखता क्योंकि वह विज्ञान को नित्य मान लेते हैं। किंतु विज्ञान को अनित्य मानने से स्वतन्त्रविज्ञानवादी का बाह्यपदार्थों को विज्ञानबाह्य न कहना मनोविज्ञानवाद बन जाता है और पदार्थों के 'बाह्यत्व' की, चाहे वह 'बाह्यत्व' विज्ञानान्तर्गत ही क्यों न हो, रक्षा नहीं कर सकता। अतः वेदांतकृत खण्डन स्वतन्त्रविज्ञानवाद पर पूर्णतया लागू है और समीचीन है।

---

(१) तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः।

—तत्वसंग्रह का० ३३०

(२) तेषामल्पापराधं तु दर्शनं क्षणिकोक्तितः।

प्रायः यह कहा जाता है कि नैरात्म्यवाद और क्षणभङ्गवाद को मानने के कारण बौद्ध दर्शन वेदान्त दर्शन से जो नित्य आत्मतत्व पर ही अवलम्बित है कोसों दूर हो जाता है। अतः अब हम नैरात्म्यवाद और क्षणभङ्गवाद पर भी प्रकाश डालते हैं।

नैरात्म्यवादः—बौद्ध दर्शन अपने नैरात्म्यवाद द्वारा विशुद्ध विज्ञानस्वरूप वास्तविक आत्मतत्व का निराकरण नहीं करता। 'आत्मा' को बौद्ध दर्शन अधिकतर 'जीवात्मा' या 'अहंकार' के अर्थ में लेता है जो अनादि अविद्या, माया या वासना का कार्य है। विशुद्ध आत्मा की सत्ता महायानी बौद्धों ने परोक्ष या अपरोक्षतया सदा स्वीकार की है। वे इसे 'आत्मा' न कह कर बोधि, प्रज्ञा, चित्त, बोधिचित्त, तत्व, विज्ञान, विज्ञप्ति, विज्ञानमात्र, विज्ञप्तिमात्र, चित्तमात्र, तथता, तथागतगर्भ, धर्मधातु, धर्मकाय, बुद्धकाय आदि कहना अधिक पसन्द करते हैं। अश्वघोष इसे आत्मा भी कहते हैं। (१) असङ्ग इसे शुद्धात्मा, महात्मा और परमात्मा कहते हैं। (२) शान्तरक्षित तक इसे विशुद्धात्मा कह देते हैं। (३)

अतः यह महान् आश्चर्य की बात है कि बौद्ध और वेदान्ती एक दूसरे को प्रतिपक्षी और विरुद्धदर्शनावलंबी समझ कर एक दूसरे का खण्डन करते रहे। नैरात्म्यवाद को दोनों ने ग़लत समझा। 'आत्मा' को दो विभिन्न अर्थों में लेकर दोनों आपस में व्यर्थ लड़ते रहे।

उपनिषद् सदा आत्मा को परमार्थसत् या परमतत्त्व मानते रहे हैं। यही परब्रह्म है। यही विशुद्ध विज्ञान है। यही सच्चिदानन्द है। भगवान् बुद्ध ने इस तत्व को माना और इसे प्रज्ञा या बोधि या ज्ञान कहा। आत्मसाक्षात्कार होने के कारण ही, बोधि प्राप्त होने के कारण ही, राजकुमार सिद्धार्थ भगवान् बुद्ध—सम्यक् सम्बुद्ध—कहलाये। किन्तु खेद है कि भगवान् बुद्ध ने इस बोधि को

---

(१) सौन्दरनन्द १४, ५२

(२) ऊपर पृ० ८१

(३) ऊपर पृ० १२२, १२६

आत्मा' की संज्ञा न देकर उलटे 'आत्मा' शब्द को अहंकारी जीव के संकुचित अर्थ में ही समझा और सहज ही में उसका खण्डन कर दिया। शायद उन्होंने अपने मत को नवीन और स्वतन्त्र रूप देने के लिये ऐसा किया हो। उपनिषद् में याज्ञवल्क्य मुनि की प्रसिद्ध उक्ति है कि पति, पत्नी, पुत्र आदि सब पदार्थ अपने अपने कारण प्रिय नहीं होते, किंतु 'आत्मा' के कारण ही प्रिय होते हैं। शायद भगवान् बुद्ध ने आत्मा को अहंकार और ममत्व के कारण केवल जीवात्मा मान लिया हो। वे सदा आत्मा का अर्थ अविद्या-जन्य संसार-बद्ध अहंकारी जीव ही समझते रहे। इसलिए वे उसे 'केवल मूर्खों की कल्पना' कहते रहे। (१) दीर्घनिकाय में भगवान् बुद्ध ने आत्म-प्रेम को उस मूर्ख प्रेमी के प्रेम के समान बतलाया है जो शहर की सबसे सुन्दर स्त्री को प्रेम करता हो किंतु अपनी कल्पित प्रेमिका की स्थिति, निवास, रूप, रंग, अवस्था, कद, जाति, धर्म आदि के विषय में कुछ नहीं जानता हो।

भगवान् बुद्ध से लेकर कमलशील तक प्रायः सब बौद्ध 'आत्मा' का अर्थ अहंकारी जीव ही समझते रहे और इसलिये सरलतापूर्वक उसका खण्डन करते रहे। जीव को वे आत्मा, पुद्गल, सत्व और सत्काय आदि नामों से पुकारते रहे। हीनयान ने तो आत्मा को क्षणिक विज्ञानों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं माना। नागसेन ने राजा मिलिन्द से कहाः—जिस प्रकार 'रथ' 'डंडा-धुरा-पहिये आदि का समूह मात्र' है और इनके अतिरिक्त और 'कुछ' नहीं है, उसी प्रकार 'आत्मा' भी क्षणिक विज्ञानों का समूह मात्र' है और इनके अतिरिक्त अन्य 'कुछ' नहीं है। महायान ने भी आत्मा को अविद्या-जन्य अहंकार-ममकार-युत जीव ही माना। यह न तो पंच-स्कंध से भिन्न है और न अभिन्न। पुद्गल-नैरात्म्य का अर्थ है कि जीवात्मा पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या है। धर्म-नैरात्म्य का अर्थ है कि समस्त बुद्धि-ग्राह्य पदार्थ भी मिथ्या हैं। जीव और जगत् व्यावहारिक है। जीव के अहंकार और

---

(१) केवलो परिपूरो बालधम्मो।

—मज्झिमनिकाय १।१।२

ममकार का क्षय होने पर संसार-चक्र समाप्त हो जाता है, ऐसा नागार्जुन का मत है। (१) आर्यदेव के अनुसार पहले पाप कर्मों से बचना चाहिये, फिर आत्मा को मिथ्या समझना चाहिये और अन्त में समस्त धर्मों को मिथ्या जान लेना चाहिये। (२) चन्द्रकीर्ति आत्मा को सम्पूर्ण क्लेशों, दुःखों, पापों और अनर्थों का मूल मानते हैं। (३) शान्तिदेव आत्मा को कदलीस्कन्धवत् निःसार बतलाते हैं। जैसे कदली या प्याज के छिलके उतारते रहने पर कुछ नहीं शेष रहता, इसी प्रकार आत्मा का भी विचार करने पर कुछ नहीं शेष रहता। (४) असङ्ग के अनुसार समस्त क्लेश आत्मा के कारण हैं और आत्मा स्वयं अनादि अविद्या के कारण है। विचार करने पर आत्मा न तो 'द्रव्य' ही सिद्ध होता है और न 'ज्ञाता' ही। (५) वसुबन्धु भी विषयी और विषय दोनों को वस्तुतः मिथ्या मानते हैं। (६) धर्मकीर्ति के अनुसार संक्लेश और रागादि का जनक आत्मा ही है। (७) शान्तरक्षित स्पष्ट कहते हैं कि जब विशुद्ध विज्ञान अविद्या के कारण अहंकार-ममकार-युक्त हो जाता है तब उसे 'आत्मा' कहा जाता है। इसकी सत्ता व्यावहारिक है। पारमार्थिक दृष्टि से यह कुछ नहीं है। (८)

किन्तु यह जान लेना आवश्यक है कि विशुद्ध आत्मा की, जो विशुद्ध विज्ञान स्वरूप है, सत्ता बौद्ध दर्शन को सदा किसी न किसी रूप में मान्य रही है। भगवान् बुद्ध स्वयं तत्व को प्रज्ञा या बोधि कहते हैं, अश्वघोष उसे आलय-

(१) माध्यमिककारिका १८, ४

(२) चतुःशतक का १९०

(३) माध्यमिकवृत्ति पृ० ३४०

(४) बोधिचर्यावतार ९, ७५

(५) महायानसूत्रालंकार ११ । ४७; १८ । ७७, ९२-१०३

(६) विंशतिका ९, १०

(७) प्रमाणवार्तिक २ । २०१, २१३, २१९,

(८) तत्त्वसंग्रह २०४, ऊपर पृ० १२०

विज्ञान या तथागतगर्भ कहते हैं: महायान-सूत्र उसे प्रपञ्चशून्य अनभिलाप्य और प्रत्यात्मवेद्य तत्त्व कहते हैं; असग और वसुबन्धु उसे विज्ञानमात्र कहते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि यद्यपि बौद्ध प्रायः विशुद्ध आत्मतत्व को 'आत्मा' न कहकर 'चित्त' या 'विज्ञान' कहते है, तथापि कभी कभी उसके लिये 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ अष्टसाहस्त्रिका-प्रज्ञापारमिता (१) में कहा गया है: समस्त पदार्थ न आते हैं न जाते हैं; न शुद्ध हैं न अशुद्ध; राग और द्वेष तथा संग और असंग से रहित हैं क्योंकि वे ब्रह्मभूत हैं। उसी सूत्र में अन्यत्र कहा गया है कि सम्यक् सम्बोधि के लिये ब्रह्म में रमण करना आवश्यक है। (२) शतसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमिता (३) और ललित विस्तर (४) धर्म को आदिकल्याण, मध्यकल्याण, पर्यवसान-कल्याण, स्वार्थ, परिशुद्ध, परिपूर्ण, उदार और ब्रह्मचय अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ बतलाते हैं। सद्धर्मपुण्डरीक (५) उसे परम विशुद्ध, शान्त, उदार और अनास्रव ब्रह्मचर्य कहता है। असंग कहते हैं कि मुनि अन्तिम चतुर्थ ध्यान को प्राप्त करके उदार ब्राह्म विहार में रमण करता है। (६)

नागार्जुन का अपरप्रत्यय, शान्त, प्रपञ्चशून्य, निर्विकल्प और अद्वय तत्व विशुद्ध विज्ञान के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता क्योंकि अन्य किसी पदार्थ में इन विशेषणों को धारण करने की शक्ति कदापि नहीं हो सकती। नागार्जुन स्वयं तत्त्व को बोधि अर्थात् विशुद्ध विज्ञान कहते हैं और यह भी स्पष्ट कहते हैं कि चित्त या विज्ञान की (अर्थात् अहंकारी जीवात्मा की) सत्ता इसलिए सांवृतिक मानी जाती है क्योंकि उसे परमार्थ बनने के लिये

---

(१) पृ० ४७६, ऊपर पृ० ५४
(२) पृ० ३४
(३) पृ० १४६०
(४) पृ० ३
(५) पृ० ११८
(६) महायानसूत्रालंकार ७। २-३, ऊपर पृ० ८०

बोधि में लीन होना पड़ता है। (१) आर्यदेव का कथन है कि जिस प्रकार एक स्वच्छ स्फटिक किसी रक्त वस्तु के सामीप्य से रक्तवत् प्रतीत होता है उसी प्रकार चित्त-रत्न कल्पना-राग से आविल-सा प्रतीत होता है; वास्तव में चित्त-रत्न अविद्याकर्दम से अस्पृष्ट, आदिशुद्ध, अनुत्पन्न, अनाविल और स्वरूपनिष्ठ है। (२) शान्तिदेव कहते हैं कि बोधिचित्त में मानवी अशुचि प्रतिमा को दिव्य जिन-प्रतिमा में परिणत कर देने की शक्ति है। (३) लंकावतार का तत्त्व आलयविज्ञान है। असंग चित्त को प्रकृतिप्रभास्वर अर्थात् स्वयंप्रकाश कहते हैं और समस्त अशुद्धियों को अविद्या कल्पित तथा आगन्तुक मानते हैं। (४) वे इसे शुद्धात्मा, महात्मा और परमात्मा भी कहते हैं। (५) वसुबन्धु के अनुसार तत्त्व विज्ञप्तिमात्र है जो विशुद्धविज्ञान-स्वरूप है, स्वप्रकाश और स्वयंसिद्ध है एवं समस्त अनित्य धर्मों का नित्य अधिष्ठान है। (६) स्थिरमति कहते हैं कि जो अनित्य है वह दुःखरूप है और जो नित्य है वही सुखरूप है। (७) धर्मकीर्ति तत्त्व को समस्त-बुद्धि-विकल्पातीत, अनास्रव, और स्वप्रकाश विज्ञानरूप मानते हैं। (८) शान्तरक्षित भी स्वीकार करते हैं कि बुद्धि के उपप्लवों से शून्य, तर्क की कोटियों और विकल्पों से रहित, सर्वप्रपञ्चातीत, किसी भी प्रकार के द्वैत से अकलंकित, अनारोपितरूप, आगन्तुक मलों से रहित, प्रकृतिप्रभास्वर, स्वसं-

---

(१) रत्नावली १। ४५, ६०, ऊपर पृ० ५७

(२) ऊपर पृ० ६१

(३) ऊपर पृ ६८

(४) ऊपर पृ० ७८

(५) ऊपर पृ० ८१

(६) ऊपर पृ० ८६-८७, ६३

(७) ऊपर पृ० ६६

(८) ऊपर पृ० १२७

वित्ति के साक्षात्कार को ही, इस विशुद्ध विज्ञान की अपरोक्षानुभूति को ही "विशुद्धात्मदर्शन" कहा जाता है। (१)

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन प्राय: 'आत्मा' शब्द को वेदान्त के जीव, बुद्धि, चित्त या अन्तःकरण के अर्थ में लेता है और 'चित्त' 'विज्ञान' 'विज्ञप्ति' 'प्रज्ञा' और 'बोधि' शब्दों को वेदान्त के आत्मा, ब्रह्म, संवित् और चित् के अर्थ में लेता है। प्राय: वेदान्तियों का 'आत्मा' बौद्धों का 'चित्त' और वेदान्तियों का 'चित्त' बौद्धों का 'आत्मा' बन जाता है। यदि भगवान् बुद्ध ने उपनिषद् के आत्मतत्त्व को व्यर्थ ही अविद्या-जन्य जीव की कोटि में न गिराया होता और अपनी 'बोधि' या 'प्रज्ञा' को स्पष्टतया आत्मतत्त्व का पर्याय बना दिया होता, तो निश्चय ही भारतीय दर्शन की भूमि पर, बौद्धों और वेदान्तियों में 'आत्मा' शब्द को दो विभिन्न अर्थों में लेकर, यह पुरातन और निरर्थ नैरात्म्यवादसंग्राम न छिड़ा होता।

क्षणभङ्गवाद:—क्षणभङ्गवाद का भगवान् बुद्ध, अश्वघोष, शून्यवादी और विज्ञानवादी के लिये वास्तविक महत्त्व नहीं रह जाता क्योंकि ये लोग क्षणभङ्गवाद को व्यावहारिक जगत् तक ही सीमित रखते हैं। केवल हीनयानी और स्वतंत्रविज्ञानवादी क्षणिकवाद को परमार्थ में भी घसीट ले जाते हैं और इस प्रकार अपने दर्शन को दुष्ट बना कर स्वयं को खण्डन का पात्र बनाते हैं।

उपनिषद् ने संसार की क्षणभङ्गरता और दुःख को देखा। नचिकेता ने धन, धान्य, समृद्धि, भूमि, स्त्री, पुत्र, पौत्र, वाहन, नृत्य और गीत आदि मोहक वस्तुओं को, यहाँ तक ही सुदीर्घजीवन तक को, उपेक्षापूर्वक लात मार दी। सांसारिक समृद्धि से मोहित न होने वाली मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से यही कहा —उसे लेकर मैं क्या करूँगी, जो मुझे अमर नहीं बना सकता? भगवान् बुद्ध भी संसार के दुःख, दैन्य, रोग, जरा, मृत्यु आदि से क्षुब्ध हुये और असार संसार की क्षणभंगुरता को देख कर ही उन्होंने कहा—

(१) ऊपर प० १२६

'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः'; किन्तु क्षणिकता 'संस्कारों' तक ही सीमित रही, 'असंस्कृत' अर्थात् उत्पत्ति-स्थिति-नाश-रहित परमार्थ उससे अस्पृष्ट रहा। हीनयानियों ने आवेश में आकर प्रत्येक वस्तु को, असंस्कृत परमार्थ तक को, क्षणिक कह दिया। 'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' को सुगत का सिंहनाद कहनेवाले हीनयानी इस बात को भूल गये कि स्वयं सुगत ने ही यह भी कहा था कि—हे भिक्षुओ ! जात, मृत, कृत और संस्कृत पदार्थ अपनी सत्ता के लिये अजात, अमृत, अकृत, और असंस्कृत परमार्थ की अपेक्षा रखते हैं। (१) वे यह भी भूल गये कि स्वयं सुगत ने ही अपनी बोधि को 'मध्यमा प्रतिपत्' कहा था जो वस्तुतः सब बुद्धि-विकल्पों से, जिनमें क्षणिक और नित्य भी सम्मिलित हैं, ऊपर है। वे यह भूल गये कि सुगत ने मौन रहकर तत्त्व को अनिर्वचनीय बतलाया था। वे यह भूल गय कि बुद्ध-मौन का आशय था कि तत्त्व को अनिवर्चनीय होने के कारण, न तो क्षणिक कहा जा सकता है और न नित्य, किन्तु व्यवहार दशा में, तत्त्व का विवेचन अनिवार्य होने के कारण, संस्कृत धर्मों को क्षणिक और उनके अधिष्ठानभूत तत्त्व को नित्य कहना ही योग्य है।

अश्वघोष ने यह सब समझा और संस्कृत धर्मों को अनित्य तथा परमार्थ को नित्य बताया। शून्यवाद ने भी 'स्वभाव-शून्य' धर्मों को क्षणिक तथा 'प्रपञ्च-शून्य' तत्त्व को नित्य माना। विज्ञानवाद के आचार्य असंग और वसुबन्ध ने भी संस्कारों को क्षणिक और विज्ञप्तिमात्र को नित्य कहा। अतः इन सबके दर्शनों में क्षणभङ्गवाद का कोई विशेष महत्त्व नहीं। संसार की वस्तुओं को तो सभी दर्शन अनित्य मानते हैं।

स्वतन्त्रविज्ञानवादियों ने हीनयान के क्षणिकवाद को बौद्धदर्शन का सर्वस्व समझकर उसका नवीन और परिमार्जित एवं सुसंशोधित संस्करण निकाला। चन्द्रकीर्ति और शङ्कराचार्य ने इसके टुकड़े टुकड़े कर दिये। स्वतन्त्रविज्ञानवादियों के क्षणभंगवाद का और उसके युक्तिसंगत खण्डन का हम विशद विवेचन कर चुके हैं।

---

(१) ऊपर पृ० २०

बौद्ध और वेदान्त दर्शन का संक्षिप्त इतिहास:—समस्त भारतीय दर्शनों की जननी भगवती श्रुति है। छठीं शताब्दी ई० पू० में भगवान् बुद्ध ने कोई अभूतपूर्व नवीन दर्शन की स्थापना नहीं की। वैदिक कर्मकाण्ड की हिंसा और जातिबन्धन के अत्याचार उन्हें रुचिकर न लगे। ब्राह्मणों के अनाचारों से उन्हें घृणा थी, ब्राह्मणों से नहीं। बुद्ध ब्राह्मणों के लिये श्रद्धा और आदर सूचक शब्दों का प्रयोग करते हैं। कर्म से ब्राह्मण होता है, जाति से नहीं। जिसने पापों का क्षय कर दिया हो, जिसने अविद्या को दूर कर दिया हो और जो ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा हो, उसे बुद्ध ब्राह्मण कहते हैं। (१) बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पादचक्र की प्रथम कड़ी और संसार की जननी अविद्या को दुखः का मूल कारण मानते हैं। इसी से अहंकार और ममकार का प्रादुर्भाव होता है। क्षणिक सांसारिक पदार्थों के प्रलोभन को छोड़ कर विशुद्ध ज्ञान द्वारा अविद्या को नष्ट कर बुद्धत्व की प्राप्ति करना जीवन का मुख्य उद्देश्य है।

बुद्ध-वचनों में कोई ऐसी बात नहीं थी जो श्रुतिसिद्धान्तविरुद्ध होती। किन्तु बुद्ध-निर्वाण के बाद हीनयानियों ने बुद्ध-वचनों को अन्यथा समझ कर उन पर अपने कल्पित सिद्धान्तों के प्रासाद खड़े कर लिये। नैरात्म्य-वाद और क्षणभङ्गवाद के अयुक्त अर्थ लगा कर उन्होंने आत्मा को क्षणिक विज्ञानों का सन्तान और जगत् को क्षणिक वेदनाओं का संघात बना दिया।

कालान्तर में कुछ विचारक बौद्ध इस निर्णय पर पहुंचे कि हीनयान के विरोध बुद्ध-वचनों में नहीं है, अपितु हीनयानियों की कल्पना हैं। उन्होंने स्वयं को महायानी कहना प्रारंभ किया और दूसरों को हीनयानी। हीनयानी श्रावकों व प्रत्येकबुद्धों को भगवान् बुद्ध ने साधारण बातें बताईं और अपना वास्तविक दर्शन-सिद्धान्त महायानी बोधिसत्त्वों को समझाया। इसी समय कुछ प्राचीन महायान-सूत्रों की रचना हुई।

---

(१) सुत्तनिपात, ३५

ईसा की प्रथम शताब्दी में अश्वघोष हुये। उन्होंने बौद्ध मत को उपनिषद् के प्रकाश में देखा और महायान को पुष्ट किया।

महायान-सूत्रों के विचारों को सुसम्बद्ध करने वाले और शून्यवाद या माध्यमिक दर्शन को एक सुदृढ़ दार्शनिक सम्प्रदाय का रूप देने वाले तथा अपने मौलिक, नूतन और अकाट्य प्रमाणों से दर्शन में युगान्तर उत्पन्न करने वाले आचार्य नागार्जुन द्वितीय शतक में हुए। उन्होंने और उनके योग्य शिष्य आर्यदेव ने बौद्ध दर्शन को वेदान्त के समीप ला दिया।

चतुर्थ शतक में आचार्य असंग और वसुबन्धु हुए। शून्यवाद के समान उन्होंने भी परमार्थ को प्रपञ्चशून्य, निरभिलाप्य और बुद्धिविकल्पातीत स्वीकार किया और इसे विशुद्धविज्ञानस्वरूप माना। इस प्रकार विज्ञानवाद बौद्ध दर्शन को वेदान्त के और अधिक समीप ले आया।

पञ्चम शतक में हुए आचार्य दिङ्नाग। उस समय ब्राह्मण दर्शन का पुनरुत्थान हो रहा था और ब्राह्मणों तथा बौद्धों में द्वेष बढ़ने लग गया था। वसुबन्धु का बौद्ध दर्शन को वेदान्त से मिला देना दिङ्नाग को अरुचिकर लगा। बौद्ध दर्शन को वेदान्त से पृथक् करने की धुन में दिङ्नाग ने हीनयान की शरण ली और क्षणिकवाद को नवीन रूप देकर उसे परमार्थ पर भी लागू कर दिया। "द्वितीय बुद्ध" कहलाने वाले आचार्य वसुबन्धु के गौरव और यश के आगे उनके प्रशिष्य दिङ्नाग को वसुबन्धु पर साक्षात् दोषारोपण करने का साहस नहीं हुआ। अतः दिङ्नाग ने ऊपर से वसुबन्धु का गुणगान करते हुये और यह कहते हुये कि हम आचार्य वसुबन्धु के ही चरण-चिन्हों पर चल रहे हैं, वास्तव में वसुबन्धु के दर्शन की जड़ काट दी। वसुबन्धु के नित्य विज्ञानमात्र को उन्होंने क्षणिक स्वलक्षण में परिवर्तत करके विज्ञानवाद पर सौत्रान्तिकवाद का पुट दिया और स्वतन्त्रविज्ञानवाद की स्थापना करके बौद्ध न्याय का विकास किया। नैयायिक और मीमांसक आदि का खण्डन करके बौद्ध न्याय को विकसित करने में कोई हानि नहीं थी। यह तो भारतीय न्यायशास्त्र में एक गौरव की वस्तु थी। किन्तु दिङ्नाग को अपने न्याय को व्यव-

हार तक ही सीमित रखना चाहिये था। उनकी सबसे बड़ी ग़लती विशुद्ध विज्ञान रूप तत्त्व तक को क्षणिक बना देना थी। और यह बौद्ध दर्शन के पतन का कारण सिद्ध हुई क्योंकि इसने बौद्ध और वेदान्त दर्शनों के बीच एक गहरी खाई खोद दी जिसे पाटने वाला कोई बौद्ध न जनमा।

षष्ठ शतक में अद्वैत वेदान्त को सुव्यवस्थित दर्शन का रूप देनेवाले गौडपादाचार्य हुये। उन्होंने स्पष्ट रीति से उपनिषद् का आश्रय लिया और वेदान्त का विकास किया। नागार्जुन और वसुबन्धु का उन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। नागार्जुन और गौडपाद के भावों में ही नहीं किन्तु कहीं कहीं भाषा तक में साम्य है। इसका यह अर्थ नहीं है कि गौडपाद ने नागार्जुन की चोरी की। इसका अर्थ यह है कि गौडपाद के समय में वह दार्शनिक भाषा प्रचलित थी। भाषा के पारिभाषिक शब्द, साहित्यिक उक्तियाँ और दार्शनिक पद किसी सम्प्रदायविशेष की निजी सम्पत्ति नहीं हो सकते। कोई दर्शनविशेष इनके प्रयोग का ठेका नहीं ले सकता। ये संस्कृत भाषा की देन हैं और प्रत्येक दार्शनिक जो संस्कृत भाषा को अपनाता है इनका उत्तराधिकारी है। गौड-पादाचार्य पर—और उनके कारण उनके प्रशिष्य शंकराचार्य पर भी—प्रच्छन्न बौद्ध होने का "लाञ्छन" लगाया जाता है। किन्तु जब बौद्ध और वेदान्त दर्शन एक ही विचारधारा के विकास के विभिन्न रूप हैं तो इसे 'लाञ्छन' कैसे कहा जा सकता है ? यदि 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहने का अभिप्राय है कि गौडपाद वास्तव में बौद्ध थे और ऊपर से वेदान्ती बनते थे, तो यह कथन वज्रमूर्खता है। यदि इसका अर्थ है कि गौडपाद के दर्शन पर बौद्ध दर्शन का पर्याप्त प्रभाव है तो यह ठीक है। जो शून्यवादी और विज्ञानवादी गौडपाद के पूर्वकालिक थे उनका प्रभाव उन पर पड़ना स्वाभाविक ही है। क्या कोई चेतन व्यक्ति आज भी यह कहने की धृष्टता कर सकता है कि उस पर उसके पूर्वजों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है ! किन्तु 'प्रच्छन्न' कहना ठीक नहीं। जिस प्रकार वेदान्तियों को 'प्रच्छन्न-बौद्ध' कहा जाता है, उसी प्रकार बौद्धों को भी 'प्रच्छन्न-वेदान्ती' कहा जा सकता है। 'प्रच्छन्न' शब्द का प्रयोग बौद्ध और वेदान्त दर्शन को दो विरुद्ध दर्शन समझने की भ्रान्ति के कारण है और

इस भ्रान्ति पर हमने कुठाराघात किया है। प्रत्येक बौद्ध प्रकट वेदान्ती है और प्रत्येक वेदान्ती प्रकट बौद्ध है। बौद्ध और वेदान्त दर्शनों की जननी श्रुति है; दोनों ने इसी माता का स्तनपान किया है; दोनों एक ही केन्द्रीय विचार की छत्रछाया में पल कर बड़े हुये हैं; दोनों एक ही मत के पोषक रहे हैं; दोनों एक ही दर्शन के विकास के विभिन्न रूप हैं; और इतना होने पर भी जब बौद्ध वेदान्ती को 'तीर्थिक' और वेदान्ती बौद्ध को 'बाह्य' कहते हैं तो इससे बढ़ कर महान् आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है!

गौडपादाचार्य में नागार्जुन और वसुबन्धु की श्रेष्ठता का सामञ्जस्य है। जब बौद्ध अपने आपको वेदान्त से भिन्न एक दूसरे ही बुद्ध-स्थापित कल्पित सम्प्रदाय के अनुयायी मानने लगे तो गौडपादाचार्य ने उन्हें बताया कि बौद्ध और वेदान्त दर्शन परस्पर विरुद्ध न होकर एक ही उपनिषद्-दर्शन के विकास के विभिन्न रूप हैं। गौडपादाचार्य की निष्पक्षता सराहनीय और उनकी महत्ता अक्षुण्ण है। बुद्ध के प्रति वे आदर और बौद्धों के प्रति प्रेम तथा भ्रातृ-भाव प्रकट करते हैं। उन्होंने बौद्धों के प्रति मित्रता का हाथ बढ़ाया किन्तु-दुर्भाग्यवश बौद्धों ने उसे ग्रहण नहीं किया।

भावविवेक या भव्य जो गौडपाद के समकालीन थे अपनी 'तर्कज्वाला' में गौडपादाचार्य की कारिका उद्धृत करते हैं औरउ नसे अपना मतैक्य प्रकट करते हैं। भावविवेक पहले बौद्ध हैं जो गौडपाद की निष्पक्षता को सहर्ष स्वीकार करते हैं। किन्तु भावविवेक ने दिङ्नाग द्वारा खोदी हुई बौद्ध और वेदान्त दर्शनों के बीच की खाई को पाटने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उलटे उन्होंने दिङ्नाग का अनुकरण करके एक स्वतन्त्र-माध्यमिक मत की स्थापना की जिसने शून्यवाद को स्वतन्त्र युक्तियों से पुष्ट करना चाहा और जिसका बुद्ध-पालित के प्रासंगिक-माध्यमिक मत ने और चन्द्रकीर्ति ने खण्डन किया।

सप्तम शतक ने आचार्य चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव जैसे शून्यवादियों को एवं धर्मकीर्ति जैसे स्वतन्त्रविज्ञानवादी को तथा कुमारिल जैसे मीमांसक को जन्म दिया। उस समय ब्राह्मण धर्म, दर्शन और संस्कृति का प्रबल उत्थान हो

रहा था और बौद्ध तथा ब्राह्मण दर्शनों में विरोध बढ़ रहा था। बौद्ध तन्त्र का प्रचार था और वह तन्त्र दुर्भाग्यवश वाम-मार्ग का अनुसरण कर रहा था। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों के कारण बौद्ध धर्म प्रभावशाली धनिक वर्ग द्वारा उपेक्षित होता जा रहा था। बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियाँ चरित्र से गिरते जा रहे थे और बौद्ध विहारों तथा मठों में भ्रष्टाचार बढ़ रहा था। ऐसे समय में बौद्ध और ब्राह्मण दर्शनों का सामञ्जस्य करने वाले महान् बौद्ध दार्शनिक की आवश्यकता थी। महान् बौद्ध दार्शनिक तो हुये, किन्तु वे बौद्ध और ब्राह्मण दर्शनों का विरोध बढ़ानेवाले ही हुये, उनका सामञ्जस्य करनेवाले नहीं।

चन्द्रकीर्ति ने भावविवेक के स्वतन्त्र-माध्यमिक मत का और दिङ्नाग के स्वतन्त्र-विज्ञानवाद का प्रबल विरोध किया। किन्तु वे गौडपाद की निष्पक्षता को न अपना सके। यद्यपि गौडपादाचार्य और नागार्जुन में पर्याप्त साम्य था तथापि चन्द्रकीर्ति ने गौडपाद की पूर्ण उपेक्षा की और कहीं उनका नाम तक न लिया। शान्तिदेव ने भी बोधिचित्त की प्रशंसा के पुल तो बाँधे किन्तु बौद्ध और वेदान्त दर्शन की खाई को पाटने का प्रयत्न नहीं किया।

उस समय को वसुबन्धु जैसे विज्ञानवादी की नितान्त आवश्यकता थी, किन्तु उत्पन्न हुये धर्मकीर्ति जैसे स्वतन्त्रविज्ञानवादी जिन्होंने दिङ्नाग की खोदी हुई खाई को और विस्तृत करने में ही अपना गौरव समझा। नैयायिक और मीमांसक उस समय बौद्ध दर्शन के कट्टर शत्रु थे। धर्मकीर्ति ने दोनों का ही प्रबल खण्डन किया। ऐसा करना तो कोई प्रबल पाप नहीं था। शङ्कराचार्य और सुरेश्वराचार्य आदि वेदान्तियों ने भी ऐसा किया। किन्तु धर्मकीर्ति जैसे धुरंधर विद्वान को चाहिये था कि वे विज्ञानमात्र को नित्य बताकर आचार्य वसुबन्धु के दर्शन को पुनर्जीवित करते, न कि क्षणिकवाद को घसीट कर परमार्थ में ले जाते जैसा उन्होंने किया। यदि धर्मकीर्ति बौद्ध और वेदान्त दर्शनों का सामंजस्य कर देते तो बौद्ध धर्म को अपनी जन्मभूमि से उखड़ना न पड़ता।

धर्मकीर्ति के आक्षेपों का खण्डन करने के लिये मीमांसक कुमारिल ने अपना बृहत् श्लोकवार्तिक बनाया। वास्तव में कुमारिल ही प्रथम महान् दार्शनिक हैं जिन्होंने बौद्ध दर्शन पर प्रबल प्रहार करके उसकी नींव हिला दी।

नैयायिकों और मीमांसकों के इन प्रहारों से बौद्ध दर्शन की रक्षा करने के लिये महान् बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशील ने अष्टम शतक में जन्म लिया। दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के समान शान्तरक्षित और कमलशील भी ऊपर से तो यही कहते रहे कि वे परमार्थ के मार्ग में आचार्य वसुबन्धु के चरण-चिह्नों पर चल रहे थे, (१) किन्तु वास्तव में उन्होंने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का अनुकरण किया और बौद्ध-वेदान्त-दर्शन-विरोध की वृद्धि की। वे स्वीकार करते हैं कि बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन में बहुत कम अन्तर है और वेदान्त का अल्प अपराध इतना ही है कि वह विज्ञान को नित्य मानता है। (२) वेदान्त उनके द्वारा किये गये अन्य मतों के खण्डनों को बहुत कुछ मानता है, किन्तु उनके क्षणिक विज्ञान का प्रबल खण्डन करता है। क्षणिकवाद का परिणाम बौद्ध दर्शन के लिये बड़ा भयंकर निकला।

उस समय बौद्ध-ब्राह्मण-विरोध ने इतना उग्र रूप ले लिया था कि शायद शान्तरक्षित और कमलशील बौद्ध और वेदान्त दर्शन के सामञ्जस्य का स्वप्न भी न देख सकते थे। ऐसे महान् दार्शनिकों में भी शास्त्रार्थ में युक्तियों के साथ गालियाँ भी प्रयुक्त होने लग गई थीं। उदाहरणार्थ, मीमांसक कहते थे: बुद्ध का मूर्खों, स्त्रियों और शूद्रों को उपदेश देना ही इस बात का प्रमाण है कि उनका मत नकली सिक्के के समान झूठा है। (३) जिस प्रकार नकुल के दाँतों से स्पृष्ट किसी भी जड़ी बूटी को लगाने से सर्प का विष उतर जाता है उसी प्रकार वेद के उपासक ब्राह्मण के मुख से निकली हुई कोई भी युक्ति

(१) ऊपर पृ० १२८
(२) ऊपर पृ० १२०
(३) तत्त्वसंग्रह का० ३२२७

बौद्धरूपी सर्प के ज्ञानरूपी विष को नष्ट कर देने के लिये पर्याप्त है। (२) और बौद्ध उत्तर देते थे : इन ब्राह्मणों को अपनी जाति का इतना मिथ्याभिमान क्यों है ? इनकी शुद्धता का कोई प्रमाण नहीं क्योंकि समय बहुत व्यतीत हो गया है और स्त्रियाँ स्वभाव से ही अविश्वसनीय और चल-चारित्र होती हैं। (३) निर्बल और जड ब्राह्मण के तो बौद्ध-सर्प के दर्शनमात्र से प्राण निकल जाते हैं, उसका बाध करने का साहस बिचारे ब्राह्मण में कहाँ ? वेद के उपासक ब्राह्मण के मुख में साध्वी युक्ति भी जघन्य बन जाती है, जिस प्रकार चरण में पहनी हुई कण्ठी या हार शोभित नहीं होता। (४)

इन सबका परिणाम यह हुआ कि बौद्ध मत को अपनी जन्मभूमि से उखड़ना पड़ा। शान्तरक्षित को स्वयं तिब्बत जाना पड़ा जहाँ उन्होंने अपने शिष्य कमलशील को भी बुला लिया। और उनके साथ ही भारत में बौद्ध दर्शन भी प्रायः समाप्त हो गया, यद्यपि उनके बाद भी काफ़ी समय तक इधर उधर कुछ बौद्ध विद्वान् विद्यमान रहे।

उसी अष्टम शतक में शान्तरक्षित के बाद शङ्कराचार्य हुये। उन्होंने बौद्ध दर्शन को, जो अन्तिम साँसें गिन रहा था, समाप्त कर दिया। हम बता चुके हैं कि शङ्कराचार्य पर भी बौद्ध दर्शन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था।

---

(२) यथा नकुलदन्ताग्रस्पृष्टा या काचिदोषधिः।
सर्वं सर्पविषं हन्ति क्रीडद्भिरपि योजिता ।।
वेदवादिमुखस्थैवं युक्तिर्लौकिकवैदिकी।
या काचिदपि शाक्यादिसर्पज्ञानविषापहा ।।—वहीं का ३१५५-६

(३) वहीं ३५७६

(४) दृग्विषैरिह दष्टोऽपि स्वल्पशक्तिर्द्विजो जडः।
उच्छ्वासमपि नो कर्तुं शक्नोति किम् बाधितुम् ।।
वेदवादिमुखस्था तु युक्तिः साध्व्यपि दुर्भगा।
कण्ठिका चरणस्थेव जघन्याश्रयसंस्थितेः ।।—वहीं का ३३७६-७

शून्यवाद और वास्तविक विज्ञानवाद का वे खण्डन नहीं करते। महायान मत में केवल स्वतन्त्रविज्ञानवाद का ही वे खण्डन करते हैं। हो सकता है कि पारस्परिक वैमनस्य के कारण बौद्ध अपने ग्रन्थ ब्राह्मणों को न बताते रहे हों। कहा जाता है कि कुमारिल भट्ट बौद्ध दर्शन का अध्ययन करने के लिये स्वयं बौद्ध बन कर वर्षों तक किसी बौद्ध विहार में रहे थे। अतः सम्भव है कि शङ्कराचार्य को बौद्ध ग्रन्थ—महायान ग्रन्थ—उपलब्ध न हो सके हों और इसलिये उन्होंने असली शून्यवाद और विज्ञानवाद का खण्डन न किया हो। किन्तु जब हम यह देखते हैं कि शङ्कराचार्य ने हीनयान और स्वतन्त्रविज्ञानवाद को ठीक ठीक रूप में पूर्वपक्ष में रक्खा है और जब हम यह सोचते हैं कि शङ्कराचार्य के परम गुरु गौडपादाचार्य थे, तो यह विचार युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। शङ्कराचार्य जानते थे कि शून्यवाद और वास्तविक विज्ञानवाद वेदान्त दर्शन की पूर्वभूमि है और गौडपादाचार्य के तथा स्वयं उनके दर्शन में उसके सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। किन्तु स्वतन्त्र-विज्ञानवाद ने जो खाई खोद दी थी उसे पाट देना उन्हें अभीष्ट नहीं था। उन्हें तो बौद्ध मत को समाप्त करना था। अतः शङ्कराचार्य ने शून्यवाद को 'शून्य' कह कर और विज्ञानवाद को स्वतन्त्रविज्ञानवाद के अर्थ में लेकर साफ़ टाल दिया। हीनयान और स्वतन्त्रविज्ञानवाद की, जो उनके दर्शन से विरुद्ध पड़ते थे, उन्होंने धज्जियाँ उड़ा दीं।

अधिकतर शङ्करोत्तर वेदान्तियों ने भी अपने आचार्य का अनुकरण किया और बौद्धदर्शन के खण्डन में उन्ही की युक्तियों का पिष्टपेषण किया। बौद्ध धर्म के भारत से उखड़ जाने के बाद, कई कई वर्षों बाद, जब विरोध शान्त हो गया और लोगों में निष्पक्षता आई, तब दुर्भाग्यवश बौद्ध-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं रहे। फिर भी कई शंकरोत्तर वेदान्ती कहने लगे कि यदि शून्यवाद 'असत्' का प्रतिपादन नहीं करता और यदि विज्ञानवाद 'क्षणिक विज्ञानों' का प्रतिपादन नहीं करता, तो उनसे उन्हें कोई विरोध नहीं। अद्वैत वेदान्त में ही श्रीहर्ष जैसे विद्वान् भी हुये जिन्होंने मुक्तकण्ठ से बौद्ध दर्शन की प्रशंसा की और उसका वेदान्त से साम्य बताया।

इस बीसवीं शताब्दी में बौद्ध मत अपनी जन्मभूमि में पुनर्जीवित हो रहा है। कुछ पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वानों ने बौद्ध दर्शन के लुप्त ग्रन्थों को खोज कर उन्हें प्रकाशित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है और इस दिशा में अभी पर्याप्त प्रयत्न की आवश्यकता है। किन्तु फिर भी बौद्ध दर्शन को अन्यथा समझने के जो कुसंस्कार अभी तक चले आ रहे हैं वे नष्ट नहीं हुये हैं। हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्हें नष्ट कर देने का प्रयत्न किया है। बौद्ध और वेदान्त दर्शनों को दो विरुद्ध दर्शन समझना बड़ी भारी भूल है। ये दोनों एक ही विचार धारा के विकास के विभिन्न रूप हैं। आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा बौद्ध और वेदान्त दर्शन के सम्यक् अध्ययन में पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा और लेखक का परिश्रम सफल होगा।

———

मूल ग्रन्थावली

बौद्ध ग्रन्थावली

पालि तिपिटक : पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लंदन

सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र : प्रो० एच० कर्न और बी० नानजियो द्वारा सम्पादित; बिब्लिओथेका बुद्धिका १०, पीटर्सबर्ग, १९०८

लङ्कावतार सूत्र : सम्पादक बी० नानजियो, क्योटो, १९२३,

ललितविस्तर : सम्पादक डा० लेफ़मान, हॉल, १९०२,

शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता : सम्पादक पी० घोष, एशियाटिक सोसाइटी ऑव बेंगाल; कलकत्ता, १९०२

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता : वहीं

वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता : सम्पादक मेक्समूलर, ऑक्सफर्ड, १८८१

सुवर्णप्रभास सूत्र : बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स

समाधिराज सूत्र (अपूर्ण) : ''

दशभूमिक सूत्र : सम्पादक डा० जे० रेहडर, पैरिस, १९२६

सुखावतीव्यूह : सम्पादक मेक्समूलर और नानजियो ऑक्सफर्ड, १८८३

नैरात्म्यपरिपृच्छा : सम्पादक प्रो० सिलवान लेवी, जर्नल एशियाटिक, १९२८

राष्ट्रपालपरिपृच्छा : सम्पादक एल० फ़िनो, बिब्लिओथेका बुद्धिका, १९०१

माइनर टिबेटन टेक्स्ट : बिब्लिओथेका इंडिका, कलकत्ता, १९१९

अश्वघोष : सौन्दरनन्द काव्य (सम्पादक, म० म० हरप्रसाद शास्त्री, कलकत्ता, १९१०)

'' : बुद्धचरित काव्य (सम्पादक ई० बी० कॉवेल, ऑक्सफर्ड, १८९३

अश्वघोष	: महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र (लुप्त) का चीनी अनुवाद से कृत आंग्लभाषानुवाद 'दि अवेक्निंग ऑव फ़ेथ इन महायान' अनुवाद टी० सुजुकी, शिकागो, १६०० अनुवादक टी रिचार्ड शंघाई, १९०७,
नागार्जुन	: मूलमाध्यमिककारिका (सम्पादक प्रो० पूसीं, पीटर्सबर्ग १९०३)
,,	महायानविंशक (सम्पादक म० म० विधुशेखर भट्टाचार्य, कलकत्ता, १६३१)
,,	: रत्नावली (सम्पादक जी० टुच्ची, जर्नल ऑव दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, अप्रेल १९३४ और अप्रेल १६३६)
,,	: विग्रहव्यावर्त्तनी (सम्पादक पं० राहुल सांकृत्यायन; जर्नल आव विहार ओरीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना, अंक २३, सन् १६३७)
,,	: भवसंक्रान्तिसूत्र (टिबेटन और चीनी अनुवादों की सहायता से संस्कृत में रचित; रचयिता पं० एन० अय्या स्वामी शास्त्री, अडयार लाइब्रेरी, १९३८)
आर्यदेव	: चतुःशतक (प्रकरण ८ से १६ तक; सम्पादक और लुप्त कारिकाओं के रचयिता प्रो० पी० एल० वैद्य पेरिस, १९२३)
,,	: चतुःशतक (८ से १६ तक; सम्पादक और लुप्त कारिकाओं के रचयिता एवं प्र० ७ के रचयिता पं० विद्युशेखर भट्टाचार्य, कलकत्ता

आर्यदेव	: चतुःशतक के कुछ स्थल (पं० हरप्रसाद शास्त्री, मेमोयर्स ऑव द एशियाटिक सोसाइटी ऑव बेंगाल, अंक ३, नं० ८, १९१४)
,,	: चित्तविशुद्धिप्रकरण (सम्पादक पं० हरप्रसाद शास्त्री, जर्नल ऑव एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, १८९८)
,,	: हस्तबालप्रकरण (?) (सम्पादक एफ डब्ल्यू टॉमस और एच० व ई, जे० आर० ए० एस०, १९१८
चन्द्रकीर्ति	: प्रसन्नपदा माध्यमिकवृत्ति (सम्पादक प्रो० पूसीं, पीटसबर्ग, १९०३)
,,	: मध्यमकावतार (षष्ठ परिच्छद) (टिबेटन अनुवाद से संस्कृत में अनूदित, (प० अय्या स्वामी शास्त्री, जर्नल ऑव ओरियेन्टल रिसर्च, मद्रास, १९२९–१९३३)
,,	: चतुःशतकवृत्ति के कुछ स्थल (टिबटन अनुवाद से संस्कृत में अनूदित, पं० वि० शे० भट्टाचार्य)
शान्तिदेव	: बोधिचर्यावतार (सम्पादक प्रो० पूसां, १९०२)
,,	: शिक्षासमुच्चय
प्रज्ञाकरमति	: बोधिचर्यावतारपञ्जिका (सं० प्रो० पूसीं १९०२)
असङ्ग	: महायानसूत्रालङ्कार (सं० प्रो० सि० लेवी, पेरिस, १९०७
,,	: बोधिसत्त्वभूमि (दशभूमिकसूत्र के अन्त में प्रकाशित)

वसुबन्धु : विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि विंशतिका स्वभाष्य सहित (सं० प्रो० सि० लेवी, पेरिस, १९२५)

" विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि त्रिंशिका (स्थिरमति-भाष्य सहित) (सं० प्रो० लेवी, पेरिस, १९२५)

" अभिधर्मकोश (सम्पादित व अनूदित; पं०राहुल सांकृत्यायन, बनारस, १९३१)

" : त्रिस्वभावनिर्देश (अनूदित; एस० मुखोपाध्याय, विश्वभारती, कलकत्ता, १९३९)

मैत्रेयनाथ : मध्यान्तविभाग (टीकासहित) (सं० एस० यामागूची, नगोया, १९३४)

दिङ्नाग : फ्रेग्मेन्ट्स फ्रॉम दिङ्नाग (सं० एच० एन० रेन्डल, रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन, १९२६)

" : प्रमाणसमुच्चय (प० १) अनूदित; एच० आर० रंगस्वामी अय्यंगर, मैसूर विश्वविद्यालय १९३०)

" : आलम्बनपरीक्षा (अनूदित; एन० अय्यास्वामी शास्त्री, अडयार लाइब्रेरी, १९४२)

धर्मकीर्ति : न्याय बिन्दु (सं० पी० पीटरसन, कलकत्ता १८८९)

" : प्रमाणवार्तिक (सं० पं० राहुल सांकृत्यायन, जे० बी० ओ० आर० एस० अंक २४,१९३८)

" : प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति (सं० पं० राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद,१९४३)

" : वादन्याय (शान्तरक्षित कृत टीकोपेत) (सं० पं० राहुल सांकृत्यायन, जे० बी०ओ० आर० एस०, अंक २१-२२, १९३५-१९३६)

मनोरथनन्दी : प्रमाणवार्तिकवृत्ति (सं० पं० राहुल सांकृत्यायन, जे० बी० ओ० आर० एस०, अंक २४-२६, १९३८-१९४०)

धर्मोत्तर : न्यायबिन्दुटीका (सं० पी० पीटरसन, कलकत्ता, १८८९)

शान्तरक्षित : तत्त्वसंग्रह (सं० पं० ई० कृष्णमाचार्य, गायकवाड़ ओरियेन्टल सीरीज़, बड़ौदा, १९२६)

कमलशील : तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (")

वेदान्त-ग्रन्थावली

एकादश उपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर

भगवद्गीता : "

गौडपादाचार्य : माण्डूक्यकारिका (गीताप्रेस, गोरखपुर)

" : दि आगम शास्त्र ऑव गौडपाद (सं० म० म० वि० शे० भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९४३)

शङ्कराचार्य : शारीरकभाष्य (सं० वा० ल० शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२७

" : ईश-भाष्य (गीताप्रेस, गोरखपुर)

" : प्रश्न-भाष्य (")

" : केनभाष्य (")

" : कठभाष्य (")

" : मुण्डकभाष्य (")

" : माण्डूक्यभाष्य (")

" : तैत्तिरीयभाष्य (")

" : ऐतरेयभाष्य (")

शङ्कराचार्य	: छान्दोग्य भाष्य गीता प्रेस, गोरखपुर।
"	: बृहदारण्यकभाष्य (")
"	: श्वेताश्वतरभाष्य (")
"	: माइनर वर्क्स ऑव शंकराचार्य भाग १व२ (अष्टेकर कम्पनी, पूना)
मण्डन मिश्र	: ब्रह्मसिद्धि (सं० म० म० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री, मद्रास, १९३७)
सुरेश्वराचार्य	: नैष्कर्म्यसिद्धि (सं० प्रो० एम० हिरियन्ना, बम्बई, १९२५)
"	: बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक
पद्मपादाचार्य	: पञ्चपादिका (सं० राम शास्त्री, बनारस, १८९१)
प्रकाशात्मा	: पञ्चपादिकाविवरण (सं० राम शास्त्री, बनारस, १८९२)
विमुक्तात्मा	: इष्टसिद्धि (सं० प्रो० एम० हिरियन्ना, बड़ौदा, १९३३)
श्रीहर्ष	: खण्डनखण्डखाद्य (सं० पं० चण्डीप्रसादशुक्ल; अच्युत कार्यालय बनारस,)
"	: नैषधचरित (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई)
चित्सुखाचार्य	: खण्डनखण्डखाद्यटीका (बनारस)
"	: तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९३१)
मधुसूदन सरस्वती	: अद्वैतसिद्धि (बम्बई)
वाचस्पति मिश्र	: भामती (निर्णय सा० प्रे०, बम्बई)
अमलानन्द	: कल्पतरु (")
अप्पय दीक्षित	: परिमल (")
"	: सिद्धान्तलेशसंग्रह (अच्युत कार्यालय बनारस)

सर्वज्ञातममुनि	: संक्षेपशारीरक
विद्यारण्य	: पञ्चदशी
”	: बृहदारण्यकवार्तिकसार (अच्युत कार्यालय, बनारस)
”	: विवरणप्रमेयसंग्रह (”)
आनन्द ज्ञान	: तर्कसंग्रह (संपादक श्री त्रिपाठी)
प्रकाशानन्द	: वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली (अच्युत कार्यालय, बनारस)
सदानन्द यति	: अद्वैतब्रह्मसिद्धि (कलकत्ता, १८९०)
गङ्गाधरेन्द्र सरस्वती	: स्वाराज्यसिद्धि
सदानन्द	: प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि (अच्युत कार्यालय, बनारस)
नरहरि स्वामी	: बोधसार

———